जपसूत्रम्

१

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी • दिल्ली

श्रीमत् स्वामी प्रत्यागात्मानन्द सरस्वती विरचित कारिका सम्वलित

जपसूत्रम्

(पंचम भाग)

(हिन्दी भाषा मे विस्तारित व्याख्या युक्त)

•

•

अनुवादक

एस. एन. खण्डेलवाल

•

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक

© भारतीय विद्या प्रकाशन

(१) पो० बा० नं. ११०८ कचौड़ी गली, वाराणसी—२२१००१

(२) १, यू. बी. जवाहर नगर, बैंग्लोरोड, दिल्ली—११०००७

प्रथम संस्करण; १९९७ ई०

मूल्य : १०० रु०

मुद्रक

न्यू दीपक प्रेस
राजघाट, वाराणसी

द्वारा

भारतीय विद्या प्रकाशन
कचौड़ी गली, वाराणसी
दूरभाष—३२२३७६

निवेदन

जपमर्यादा तथा अभिविधि को जपविज्ञानी एक सरल रेखा तथा ध्रुवविन्दु कहते हैं। एक निर्दिष्ट अभिविधि का अनुसरण करते चलने पर साधना प्रथमतः परा विन्दु में अभिसम्पन्न होते होते परापारीण परम में समाहित हो जाती है। जपमार्ग में जो मर्यादासुषम है, वह है अमृत (सोम), जो मर्यादाविषम है वही है विष। जप साधक को अभिविधि का आश्रय लेकर इन दोनों के अनुपात वैषम्य तथा प्रतिद्वन्दि भाव को एक समता साम्य में लाना ही होगा। हमारे दैन्दन्दिन जीवन में वेदना तथा पुलक, इन दोनों का अनुभव होता है। परन्तु एक ऐसा गंभीर चेतन धाम अवश्य है, जहाँ ये दोनों परस्परतः विरुद्ध रस, वेदना (विष) तथा पुलक (अमृत), दोनों ही एक समास में स्थित हैं। यह समता साम्य ही जप साधक का अभीप्सित है, साधन जगत् में यही है कैलास धाम। अभिविधि ही किसी भी जपक्रम को उसके उपक्रम अनुक्रमादि रूप में उन्नीत करते हुये इस मर्यादा सीमा कैलास धाम तक पहुँचा देती है।

जप साधना का लक्ष्य है साधक के अन्तः के गंभीर तल में परम प्रवणता को बनाये रखना। उस गंभीर तल में ही 'परम' की बांसुरी बजती रहती है। किन्तु हृल्लेखा पर्यन्त गति के अभाव में यह तल प्राप्त नहीं होता। इसके लिये 'धारा' का आश्रय लेना ही होगा। किसी फल की ओर अभिमुखीन क्रिया की एकमुखी वेगवाही गति ही है 'धारा'। अर्थात् गुरुधारा का आश्रय लेने से ही हृल्लेखा की प्राप्ति होना संभव है। क्योंकि 'परम' है अमूर्त्त अधिष्ठान। 'परम अमूर्त्त अधिष्ठान' निरंजन चिन्मात्र है। उसमें धारणा संभव ही नहीं है। अतः जो परममूर्त्त है, उसके साथ एक अनित्य-अनिर्वचनीय साहित्य में आने के लिये गुरुधारा ही एकमात्र पथ है। गुरुधारा ही परमअमूर्त्त तथा परममूर्त्त के बीच का एक सेतु भी है। सेतु का आश्रय लेकर जीव जन्तु वानरगण भी सागर पार चले जाते हैं।

इस पंचम खण्ड में जप साधना ने परावाक् पर्यन्त आरोहण किया है। शीघ्र ही षष्ठ एवं अंतिम खण्ड के प्रकाशन के साथ-साथ महानामरस का आस्वादन करने का अवसर प्राप्त होगा। यह महानामरस प्राण सागर के मंथन द्वारा सोम सुधा के रूप में प्राप्त होता है। साथ ही साथ ज्योतिर्धाम की अर्गला भी अपावृत हो जाती है।

निवेदक

दीपावली, १९९६ ई०

एस. एन. खण्डेलवाल

विषयनुक्रमणिका

परिशिष्ट

जपसूत्रम्

(पञ्चम भाग)

विश्वकल्प अक्षमाला का मेरु=सूर्यतत्व

ग्रंथ में पहले सूर्य के सम्बन्ध में (तृतीय खण्ड में) कहा जा चुका है, परन्तु उस प्रसंग का समापन नहीं हो सका। 'सूर्यचन्द्रमसौ' में एक मौलिक रहस्यगर्भ युक्त युग्मतत्व सन्निहित है। यह निखिलभुवन एक मूर्त्त महान् जप ही है। बहिर्विश्व में यह परिदृश्यमान छायापथ एक विराट जप की 'आभासिक' अक्षमाला है। इसे अभासिक इस कारण से कहा जा रहा है कि यह Galactical System ही समग्र विराट विश्व नहीं है। यदि इसे एक ब्रह्माण्ड कहें, उस स्थिति में इस विराट विश्व में ऐसे-ऐसे करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। यह विज्ञानसम्मत तथ्य है। इस ब्रह्माण्ड में हमारे सूर्य के समान करोडों-करोड़ों सूर्य देदीप्यमान हो रहे हैं, यह निः-संदिग्ध है। किन्तु जिस सूर्यतत्व के सम्बन्ध में यहाँ पर्यालोचना की जा रही है, उसमें सूर्यतत्व की इस परिच्छिन्न परिभाषा के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। इनमें से कोई भी सूर्य 'आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' नहीं है। फिर भी प्रत्येक सूर्य स्वाधिकार में पूर्वालोचित 'मित्राग्नि' संघात का प्रतीक है। प्रत्येक सूर्य पूर्वोक्त 'आत्मनीन' तथा 'अध्वनीन' मौलिक वृत्ति (Basic function) सामंजस्य-संस्था-पक 'नाभि' आकृति है, जहाँ से शक्ति 'तेजः' आकार में (As Kinetic Energy) 'अर' एवं नेमि (as process paths and as field or sphere) को एक विशिष्ट संस्थान दे रही है अथवा देना चाहती है।

हमने विराट की वार्त्ता यहाँ तक कहकर, इसके सामंजस्य-संस्थापन के प्रयास में किसी ध्रुव संस्था की प्राप्ति अभी तक नहीं की है। सामंजस्य समीकरण (Harmony Equation) अभी भी ध्रुव तथा पूर्ण समाधान प्राप्त नहीं कर सका है। उसमें भी Probability and statistical calculus विद्यमान है। अतः वाह्य विश्व में किसी भी 'शुद्ध' सूर्यतत्व की उपलब्धि (इस वर्णनाक्रम में) नहीं हो सकी है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड में जो महाजप है, उस जप की अक्षमाला अभी भी गणित विद्या के कल्पलोक में ही है। उस कल्पअक्षमाला का 'मेरु' है सूर्यतत्व। विश्व उसी से विधृत है। विश्व कभी भी उसका लंघन नहीं कर सकता।

आणवी अक्षमाला का मेरु=सूर्यतत्व

अणु के विश्व में Nucleus मिला है, अणु भग्न होकर। एक विन्दु के समान सरल स्वभाव से उसका आविर्भाव घटित नहीं हुआ है। उसका विप्लव विवर्तन आदि सरल समीकरण के सरल 'नक्शे' में नहीं होता। अणु के अन्दर की वास्तविक 'नाभि' अभी तक आविष्कृत नहीं हो सकी है। आणवी जपमाला का वह मेरु, जिससे इलेक्ट्रान, प्रोटान आदि समस्त गति विघृत होती रहती है, तथा जिस मेरु की, जिस मेरु के प्रशासन की सुषम एवं विषम गति (Rhythmic or ecentric motion) का लंघन करने का कोई भी साहस नहीं कर सकते, अणु में वही 'एतसैवाक्षरस्य प्रशासने' केन्द्र ही सूर्य है। यही प्राण एवं आदित्य रूप से अणु एवं महान्—ब्रह्म एवं दहर, इन दोनों को एक अद्‌भुत् सन्धि एवं समन्वय में मिला रहा है। शक्ति (Energy) जब तक स्वयं को प्राण पर्याय में लाकर नहीं प्रदर्शित करती, तब तक यह परमाश्चर्य सन्धिसमन्वय बोध तथा बुद्धि में संभावित नहीं होता। प्राण ही स्वयं को बीजकणिका के आकार में घनीभूत करके कहता है "देखो मैं कितना विपुल, विचित्र एवं अद्‌भुत हूँ"। ब्रह्म प्राणरूप होकर आदिजीव हिरण्यगर्भ के रूप में स्थित हो जाते हैं। हिरण्य=परम समंजस घनीभावरूप। यह सत्ता, शक्ति एवं छन्द, इन तीनों का घनीभाव है। यह परम समंजस घनीभाव गर्भ में अथवा नाभि में जब नहीं रहता, तब सृष्टि-स्थिति-लय व्यापार समंजस भाव से अथवा छन्द में साधित ही नहीं हो शकता। तब तक कोई भी Law, system अथवा Equation इसकी अनुवृत्ति में आ ही नहीं सकता। सूर्य ही इस 'हिरण्य' को विशेषतः गर्भित एवं उर्जित करते हैं। यह गर्भित एवं उर्जित हिरण्य विश्व के सभी स्तरों में संकुचत्-प्रसरत् आकृति का आधान करते हैं।

विश्वविधान में हिरण्यरेताः सूर्य

जड़ के देश में हिरण्यरेतस् का आधान जिस आकार को ग्रहण करता है, उसे कहते हैं विधान (Formulation) Energy as Rest mass and Energy as mass in motion—यहीं से स्थिर जड़त्व एवं अस्थिर जड़त्व के नियामक विधान का उद्‌भव होता है। इन सब क्षेत्र में 'हिरण्यरेताः' विधान रूप से अवतीर्ण होकर भी, उन्हें स्वयं किसी न किसी ध्रुव संस्थान (Cosmic Constant) में विघृत करके रखते हैं। Mass तथा Energy का जो समीकरण सूत्र है, उसमें प्रसंख्यान मूर्ति हिरणरेतः स्वयं 'C' आकार में प्रविष्ट रहते हैं। जो समस्त मूल विधान सूत्र उर्जित स्थल में है, उसमें वे 'i' इत्यादि आकार में विश्व के 'जगत्' एवं 'प्रसरत्' भाव का विभावन करते रहते हैं।

विधान तथा आधान—जड़ तथा प्राण में

प्राण के देश में आकर विधान हो जाता है आधान। यह आधान ही हिरण्य-रेतस् का अकुण्ठित-अलुण्ठित रूप है। विधान का जो 'वि' है उसके साथ आधान का 'आ' संहत होकर 'व्याकृत' एवं 'व्याकरण' आकार प्राप्त करता है। प्राण ही व्याकृत होकर प्राण के व्याकरण से हो जाता है 'छन्दः'। जड़ विश्व का विधान होने पर इस प्राणछन्द की छदिरूपता एवं छन्दरूपता हो जाती है। जड़ के मूल विधान में जो 'सम्भाव्यासुर' (Demon of chance, Probability Function) अपना 'आमोल' माँगता है, प्राण की भूमि में, वह अब असुर न होकर हो जाता है 'सुर'! मानो जड़विश्व है कंस का कारागर! Quantum statistics आदि असुरमल्ल हैं उस कारागार के प्रहरी। विद्वान Schrodinger इन सब समीकरणों का कूल-किनारा नहीं पा सका। भारत के 'बोस' ने इनका समाधान करके इन असुरमल्लो को बरखास्त परवाना जारी नहीं किया, बल्कि उनके 'बल' को 'पूरण' कर दिया। यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उनका बल 'पूरा' हुआ, वहीं (उसके आगे नहीं) असुरों के 'अ' कार का क्षरण प्रारंभ हो गया (अर्थात् उनमें असुरत्व की समाप्ति प्रारंभ होने लगी)। वहीं मधुकैटभ दैत्य युगल युद्ध से तुष्ट होकर कहते हैं "वर माँगो, हम तुम्हारे वध्य होंगे"।

कारागार के मल्ल जिसके सम्मुख अपने चरमबल की परीक्षा देंगे, वह तो हैं देवकीनन्दन प्राणगोपाल छन्दोदुलाल। प्राण जब जड़ के क्षेत्र में आकर यह निगूढ़; निपुण युद्ध करता है, वह लड़ाई तो एक अत्यन्त आश्चर्य व्यापार है। एक धूलकण तथा एक बीजकण को आसपास रखकर लक्ष्य करो। हम यहाँ विशेषतः 'प्राणपद' में इस विधानगत एवं आधानगत विभेद की आलोचना करेंगे। विधान का देश मूलतः बन्ध का देखा है। जब तक इस बन्ध की ग्रंथियों का भेदन नहीं हो जाता, तब तक प्राण के इस स्वभावछन्दोमंजीर नृत्य का संधान नहीं मिलता। अतः प्राण का आधाता जो सूर्य है, वह सूर्य तुम्हारी बन्धविधि, संख्या-संख्यान सूत्र के प्रेक्षागृह के पर्दे के पीछे ही प्रतीक्षारत रह जाता है। प्राण वह विश्वरसायन है जो बन्धविधि का लीलायन छन्दोलास्य में करता है। संख्या-संख्यान को सांख्य में परिणत करता है और प्रसंख्यान में समन्वित करता है। संख्या के पूर्वकथित लक्षणों को पुनः स्मरण करो। वैसा करने से यह सब कथा पहेली के समान अबूझ नहीं रह जायेगी।

विश्वविधान का नियामक—संख्या-सख्यान—सांख्य की ओर अभिमुख एकमुखी—

प्राणविज्ञान के बिना सौर विज्ञान हो ही नहीं सकता। प्राण को कलनी तथा फलनी, इन दो रूपों में पहचानना होगा। प्रथम आकृति में है सदा प्रत्यक्षरूप काल।

फलनी में यह है देश। यह काल शून्य धरामात्र है—mere vacum continuity नहीं है। यह देश भी space as vacuity नहीं है। वर्त्तमान विज्ञानविद्या में इन दोनों को मिलाकर विश्वविधि के जिस आधार की परिकल्पना की जाती है, वह आधार प्राण के 'आधान' क्षेत्र में नहीं होता। अतः उस आधार में सूर्य आज भी उदित नहीं हुआ है। फिर भी वह विज्ञान की पश्यन्ती दृष्टि में उदीयमान है। यह निःसंदिग्ध है कि संख्या-संख्यान की विचित्र बहुमुखी रेखायें सांख्य में आते-आते एकमुखी हो जाती हैं। प्राण मन के (इन्द्रियाभास एवं विसम्वादिनी कल्पना) विक्षेपक समूह का निरसन करते-करते विश्वनाभि में स्थिता 'धी' (Cosmic Reason) में समस्त मनन के 'अर' का समर्पण करता है। यही है सांख्य।

विश्वभुवनचक्रनाभि सूर्य में पाँच अर समर्पित

और गहनता से अग्रसर होने के पूर्व इन दो कारिकाओं का स्मरण करो—

कलनी फलनी सूर्ये चलनी रूक्मरेतसि।
समर्पिता अराः पञ्च चाकर्षणी विकर्षणी ॥१॥
प्रत्येकं दशधा क्लृप्तं पञ्चाशदित्यतः स्थिते।
एकमात्रैकनेमिः स एकपञ्चाशदक्षरः ॥२॥

रूक्मरेता सूर्य विश्वभुवन की नाभि में हैं। उस नाभि में पाँच अर समर्पित रहते हैं। इनके नाम कलनी, फलनी, चलनी (चरणी), आकर्षणी, विकर्षणी (अथवा संकोचनी–प्रसारणी) हैं। इन अर पंचक को प्रणव (सवितास्वर) एवं पाद पंचक के साथ यथायोग्य अन्वित करके भावना करो। जैसे कलनी = अ, चरणी = उ, फलनी = म, प्रसारणी = नाद, संकोचनी या आकर्षणी = विन्दु। यहाँ पर विकर्षणी का तात्पर्य है वितत-व्यापिका शक्ति एवं वृत्ति।

इन अरपंचक में से प्रत्येक दशधा क्लृप्त अथवा आविर्भूत होता है। जैसे दश दिशा। काल प्रभृति को भी इसी के अनुरूप विश्लेषण में विश्व व्यापार में देखना होगा। प्राणपाद में देखोगे कि प्राण स्वयं को दशधा क्लृप्त करता है। यह ऐसा करता है अपने बीज को (हिरण्यगर्भ को) दशधा जप के लिए। संख्या व्यवहार के मूल (स्वाभाविक) में यही दश (Decimal Notation) हैं। विशेष-विशेष स्थल में (अनुबन्ध में) यह सप्तादिक भी हो सकते हैं। संख्या-विज्ञान (Theory of Numbers) संख्या को संख्यान के मूलसूत्र का अनुसरण कराते हुये सांख्य में उपनीत करने का प्रयास करता है। सूर्य प्रसंख्यान रूप से आदिम शुद्ध मूल संख्या का (Pure Root Prime Number) व्यपदेश करता है (posits Himself)। वह काल एवं देश में उस मूल को बहुधा व्याकृत करता

है। विश्व तो संख्या-संस्थानरूपी एक महान् अश्वत्थ पादप है। 'उर्ध्वमूलं अधः शाखम्'। 'छन्दांसि यस्य पर्णानि'। 'छन्दासि' जड़ परिच्छेद (Physical limitation) की भूमि में उतरते हुये हो जाता है = Theory of Number and Magnitude.

एकपञ्चाशत्

इन सब प्रसंगों का अनुसरण फिर किया जायेगा। यहाँ प्राप्त हुआ ५ × १० = ५० (पचास संख्या) यह मनमानी कल्पित संख्या नहीं है। अतः कारिका में 'क्लृप्त' कहा गया है। 'इट्' विधान में जो वैकल्पिकत्व है, वह यहां नहीं है। इस पचास के साथ एक को जोड़ो। यह एक क्या है? एक तत्व जो ५० अर का विस्तार करने पर भी स्वयं है एकमात्र (एकनाभि, एकनेमि इत्यादि) रूप से विराजमान!

इसके अनन्तर विश्व की भावना वांगमय रूप से करो। वह है सूर्य। स्वर व्यंजनमयी मातृका के स्वयं एकनाभि सविस्तार (प्रणव) होने पर भी वे स्वर व्यंजनादि आकृति में ५० अर का विस्तार करते हैं। स्वयं एकनेमि रूप से अरसमूह को एकाक्ष एवं एकाध्वग करते हैं (Common axis and orbit)। बाद में यह देखोगे कि यह स्वरव्यंजनमयी मातृका अनुस्वार, चन्द्रबिन्दु धारण करके 'सूर्याचन्द्र मसौ' रूपी रहस्ययुग्म के चन्द्रमा (स्वधा; सोम शक्ति) का वरण करती है। विसर्ग का योग हो जाने पर चन्द्रमस्, नाद मुख्यता मे यह स्वाहा-अग्नि हो जाती है और अनुस्वार, चन्द्रविन्दु के योग से इसमें विन्दु मुख्यता आती है। सूर्य ही चन्द्रमा तथा चन्द्रमस् रूपी युग्मपक्ष का विस्तार करके अणु-विराट, अन्तर्बहिः विश्व में अग्निषोमीय समता बिधान करते हैं।

स्वरव्यंजन का मातृका रूप

मातृका के स्वरव्यंजन के एक-एक वर्ण सवितास्वर (प्रणव) की नाभि में समर्पित एक-एक अर हैं। ऐसा मत सोचो कि इन अरों के आधार में केवल यह वांगमय जगत् आवर्त्तित हो रहा है। और जपसूत्र की आलोचना द्वारा यह संभवतः सुस्पष्ट हो जायेगा कि अकार-ककारादि स्वरव्यंजनादि orbitrary Notations नहीं हैं। यद्यपि जड़-स्थूल में आकर स्वर-व्यंजनादि 'विखर' या बैखरी हो जाते हैं, तथापि वे सवितास्वर प्रणव तथा प्राण के ही कुण्ठितादि रूप हैं। प्राण ही है प्रचोदयिता एवं प्रवक्ता। प्राणभूमि में (सूर्यतत्व में) वर्ण का नित्यफोस्ट रहता है। यह है मध्यमा भूमि। मुख्य प्राणवृत्तिरूपा मध्यमा है 'एषा जागर्त्ति'। जहाँ वाक् एक ओर है वैखरी. वहीं दूसरी ओर पश्यन्ति से स्वयं को मानो 'संवृत' करके वह इस प्राण मातृका मध्यमा की कोख में विश्रान्त हो जाता है। यही है विष्णु की योगनिद्रा। इस मध्यमा मातृका के माध्यम से प्रजापति ब्रह्मा पश्यन्ति भूमि से निरुद्वेग रूप से

अधिकार प्राप्त करते हैं। तुम और मैं जपकर्म में इनके ही माध्यम से प्रथमतः वैखरी भूमि में ही निरुद्वेग, स्वच्छन्द, समर्थ व्याहरण लाभ करेंगे। मध्यमा के साथ अर्ध-मात्रा सम्पर्क का प्राणिधान करो।

जप एवं जपाक्षरादि जड़ परिच्छेद में एवं उससे अतीत भूमि में किस रूप में हैं?

संक्षेपतः मध्यमा के प्रसंग के अनन्तर पश्यन्ति में सूर्य व्यपदिष्ट हो रहे हैं इस कारिका में—

मित्रावरुणायोश्चक्षुश्चक्षुरग्नेश्च भास्करः।
अपरञ्च परं सन्धिं पश्यन्ती राजते स्वभाः ॥३॥

वेदमन्त्र में सूर्य को मित्र, वरुण, अग्नि का चक्षु कहा गया है। प्रसंगतः इन तीन को यथाक्रम से अध्यात्म, अधिदैवत एवं अधिभूत रूप से कहा जा सकता है। किम्बहुना इस प्रकार की भावना में 'धी' अथवा बुद्धि को एक प्रसज्यमान अवच्छे-दकता मान लो। किसी प्रसज्यमान विषय को समझने के लिये बुद्धि की इस प्रकार की अवच्छेदकता Relevancy Ruling मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। शास्त्र के तात्पर्य को सुनिश्चित करने में आचार्य वर्ग षड्लिंगादि (उप-क्रम प्रभृति) सूत्र के सहारे चलते हैं। यहाँ सदा सजग रहना चाहिये कि कहीं मित्र वरुण प्रभृति आर्षविज्ञान की रहस्य परिभाषायें जड़ परिच्छेद में आबद्ध न हो जायें! उसे (जप की भाषा को) वैखरी में रखना उचित नहीं होगा। मध्यमा में उसे प्राणपर्याय में लाकर स्वच्छन्द एवं मुक्त करना होगा। जैसे जड़ परिच्छेद में (In thc context of Physical appreciation and interpretaion) अणु-विराट में सर्वत्र ही जो आवृत्ति तथा अभ्यारोह (उद्‌वर्त्तन) जप चल रहा है, वह जप प्राणभूमि में अपेक्षाकृत मुक्त (free, spontanous) आकृति का आविष्कार कर लेता है। श्वास-प्रश्वास में अजपा शुद्ध हंसः (प्राण-सूर्य) आकृति प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्राण की भूमि में यहीं पर अभ्यारोह जप की सूचना प्राप्त होती है। इसके फलस्वरूप जड़ परिच्छेद (Physical setting) का नव रूपायण एवं रसायन आरम्भ हो जाता है। जो सूर्य-चन्द्रमा इड़ा पिंगला नाड़ी में प्राकृत अजपा-जप का निर्वाह कर रहे हैं, वे ही उक्त रूपायण एवं रसायन घटित करते हैं।

पदार्थ की तीन अवस्था—अपर, परापर एवं पर

अब यह देखो कि कारिका के शेष भाग का क्या अर्थ है? पदार्थ का (कारण एवं कार्य का) तीन अवस्थान है अपर, परापर (सन्धि) एवं पर। अपर अवस्था में क्रिया-कारक-फल रूपी त्रिभुज की तीन बाहु के समान संहत होने पर भी वह

मानों स्वतन्त्र एवं असमग्र (Specified) है। मानो परापर के क्रिया कारक दोनों मिलकर एक हो गये ! कारक ही क्रियारूप हो गया। जो पहले था त्रिभुज, वही हो गया रेखा। रेखा को Rigid रूप से मत देखो। Vector करके देखो। उसे देखो As tracing a path सुषम छन्द में आने पर (In rhythmic relation) इसे अध्वनीन कहते हैं। अब अध्वग हो जाता है अध्वनीन। तदनन्तर जहाँ क्रिया-कारक फल एकत्र होकर एक विन्दु में (विन्दु लक्षण की भावना करो) समाप्त हो जाता है, तब होता है 'पर अवस्थान'। किम्बहुना अखण्ड, समग्र समता स्थान के अतिरिक्त परावस्थान सम्भावित नहीं होता। क्रिया आदि के बदले किसी भी अपर त्रिपुटी को लेकर परीक्षा करो। संक्षेप में यह सब कहा गया। आगे दृष्टान्त स्थल में यह विस्तारित होगा।

इस सम्बन्ध में दृष्टि चतुष्टयी

भास्वर की जो स्वभाः (वरेण्यं भर्गः) है, वह अपर-परापर एवं पर अवस्थान में पश्यन्ति है। 'दिवीव चक्षुराततम्' मन्त्र का मर्म इस पश्यन्ति में है, किन्तु यदि पश्यन्ति को परापर के आगे शेष करके रक्खा जाये, उस स्थिति में पश्यन्ति के आगे है परा। अपरा-परापरा-परा एवं परमा रूपी चतुःपाद में विश्वतश्चक्षुः सूर्यनारायण विश्व ईक्षण करते हैं। इस ईक्षण चतुष्टय की भावना नीचे अंकित कारिका के अनुसार की जा सकती है—

परा गृह्णाति सामग्रीं समस्तञ्च परापरा।
व्यस्तञ्च याऽपरादृष्टिः परमा ब्रह्मदृक् स्वयम् ॥४॥

जो दृष्टि देशकालसहकृत निखिल कार्यकारणजाल को उसकी नाभि अथवा बिन्दुस्थित होकर 'सामग्री' भाव से देखती है (समस्त अवरोध, अवच्छेद परिच्छेद को पार करके) उसे कहते हैं परादृष्टि। समस्त (या Integrally) देखती है परापरा। सामग्री से समस्त की भेद भावना करो। किसी पदार्थ के संश्लेष-विश्लेष (Analytically and Synthically) को देखकर यह उपलब्ध किया कि यह इस प्रकार से हुआ अथवा हो रहा है। इस प्रकार से देखने पर उस सम्बन्ध में ग्रन्थि छिन्न हो गई, संशय भी छिन्न हो गये तथा उसके कारण जिन कर्मों में प्रवृत्ति हुई थी, उनका भी क्षय हो गया, तथापि निखिलतत्तद्-परिच्छेदादि के पार जो अखण्ड आधारभूत सामग्री है, उसमें स्थित होकर बुद्धि के समस्तीकरण (Integration) की विश्रान्ति घटित न हो सकी ! विज्ञान समीकरण द्वारा अनेक ग्रंथिभेद, संशय-निरसन, समीक्षा-परीक्षा उपसंहार हो जाने पर भी जड़ परिच्छेद में आकर रुक जाना पड़ा। जड़ के विधान के कारण अब भी प्राण का छन्दरूपेण परिचय एवं परिणय न आ सका ! तभी प्रज्ञान का "सूर्यचन्द्रमसौ" अभी भी प्रहेलिका के समान

है ! फिर भी भरोसे योग्य बात यह है कि परापरदृष्टि परा के परोवरीयान् प्रकाश में ही स्फुरित होना चाहती है। परा ही है उसका आदर्श—उसका लक्ष्य। जो अपरा दृष्टि है वह भाग-अंश-कला (Sections-aspects-partials) को लेकर ही व्यस्त है। अन्त में परमा है स्वयम् ब्रह्मदृक्। परा के साथ इस सूक्ष्म अथच महाश्चर्य भेद का चिन्तन करो। परा की दृष्टि को बिन्दुस्था कहा गया है। परम में बिन्दु के शून्य एवं पूर्ण पारम्य में परमशून्य तथा परमपूर्ण रूप परमाश्चर्य प्रकाशस्थिति हो जाती है। सिन्धुघन बिन्दु तथा बिन्दुघन सिन्धु, इन दोनों का परम समीकरण परिनिष्ठित हो जाता है। इस दृष्टि चतुष्पदी के कल्याण में जो श्रेयः फल चतुष्टय है, उसे इस कारिका में कहा जा रहा है—

दृष्ट्वा परापरं ग्रन्थेः परं दृष्ट्वा मूलस्य च।
द्वैताद्वैतस्य पारम्यं भवेदुपशमः क्रमात् ॥५॥

सूर्य नारायण के ईक्षण का फल चतुष्टय

परावरग्राहिणी दृष्टि क्या करती है ? ग्रंथिभेद। जपसूत्र में हृद्देश, हृदय एवं हृत् स्वतन्त्र रूप से विवेचित हुआ है। अपरादृष्टि पदार्थ की हृद्देशग्रंथि के मोचन में व्यापृत है। इसे विचार कर देखो। परावरा हृदयग्रंथि भी भेदन से पटीयसी हो जाती है। यह होता है क्रमशः Progressively. श्रुति के मन्त्र इस क्रमान्वय की काष्ठा का निर्देश करते हैं। अर्थात् परावर के अन्तिम प्रान्त तक पहुँचा देते हैं। तत्पश्चात् 'परं दृष्ट्वा निवर्त्तते'—परवस्तु का दर्शन करने से मूल अथवा निखिल के मूल में जो प्रकृति है, उसका उपरम हो जाता है। परवैराग्य तथा प्रकृति विविक्त पुरुष साक्षात्कार की स्थिति का चिन्तन करो। जब तक परतत्व का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक प्रकृतिरूपा मूल अथवा परकारणभूमि का 'बाध' नहीं होता। अन्त में पारम्य का दर्शन हो जाने पर द्वैताद्वैत तथा इन दोनों से अतीत परम तूष्णीभाव अपावृत हो जाता है। 'देखो मैं दो नहीं, बहु नहीं एक हूँ'। सूर्यनारायण का यही चतुष्पात् ईक्षण ही है शिवतम रसतममन्त्र।

इस सागर सन्धान में तरिणी का दृष्टान्त——

जड़ परिच्छेद में अपरा दृष्टि का और वैखरी वाक् में इस प्रथम पाद का विन्यास करो। फलतः जड़ का जड़त्व और वैखरी का खरत्व प्राण के लीला निपुण छन्द में सागराभिलषिनी नदी के समान आपूर्यमाण होता चले—

तटिनी रोधसा बन्धमूर्म्मिरन्योन्यसङ्करम्।
उच्छ्वासः स्त्रोतसा भङ्गं सिन्धो जुहोतु छन्दसा ॥६॥

अर्कणाधानभावश्च सोमेनोच्छूनरुपता ।
महिम्नि भावनं भानोश्चन्द्रमसो रसायनम् ॥७॥

तुम्हारी अपरा प्रकृति एवं दृष्टि, तुम्हारी वैखरी वाक् तथा जड़ जप, इस कृशकाया तटिनी के समान क्लिष्टचरण से चलते जा रहे हैं सागर से अभिसार के लिये, इसमें सन्देह नहीं है। बह आकुल अपेक्षा से चलता जा रहा है। कब उसके तट का भंगुर बन्धन, उसके वक्ष का उच्छृङ्खल वातप्रहत उर्मिजटला वीचिविक्षोभ (अन्योन्य संकर) सागर के समीप आकर स्त्रोत के वेग के कारण परवश हो रहे हृदयोच्छ्वास को निःशेष करते हुये सिन्धु के महामहिम छन्द में उसे समर्पित करके कृतकृतार्थ होगा ? किन्तु हे तटिनी ! तुम कब यह जानोगी कि तुम्हारे तटिनीनाथ की आपूर्ति परिपूरित करने वाले जो सब महिमछन्दः हैं, उसका आधान एवं स्वरूप भावन करते रहते हैं अर्कभानु ! और उच्छून-उच्छ्वास में उसका रसायन करते हैं सोमचन्द्रमा। इन कथाओं के भाव में कवि के भाव का स्पर्श है और भाषा को उसके रंग की तूलिका का स्पर्श अवश्य हुआ है, किन्तु जड़ परिच्छेद से उठते हुये प्राण के अनुच्छेद में तुम्हारे जीवन तथा साधना का जो ऋण एवं मधुच्छन्दः है, उसकी "बाध से साध" तक की सरणी को यहां प्रदर्शित किया गया है।

तटिनी दृष्टान्त का अनुसरण, तीन प्रकार की बाधा—

जड़ परिच्छेद से प्राण अनुच्छेद तक जाने वाला मार्ग उच्छेद-विच्छेद के ध्वंस पर्व से होकर नहीं जाता। तभी है यह सागरगामिनी तटिनी की उपमा। गिरि तुषार मण्डित कारागार के किस निभृत कंदरा के कक्ष से किस चिदरहस्य रूपी निर्झर के स्वप्नभंग से उसका जन्म हुआ है ? वहाँ से न जाने कितने विचित्र परिवेश से होते हुये ऋजु-कुटिल कितने ही दीघल वर्त्म को पार करते हुये उसका है यह अबूझ मरमी अभिसार ! रोधः अथवा तटों का बन्धन है विजातीय और वाह्यबाधा है परिच्छेद। ये सब भंगुर हैं, तथापि हैं तो ! सीने में है उर्मिसंघर्ष, विचिविक्षोभ रूपी सजातीय आभ्यन्तरीण बाधा, तथापि प्रकट बाधा तो गोपन-गहन नहीं है। और जब ज्वार के समय उसका उतल हृदय उछल एवं उद्वेल हो उठता है; उसे विदित होती है दरदी विपुल आकुल पुकार, जब उस गोपन गहन तल से पता नहीं कौन बोल उठता है "मुझे कितने दिनों का कितने युगों का अपने वेग का ऋण, कितने दिनों की मजूरी चाहिये, इसे चुकाये बिना कुछ नहीं होगा"। यह हुई अप्रकट भूमि की संचित संस्कार व्यूह की बाधा, स्वगत बाधा। जब तक इन तीनों को तुम अपने जीवन में तथा साधन में ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द के शासन में नहीं ला सकोगे, तब तक तुम्हारी मति स्थिति का जड़त्व किसी प्रकार के भी आलोक पुलक द्वारा चेतना और प्राण को स्वच्छन्द नहीं होने देगा।

सूर्य चन्द्रमा-इन युग्मतत्व के अनुशीलन से क्रमशः तेजस्वी, ओजस्वी-मनस्वी तथा आत्मन्वी हो जाओ--

स्वभाव के दो पक्ष हैं स्वरूप एवं स्वरस। सूर्य ज्योति द्वारा स्वरूप आवरण का उन्मोचन करते हुये उसे परिस्फुटित करता है "ॐ सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा'—यह है आवरणाहुति मंत्र। और स्वरस का आप्यायन हो चन्द्रमा में 'ॐ सोमोरसो रसः सोमः स्वधा'। अथवा अन्य कोई वेदमन्त्र जो सोम से सम्बन्धित हो। इस प्रसंग में ह्सौं' तथा 'ग्लौं' बीजमंत्र का विचार करो। समस्त पदार्थों में प्राण, चेतना एवं रस जागृति, विभूति तथा विस्तृति के लिये सूर्याचन्द्रमसौ रूपी युग्मतत्व अनुशीलनीय है—

बन्धं जहि सहिष्णुः सन् विक्षोभञ्च तितीक्षया।
धीरो भूत्वा जयेद् भङ्गं सम्प्रसीदार्णवसङ्गमे ॥८॥

तटिनी दृष्टान्त में जड़िमा की जिन तीन बाधाओं का उल्लेख है, उस तटिनी पर विजय प्राप्त होती है प्रथमतः सहिष्णु, द्वितीयतः तितिक्षु तथा अन्त में धीर होने की साधना द्वारा। इन तीनों की सिद्धि के समापन के अवसर पर तटिनी के सिन्धु-संगम के समान सम्प्रसन्न हो जाओ। सूर्यनारायण के प्रत्यक्ष तेजः की भावना करके सहिष्णु हो जाओ। यदि उस तेजः को 'सहः' कहा माये, उस स्थिति में यह 'सहः' तुमको सहनशील करे। इसके द्वारा तुम साहसी एवं तेजस्वी बनो। आन्तर तेजः जोकि प्राण भूमि में साक्षात् रूप से प्रभाव विन्यास एवं विस्तार करता है, यदि उसे 'ओजः' कहा जायें, तब तुम इसके द्वारा ओजस्वी एवं तितिक्षु हो जाओ. यदि नाभिनिष्ठ तेजः को 'भर्गः' कहा जाये, तब वह भर्गः तुम्हारी धी को धीर बनाने के लिये प्रचोदित करे। मनस्वी बनो। 'सूर्याचन्द्रमसौ' का जो चन्द्रमाः है यदि उस तेजः को 'रोचिः' कहा जाये, तब उस रोचिः के द्वारा सविता भर्गः हुआ 'वरेण्यं'। धीर के आप्यायन द्वारा सम्प्रसन्न, आत्मन्वी बनो।

बैखरी प्रभृति वाक्चतुष्टय द्वारा किस प्रकार से अमृत में अभिनिष्पन्न होगे ?

चतस्त्रो हि गिरः पादाः सवितुः पुरुषस्य वै।
पादोऽस्य गोचरं विश्वं त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥९॥

वैखरी प्रभृति चारो वाक् पुरुष के चार पाद हैं। उसका एक पाद (वैखरी) है यह गोचर विश्व। इसके मध्यमा-पश्यन्ति-परा प्रभृति पादत्रय हैं। दिवि अथवा इस गोचर जगत् के उर्ध्व में जो लोक हैं, उनमें विद्यमान हैं मध्यमा प्रभृति। इन साधारण गोचरातीत त्रिपात् को अमृत जानों। अर्थात् तुम हो अमृत के पथिक।

मृत्यु से अमृत की ओर जाने वाली सरणि इन मध्यमा प्रमुख त्रिपाद से ही जाती है।

नेमिज्ञानेन मृत्युं वै द्वे याने चारविद्यया।
अमृतं नाभिनिष्णातो विश्वचक्रस्य जानत ॥१०॥

इस भुवनचक्र की जो नेमि (देशावच्छिन्न कालनेमि The Time Path as traced on the board of cosmic configuration) है, उसे विशेषरूप से जानने पर मृत्युविज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रकारान्तर से संख्याविज्ञान में (जड़ Quanta इत्यादि का, प्राण में अजपा हंस इत्यादि का) मृत्युविज्ञान है। यहाँ संक्षेप में कहा गया है। अरविद्या में (अर्थात् विश्वचक्र विधायक जो मूल छन्द है उसके विज्ञान में) देवयान, पितृयान, शुक्ला कृष्णा गति इत्यादि अतिक्रान्ति विज्ञान प्राप्त होता है। प्रथमतः उत्क्रान्ति तदनन्तर अतिक्रान्ति। इस अरविद्या को सांख्यप्रत्यक्संख्यान विज्ञान भी कह सकते हैं। अन्त में विश्वचक्र की जो नाभि (सविता) है, उसमें निष्णान्त होने पर, अर्थात् सांख्य एवं प्रसंख्यान में निष्ठित होने पर साक्षात् अमृत प्राप्त होता है। नि+स्नात, इन दो भाव से सांख्य एवं प्रसंख्यान प्राप्त होगा। प्रसंख्यान में नाभि विज्ञात भी होती है, पुनः चक्रसंस्थावच्छेदक रूप से विदीर्ण भी हो जाती है। जड़ के देश में Nuclear Physics में यह संभावित भी हुआ है, किन्तु हुआ है व्यस्त-विप्लवी रूप से। प्राण की भूमि में यह सहज ही हो रहा है, किन्तु हो रहा है व्यष्टि सृष्टि के रूप में। अतः विश्व की मृत्युनेमि में, संसृति में, वह प्रक्षिप्त होकर घूम रहा है।

भूर्नेमिं जहि वैखर्या मध्यमया भुवर्ह्यरम्।
स्वर्नाभिं जहि पश्यन्त्या परया तुर्यगो भव ॥११॥

चक्र की जो गोचर नेमि है उसे यदि 'भूः' कहें, उसकी चक्रसमाचरण विधि द्वारा तुम्हारा जप उस नेमि को विजित करे। इसी प्रकार 'भुवः' रूपी जो अर है, उसे जय करो मध्यमा में। पश्यन्ति द्वारा नाभि (स्वः) एवं ऊँ भूर्भुवस्वः स्वाहा, रूप से पादत्रय में जपहवन आहुति देकर अन्त में परा एवं पश्यन्ति-मध्यमा-वैखरी से अतीत होकर जप तुर्यग हो जाये। यह अवयवत्रय यथाक्रमेण फल (Resultants), क्रिया (Lines of operative Energy) एवं कारक (Origin operative centre) इत्यादि रूप है। पश्यन्ति पर्यन्त (जो पश्यन्ति पर तथा परम में जाती है, उसे न पकड़ कर) क्रिया-कारक-फल-निष्पाद्यता विद्यमान रहती है। परा है स्वतोनिष्पन्न, वहाँ निष्पाद्यता नहीं है। इन तीनों के अतीत होने के कारण ही परा को तुरीया या तुर्यगा कहते हैं।

वाक्‌चतुष्टय के द्वारा सूर्यनारायण के चतुर्व्यूह रूप का ध्यान करके तेजस्वी-ओजस्वी बनो--

प्रद्युम्नो वैखरी गीश्चानिरुद्धो मध्यमा मतः ।
सङ्कर्षणश्च पश्यन्ति सूर्यनारायणः परा ।।१२।।

अब वैखरी प्रभृति चारों वाक् की भावना करो सूर्य के चतुर्व्यूह रूप में। वैखरी है प्रद्युम्न। मध्यमा है अनिरुद्ध, पश्यन्ति है संकर्षण तथा वासुदेव सूर्यनारायण हैं स्वयं परा। वासुदेव एवं नारायण, इन दो शब्दों में जो निगूढ़भाव है, उसका भी सूर्यतत्व में सुसमंजस हो जाता है। ध्यान दो—

वैखरी गोचरः सूर्वो मध्यमा प्राणरूपतः ।
महांश्चैव पश्यन्ति प्रधानाध्यक्षता परा ।।१३।।
तेज ओजस्तथा ज्योतिर्भर्गों लभेत संविदि ।
ज्योतिरसो रसज्योतिः सूर्याचन्द्रमसाविति ।।१४।।

प्रत्यक्षगोचर जो सूर्य है; उसके समाश्रय एवं प्रसाद से वैखरी सिद्धि प्राप्त होती है। फल है तेजः। प्रत्यक्ष विश्व में सूर्य (तेजः) ही शक्ति तथा छन्द रूपी विपुल का आधार एवं भण्डार है। अतएव सावित्री-गायत्री जप कर्म में अपने आधार को तेजः एवं छन्द से आपूरित कर लो। सूर्य का समाश्रय लेकर विशेषतः 'सन्ध्या-मुपासीत' सन्ध्योपासना करो। यह है सूर्य का 'पूर्व' हिरण्यगर्भ रूप। तदनन्तर जड़ परिच्छेद में बन्धादि हट जाने पर सूर्य को मध्यमा में प्राणरूप से स्वछन्दोग रूप से देखा जा सकता है। तब हृद्देश हो जाता है 'हृदय'। फल है ओजः। तदनन्तर सूर्य का साक्षात् अथवा 'हिरण्यगर्भ' किंवा पूर्वोद्‌त्तर हिरण्यगर्भ रूप में ध्यान प्राप्त हो जाने पर (धीमहि), वे हो जाते हैं 'महान्'। इस 'महान्' को द्वैतदर्शन की महद् बुद्धि का दृश्यमात्र नहीं समझना। यहाँ प्राणरूप से हिरण्यगर्भ के पूर्वरूप का वर्णन है और महान् रूप से उनके उत्तररूप को कहा गया है। ये प्रदान करते हैं ज्योतिः पश्यन्ति। उत्तर हिरण्यगर्भ रूप से सूर्यनारायण हैं महान् एवं ज्योतिः स्वरूप। सत्व-विशाल महद्‌बुद्धि (Cosmic Reason) की उपाधि ग्रहण करके दृष्टि एवं दृश्य होकर मानों स्वयं को अन्योन्यसम्बन्धावछिन्न करके वे सब कुछ का दर्शन करते रहते हैं। अपने जपादि साधन को पश्यन्ति पर्यन्त उन्नीत करके मनस्वी एवं ज्योतिष्मान बनो।

हिरण्यगर्भरूप से सूर्यनारायण की पूर्व, उत्तर, महोत्तर एवं अनुत्तर रूपी चार भूमि--

अपर एवं परापर, इन दो प्रान्तों पर्यन्त दृष्टि का उन्मेष हुआ किन्तु अभी भी बाकी है परभूमि। महान् के पश्चात् पर ही प्रधान है। इस महा अश्वत्थ पादप

से समस्त सृष्टि होती है। अतः अपरादृष्टि यहाँ शेष होती है। पादप का उर्ध्वमूल समस्तभाव से परिलक्षित होते ही आती है परापरा दृष्टि। और मूल के मूल में भी जो परिणामी अक्षर बीज स्थित है, उससे समग्र दृष्टि (सर्वतोवगाहिनी) होती है, परा। यहाँ सूर्यनारायण प्रधान की अध्यक्षता करते हैं, क्योंकि वे ही एकमात्र 'निधानं बीजमव्ययं' तथा 'विभर्त्यव्यय ईश्वरः' हैं। यदि हिरण्यगर्भ की आख्या के अनुसार समझो, तब यह है तुरीय। इसे समुत्तर अथवा महोत्तर (महान से भी उत्तर) कहा जा सकता है। इस भूमि में सौर तेजः एवं प्रकाश का जो रूप है, उसे कहते हैं भर्गः। छन्दः को सन्धि में रखकर यह चन्द्रमा में हो जाता है रोचि। इस तुरीयातीत के उस पार भी एक भूमि है। वह है अनुत्तर भूमि। उसका उत्तर और है ही नहीं, साथ ही वहाँ किसी भी जिज्ञासा का उत्तर नहीं हैं, क्योंकि वहाँ पर समस्त जिज्ञासाओं का पर्यवसान हो जाता है। तब भी 'सूर्य चन्द्रमसौ' युगल को न छोड़ना चाहो उस स्थिति में यह कहो कि यह एक साथ ही ज्योतिरस एवं रसज्योति की भूमि है। तथापि है पूर्णतः अभिन्न युगल। तुम एक बार केवल सूर्य दृष्टि से कहोगे, पुनः चन्द्रमा की दृष्टि से कहोगे रसज्योति। एक बार ऋषि दूसरी बार कवि। एक बार द्रष्टा दूसरी बार रसिक।

साधना का दृष्टान्त, अभ्यारोह का सोपान चतुष्ठय—

वाक्‌चतुष्ठयसम्बन्धि हृभ्यारोहचतुष्ठयम्।
बाधाचतुष्ठयं तेन जहि ग्रंथिचतुष्ठयम् ॥१५॥

पूर्वोक्त वैखरी प्रभृति चारवाक् एवं उसमें निरूपित चार भूमिया हैं। जपादि साधन में अभ्यारोह के इस सोपान चतुष्टय का आश्रय लो। 'सूर्य-चन्द्रमसौ' रूपी युग्मतत्व उक्त अभ्यारोह का प्रचोदयिता, निर्वाहयिता, विभर्त्ता, रसयिता एवं आप्याययिता हैं। ये गायत्री एवं मधुमती ऋकद्वय का यथाक्रम से भर्गसा एवं मधुना (रोचिषा) में विनियोग करते हैं। छन्द ही मित्ररूप से दोनों की सन्धि है। इस सन्धि में आकर सूर्य (हंस) हो जाते हैं 'ऋतं बृहत्' और चन्द्रमा हो जाते हैं 'मधुक्षरत्'। यहाँ इस सन्दीपनी 'अम्' आप्यायनी धारा को (दोनों धारा को) अविनाभाव रूप से प्रवहमान रखते हुए, अवरोधादि बाधा चतुष्ठय को क्रमशः एक-एक करके सोपान क्रम से जींतो। साथ ही ग्रंथिचतुष्ठय को भी जीतो।

जैसे वैखरी जप से उत्पन्न तेज द्वारा देशनिमित्त बाधा-अवरोध को जय करो। इस जप द्वारा जो रस मिले उससे हृद्देश की ग्रंथि (जड़िमा, स्त्यान, तामसभाव) का मोचन करो। जैसे अन्तर की एक शक्तिशाली गांठ खुल गई और जप अब कण्ठ से कष्ट से न होकर वक्षःस्थल से सहज ही हो रहा है। तत्पश्चात् मध्यमा में आकर कालजन्य बाधा, प्रतिरोध का परिहार करो। तुम्हारे न चाहने पर भी

वह चलता है। तब होता है जप का होना (जप करना नहीं होता, वह स्वयं होने लगता है)। साथ ही साथ हृदयग्रंथि (राजस) का मोचन साधित हो। श्रुति ने इसी हृदयग्रन्थि भेदन की परिसीमा अथवा काष्ठा का प्रदर्शन किया है। जपसूत्र में भी तनु रजाः प्रभृति रजोमार्जन क्रम का उल्लेख अंकित है। तदनन्तर विरोध-निरोध रूपी बाधाद्वय तथा दो प्रकार की हृदयग्रंथि हैं। जो हृल्लेखा को स्वच्छन्द रूप से प्रस्फुटित नहीं होने देती; वह है छन्दोग्रंथि। जो हृत्विन्दु को स्वभाव में अपिहित रखती है, वह है वस्तुग्रंथि। पश्यन्ति एवं परा भूमि में उठकर इन दो मर्मीकः ग्रन्थियों का मोचन करो। वेद के जातवेदस द्वारा प्रथम बाधा एवं ग्रन्थि का, त्र्यम्बक मन्त्र से कालबाधा तथा हृदयग्रन्थि का, 'मधुवाता' द्वारा छन्दोग्रन्थि तथा विरोध बाधा का और गायत्री के द्वारा वस्तुग्रन्थि एवं निरोध बाधा को हटाने का अभ्यास करो।

गायत्री के 'वरेण्य' पद में सविशेष अवहित होगा, क्योंकि यहां अग्निषोम, मित्रावरुण, सूर्याचन्द्रमसौ साक्षात रूप से संगत होकर एक-एक वर्ण के द्वारा एक-एक बाधा तथा ग्रन्थि के मोचनार्थ उत्सुक से रहते हैं। (व+रे+णी+यम्)। 'जातवेदसे' मन्त्र में 'आ' स्वर, 'त्र्यम्बक' में इ स्वर, 'मधुवाता' में 'उ' स्वर और गायत्री स्वयं ओंकार (अ उ म नादविन्दु) व्याहरण एवं अनुस्मरण में मुख्यतः रहती है। देशनिमित्त अवरोधों के अपसारण में 'आ' कालनिमित्त प्रतिरोध निरसन में 'इ' तथा ई, छन्दोगत विरोध परिहार में 'म' युक्त 'उ' एवं वस्तुगत निरोध के अपनयन में नादबिन्दु-मेरु समाश्रित 'अउम' सविशेषतः साधिष्ठ है, यह स्मरण रक्खो। संगीत के सुषम स्वरवितान में 'आ', सुस्पन्द स्वर प्रलम्बन में 'इ', उदार सुगंभोर भेदन में 'उ' तथा स्वर के स्वालय में नादशयन में 'अउम' का समाश्रय करना पड़ता है। रस आवेदन के दृष्टिकोण से इन सब की निजस्व व्यंजना है।

पुनश्च, वैखरी सिद्धि में हठयोग, मध्यमा सिद्धि में लययोग, पश्यन्ति सिद्धि में मन्त्रयोग तथा परा की सिद्धि में राजयोग को सिद्ध करो।

बहिःप्रकृति में युग्मतत्व का सन्दर्शन

ह्रीमैमादीनि चत्वारि बीजानि वै दथाक्रमम्।
सम्प्रणवानि युञ्जीत वैखर्यादिषु सिद्धये ॥१६॥

सिद्धिकामी साधक को चाहिये कि वह वैखरी, प्रभृति अभ्यारोह की चार भूमियों में प्रणव के साथ 'ह्रीं ऐं श्रीं क्लीं' रूपी चार बीजों का योग करे। अर्थात् वैखरी में ॐ ह्रीं, मध्यमा में ॐ ऐं, पश्यन्ति में ॐ श्रीं' तथा परा में ॐ क्लीं। यह मन्त्र चतुष्ठय बाधा एवं ग्रंथि का अपनोदन करते हुये उन-उन भूमियों में सम्यक् रूप से सावकाशता विधान से साधिष्ठ होना चाहिये। सभी जड़ परिच्छेदों को

छिन्न करने में प्रथम बीज वज्र के समान है। प्राण प्रवाह को उर्ध्वग तथा धामग करने में द्वितीय बीज उपयुक्त है। जडिमामुक्त, प्राण समृद्ध सर्वविभासक सत्व की समस्त सम्पदा को पूर्णात् पूर्णतर करके प्रस्फुरित करने में तृतीय बीज समर्थ है और स्वधाम में जो समग्रता तथा परिपूर्णता है, उसमें उन्नीत करने के लिये तृतीय बीज वांछित है। प्रणव के साथ अन्न एवं धाम आधाररूपेण रहते ही है। वाक् का स्वभाव है प्रणव। 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस स्वभाव के स्वरूप-स्वरस का कलन, भरण, पोषण करते हैं। ये स्वयं स्वभाव में रहते हुये अक्षरादि समस्त में सब कुछ में अग्निमात्र, सोममात्र का सन्धिबन्धन करते हैं और वरेण्यं आकृति में उनके समता समन्वय का विधान करते हैं।

वाक् में जिस युग्मतत्व को बीज के वीर्य एवं श्रीरूप से उपलब्ध किया गया तुम अपनी बहि:प्रकृति में उस युग्मतत्व का मूर्त विग्रह रूप से सन्दर्शन करो।

प्रणिधान सूत्र को अब समझ लो—

वनस्पतिर्विवस्वान् य औषधि: सोमरूपत:।
गामाविशति युग्मं वै पय: सोमो हवी रवि: ॥१७॥

तुम जो इन अश्वत्थादि वनस्पतियो को देखते हो, इसे विवस्वान के मूर्त विग्रहरूप से देखो। क्यों देखो—इसकी प्राणपाद में सविक्षेप वर्णना है। औषधि है सोमरूपा। केवल 'पुष्णामि' नहीं सोम ने ही औषधि रूप धारण किया है। यह भी प्राणपाद में विवेचित है। पुनश्च, यह युग्मतत्व 'गामाविशति' गो-पृथ्वी इत्यादि में व्याप्तिरूपेण प्रविष्ठ है। गाभी रूपा गौ में जो पय: (रस) है, वह है सोम और जो हवि (तेज:) है उसे रवि (अर्क) जानो। गो=वाक् का विश्लेषण किया जा चुका है। सूर्य तथा सोम इस प्रकार से अनुस्यूत रहते हैं। अत: धात्री (आमलकी), बिल्व तथा अश्वत्थादि वनस्पति का समाश्रय लेकर जपादि फलप्रद हो जाते हैं। वनस्पति की लकड़ी होम आदि में समिध रूप से प्रशस्त है। तुलसी पूर्णत: वनस्पति औषधि का युगल तनु (अग्निषोमात्मक) है। अत: सोम अथवा रस की मुख्यता के कारण तुलसी के सेवन से रसज्योति (प्रोज्वल-रस) प्राप्त होती है। रुद्राक्ष आदि में है ज्योतिरस।

औषधि बनस्पतियों के फल-पत्र पुष्प में सूर्यसोम रूपी युग्मतत्व का प्रणिधान करो।

जड़े बिधीयते बुद्धि: प्राण आधीयते हि सा।
शुद्धसत्वे समाधान: सन्धानमनुचेतसा ॥१८॥

जब तक जड़ परिच्छेद्र रहता है, तब तक बुद्धि (बोध-मनन-बिचार) उस जड़ बिधान द्वारा ही बाध्य होती रहती है। सूर्यनारायण के साक्षात् प्रभामण्डल से

आया जो विश्व में ओतप्रोत प्राण है, उसके पर्याय में आने पर बुद्धि का आधान होता है। बुद्धि आहिता हो जाती है। उस अवस्था में औषधि, वनस्पति, गाभी, रात्रि, उषा, पार्थिव, रजः इत्यादि को बद्ध समीकरण में न देखकर बुद्धि उन्हें मुक्त उदार स्वच्छन्दरूपेण देखती है। तदनन्तर अनुचेतस द्वारा वस्तु की नाभि हृत् तथा स्वरूप का अनुसन्धान प्रारम्भ हो जाता है। इस सन्धान का समापन हो जाने पर शुद्धसत्व में समाधान हो जाता है। 'अनुचेतस' शब्द से अवहित हो जाओ।। 'नैनं पश्यन्त्यचेतसः' यह आन्ध्य (अन्धता) यह जाड्य होता है अचेतस के तमसा के देश में ; "अनुपश्यंन्ति धीराः" यह प्रत्यक् या अनुचेतस की अनुसंधित्सा एवं अनुसन्धान की सन्धानी रश्मिसन्निपात की भूमि है। बहिःक्षेत्र में जैसे दूरवीक्षण, अनुवीक्षणादि में करना पड़ता है। इस प्रकार अन्त में अनेक भूमियों के अन्त में है वही स्थिति 'सदा पश्यन्ति सूरयः'। यदि यह भाव आ जाता है कि यह स्थिति परम और समग्र है तब कहा जा सकता है प्रचेतसः। यदि इस पद को बहुवचन में प्रयुक्त करने का अभिप्राय न हो, उस स्थिति में इसे कहो प्रचेताः। यही है 'चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्नेः' एवं 'आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। यही है एकर्षि। तथा एकसूरि।

भावृति तथा मधुवृत्ति का एकत्र विनियोग—

भावृत्या मधुवृत्या च सूर्याचन्द्रमसोर्द्वयम्।
आलोचने रसास्वादे धियो यो नः प्रचोदयात् ॥१९॥

बुद्धि की दो मुख्य वृत्तियाँ हैं, प्रथम है आलोचन तथा दूसरी है आस्वादन। इन्हे भावृत्ति एवं मधुवृत्ति कहा जाता है। वेद में ऋचा एवं साम्ना ! हे सूर्यचन्द्रमसौ ! इन दोनों को युक्त करके (यजूषा) स्वयं युग्मरूप से हमारी बुद्धि को (ऋतेन् भर्गसा सत्येन मधुना) प्रचोदित करिये। इस युग्मतत्व का जो यजुः (आहुति) रूप है, वह सावित्री तथा मधुमती ऋक् के अन्योन्य पादपुटित मन्त्र द्वारा अपूर्व ज्योतिरस के निर्झर को अबाधित रूप से बहाता है।

निखिल वाच्यवाचकादि में पादमात्र कलाकाष्ठा विनियोग--

पादमात्रे कलाकाष्ठे बीजेषु वैजिकेषु च।
विदधाते विवस्वांश्च चन्द्रमा वेदमातरि ॥२०॥

वाग्बीज से (जैसे प्रणव) अथवा वाच्यबीज से (जैसे पौधे का बीज) किंवा वाग्वाच्यबीज से यत्किंचित् समुद्धृत (वैदिक) जो कुछ है, वह पादमात्रा है। कलाकाष्ठा का मूल अवच्छेदक (Categories) अवश्य ही प्रसक्त necessarily applicable. प्रणव अथवा किसी पौधे के बीज को लेकर यह समझ लो। वेदमाता गायत्री स्वयं ही पादमात्रादि विज्ञान एवं विनियोग का आदर्श दृष्टान्तस्थल हैं।

जैसे सप्रणव व्याहृतित्रय के साथ गायत्री चतुष्पदी हो जाती है। अग्नि एवं सोम-मात्रा के हिसाब से इसमें १४ मात्रायें हैं। कालमान (Time Measure) से इसमें १६ मात्रायें हैं। इसी के साथ उदय एवं विलय प्रणव की ४-४ मात्रायें लेकर २४ मात्रायें हैं। मध्यमा भूमि में उदय एवं विलय प्रणव के उदय एवं विलय विन्दु भी हैं। वैखरी में आने पर (वाचिकादि रूप से त्रिधा) चार पादों में वितान अथवा विक्रमण। उदय तथा विलय को पाददृष्टि से सेतु कहा जाता है। मध्यमा के उस आरंभ अवसान विन्दु को कहते हैं मेरु। यहां दो परदा या ग्राम में गायत्री को दिखाया गया है, किन्तु वैखरी के नीचे तीन और ऊपर के तीन ग्रामों को मिलाकर 'सप्तग्राम' की आलोचना की जा सकती है। यह उचित भी है।

शयीथाः मा लंधीः

कला अर्थात उदय (प्रातः), वितान=मध्याह्न एवं विलय=सायान्ह, इन तीनों को समझो। यह अन्य प्रकार से भी हो सकता है। और काष्ठा या सीमा है मध्यमा का मेरु विन्दु। यहां शयीथाः, मा लंधीः।

गायत्री के दृष्टान्त में सूर्य चन्द्रमा, राका एवं अमावस्या—

प्रयोजनीय समझकर गायत्री का दृष्टान्त (आदर्श रूप) उपस्थित किया गया। यहां पादमात्रादि आकृति चतुष्ठय को विवस्वान एवं चन्द्रमाः के सहयोग से Conjointly विद्यात में कहा गया। यहाँ पादमात्रा में विशेषतः है सौरमुख्यता। कलाकष्ठा में है सोममुख्यता। जैसे शुक्ला काष्ठा है पौर्णमासी और कृष्णा काष्ठा है अमावस्या।

वरेण्यमिति चिद्व्योम्नि सूर्यचन्द्रौ सहोदितौ।
राका पूर्णोदये तत्रामावस्य विन्दुशायने।
अमेति नित्यपूर्णायां कलायां वसतस्ततः ॥२१॥

गायत्री दृष्टान्त का अनुसरण किया जा रहा है। 'वरेण्यम्' पद में सूर्य-चन्द्रमा अपनी-अपनी महिमा में (भर्गः एवं रोचिः में) सहोदित हो रहे हैं। यह है एक परमाश्चर्यमय सम्मेलन। तारचक्र में यह है उर्ध्व शिखर (Jenith)। यह राकारूप में युग्मतत्व के पूर्णोदय का स्थल है। इस राका में आविः एवं रात्रि की स्व-स्व ज्योति की सम्पूर्णता का अनुभव करो। यह पूर्वोक्त सप्तग्राम अथवा धाम के (वैखरी को मध्य में रखने पर धन के उपरी तीन ग्राम तथा नीचे ऋण के तीन ग्राम+वैखरी=७) मध्य में जो निरूपक विन्दु (शून्य) है उसके साथ आकर मिल रहें हैं। मध्य विन्दु के संयोजक के रूप में एक लम्ब रेखा खीचो तथा 'लेख' का अंकन (सूर्य में) एवं रञ्जन (सोम में) करके देखो। साधारणतः उर्मि कला की चरम स्थिति है पूर्णिमा। सानुतल (अंतिम) विन्दु में हैं अमावस्या। शून्य है

अमावस्या की अपनी कोटि। साधारण जप में मध्यमा के मेरुविन्दु में यथायथ नादावसान होने पर अमावस्या घटित होती है। अमावस्या में अरूपनाम विश्रान्ति करके शान्त हो जाओ; स्वस्थ हो जाओ।

आधार मानन्दमखण्डबोधं
यस्मिल्लयं याति पुरत्रयञ्च ॥२२॥

राका और अमावस्या स्थल पर ग्रस्तभय। उससे मुक्ति कैसे हो?

विन्दु में शून्यता तथा पूर्णता एकत्र है। अतएव शून्य में आकर पूर्ण को (पौर्णमासी को) ज्योति से और रस से भरपूर करके पा लेना चाहिये। भरपूर अर्थात् एक क्रम तथा काष्ठा की बात आ जाती है। साधारणतः विश्व व्यापार में सूक्ष्म-स्थूल में; यहाँ तक कि सर्वत्र उर्मि भंगिमा की वृत्ति घटित होती रहती है। जप के द्वारा इस विश्व वृत्ति को उत्तरोत्तर छन्दोग-सुषम तथा धामग बनाने का प्रयत्न किया जाता हैं। Partial pattern से शुद्ध Prototype में वापस आना पड़ता है। सर्वत्र उर्मि को, चरम विन्दु को, पूर्णिमा तथा सानुविन्दु को अमावस्या माना जाता है, परन्तु यह विचारो कि विश्व परिस्थिति में सर्वत्र पूर्णिमा तथा अमावस्या में ही ग्रहण की आशंका रहती है (राहु केतु छायाग्रस्त होने का भय)। मानो उद्यत आयुध के समान यह आशंका कभी भी शिर पर आ गिरती हो ! अतः यह निष्कर्ष नहीं बनाया जा सकता कि पूर्णिमा एवं अमावस्या किसी आभासिक प्रतिहन्यमान स्थल में जाकर फिर चिन्मधुर एवं चिदरश्मियुक्त ध्रुव संस्था में स्थित होकर अपेतभी (भयरहित) हो गये। यह ज्ञात नहीं हो सकता कि चिर पौर्णमासी तथा नित्य अमाकला का स्थान क्या वही है जहाँ 'सूर्यचन्द्रमसौ' ग्रस्तभय रहित तथा क्षय-उदय भय से रहित होकर और मधुमान महिमान होकर देदीप्यमान है? विज्ञान भी उर्मि विज्ञान में ध्रुवकोटि (संख्या-संख्यान का नामि रूप जो सांख्य है उसे) खोजता रहता है और उसे आज तक नहीं प्राप्त कर सका है। प्रज्ञान ने उसे अध्यक्षर लोक समाश्रय में मिलाया है जैसे वैखरी गायत्री जप में 'वरेण्यम्' तथा मध्यमा में अलंघनीय मेरुविन्दु। लक्ष्य करो कि इन दो अध्यक्षर भूमि में ही पूर्णिमा-अमा एवं सूर्यचन्द्रमसौ, देशकाल आदि के द्वारा व्यवहित नहीं हैं।

किन्तु यह स्मरण रक्खो कि यह काष्ठा एवं परिसीमा का समाचार है। तुम और मैं जप में लगे हैं, तब भी इस परिसीमा के सीमान्त पर नहीं पहुंच सके। वर्त्म दीर्घ है और प्रयास बहुल है। अधिभूत भूमि में चलना प्रारम्भ किया है। चलना प्रारम्भ किया है नीरस, कृच्छ्र तथा गुरु जप साधना में। यहाँ पर तुमने ग्रस्त-व्यस्त-अस्त अमा पूर्णिमा के एक क्षण के ही स्पर्श से अचिन्तित आलोक पुलक का आभास प्राप्त कर लिया ! अधिभूत से चलो अधिदैवत की ओर। चलो जड़ परि-

च्छेद की पार करके प्राण के स्वच्छन्दानुबन्ध की ओर। उस प्राण को भी अपनी अन्तरात्मा में सूत्रित-अन्वित करो। जो objective जप में 'पर' था, वह 'Self' रूप से अपना हो जाये। यह है अध्यात्म। अब परभाव से स्वभाव की ओर लौट आये। फिर भी अभी उससे, स्वभाव से दूर हैं। 'भूर्भुवः स्वः' इस व्याहृतित्रय को सम्यक् रूप से प्रसन्न करने के लिये तीन भूमियों का अतिक्रमण करने का यत्न करो। 'भूः' को तुष्ट करो घृत्युत्साहसमन्वित कर्म के द्वारा। इसके बिना तुम्हारा 'यह' कदापि अभीष्टवर्षी सिद्धिप्रद 'वह' नहीं हो सकेगा। भाव द्वारा 'भुवः' का तोषण करो। 'स्वः' का तोषण करो विज्ञान द्वारा। यही है श्रुति का विद्या—श्रद्धा उपनिषद्।

जपध्यानादि साधना में सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण की आशंका और उसका परिहार—

भूः, भुवः तथा स्वः पर आरूढ़ होने पर वास्तविक समर्थ भूमि पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। अर्थात् तभी (इससे पहले नहीं) तुम गायत्री के 'वरेण्यम्' और मेरुविन्दु रूपी परमोन्मेष (उन्मीलन) एवं परमोपरम स्थान (निमीलन) को संवेदन में मिला सकोगे। और तब 'अधियज्ञ' रूप परम पुमान् क्या करेंगे ? वे तुम्हारे समारब्ध संवेदन को उस नित्य अमा-पूर्णिमा में मिलाने के लिये 'धियो योनः प्रचोदयात्—' धी को प्रचोदित करेंगे।

अब है ग्रस्त ग्रहण की बात। यह भी हैं एक जागतिक रहस्य। इसे मात्र Solar या Lunar Eclipse मात्र मत समझो। अपने छन्द में उर्मि विशेष अथवा उर्मि श्रेणी सुषम है अथवा विषम, यह प्रश्न उत्थित होता है। छन्द के वैरुप्य वैगुण्य जनक को यदि व्याज विघ्न कहा जाये, उस स्थिति में कौन उर्मिछन्दः इन दोनों के कोण से अथवा इन दोनों के द्वारा ग्रस्त हो सकेगा। ग्रस्त का मुक्त होना आवश्यक है। विशेषतः पादमात्रा सम्बन्धित जो छन्दः है वह अथवा कलाकाष्ठा सम्बन्धित छन्दः ग्रस्त हो सकता है। पादमात्रा छन्द ग्रस्त होने पर सूर्यग्रहण तथा कालाकाष्ठा सम्बन्धित छन्दः ग्रस्त होने पर चन्द्रग्रहण हो जाता है। उर्मि के दृष्टान्त के अनुसार सानुविन्दु अमा (शून्य) का स्थल है। इसके अवसान का आरम्भ है इन दोनों की समता का स्थल। यह है विशेषतः सूर्य संस्था। सूर्य ही समस्त अवसित पदार्थ का पुनः समारम्भण करते हैं। यहाँ किसी कारण से ग्रास का तात्पर्य है कि अवसान भी सम्यक् रूप से नहीं हुआ और समारंभ भी उचित रूप से नहीं हो सका।

प्रणव, गायत्री आदि जप में एक-एक शून्य स्थल से (सानु विन्दु से) तथा विशेषतः मेरुविन्दु से इस अमाग्रास को काटना होगा। जब मेरुविन्दु में नाद का उचित विलय होगा, तभी तो वहाँ से पुनः नाद का सम्यक् उदय हो सकेगा। वहाँ

नाद है सूर्य। उसका ग्रस्त होना अर्थात् अपिहित होना। यह हमने पहले देख लिया है कि गायत्री जप में मेरुविन्दुरूपा जो अमामुख्यता है उसमें नाद के ग्रस्त होने की अति प्रबल सम्भावना रहती है। इसे स्मरण रखना होगा कि नाद के उदय-विलय में नार्दस्थल में ग्रस्त होना और स्व छन्द में विन्दुलीन होना एक बात नहीं है। विन्दुलीन हो जाने पर नादविन्दु अथवा सूर्यसोम का परिपूर्ण मिलन घटित हो जाता है। नाद ज्योतिः विन्दु सिन्धुरस में निष्णात हो गये। वे तुरीय एवं तुरीय के परे जो शान्त, शान्तातीतादि परक नैकटिक भूमियां हैं, उनकी कोटि में आकर उपनीत हो गये। इस प्रकार समस्त अप्रकट भूमि में रसनिष्णात नाद पुनः मानों ध्रुवकोटि या अमा के अंक में नव जन्म लेकर समुदित हो रहे हैं। जैसे प्राकृत जगत् में सुषुप्तिरूप ब्रह्मपुर से अभिनिष्पिन्न होकर प्रत्येक जीव जागृत अवस्था में व्यापार युक्त हो जाता है।

प्रणवादि के जप साधक को इसी मेरुविन्दुनिष्णात अभिन्नज्योतिरस में अभिसम्पन्नता (जप की सम्पन्नता) को यथासंभव पाने का यत्न करना चाहिये। इस विन्दुमेरुरूप 'महाविषुप' में निष्णांतलीन होकर ग्रस्तभीति पूर्णरूप से कब समाप्त होती है? जब 'भूर्भुवःस्वः' रूपी महाव्याहृतीत्रय तथा अ-उ-म रूपी मात्रात्रय के पश्चात् तुरीय (महः) अथवा तुरीया (अर्धमात्रा) सूर्याचन्द्रमसौ से विच्छिन्न पादमात्राकलादिरूप में वृत्तिमान न रहकर चिरकाष्ठा स्थिति में अभेद रूप हो जाये और जिस काष्ठा में परम परिशुद्धि में सूर्य हो जाते हैं ज्योतिषां ज्योतिः और चन्द्र हो जाते हैं 'रसनां रसतमः'। चिदाकाशज्योतिः एवं चिद्गगनचन्द्रिका के परस्परतः अभेद आलिगन में मिल जाने पर 'कुतस्तमः कुतः कषायः कुतोभयम्? ग्रस्तभीति है सूर्य सोम का विच्छेद; विग्रह। अधिभूत स्थल में कभी यह पृथ्वी तो कभी चन्द्र बीच में आकर इस विच्छेद को (ग्रहण को) घटित कराते हैं। अधिदैवतादि में भी विच्छेद होता है, परन्तु अन्य रूप से होता है। जैसे अध्यात्म में जब जाप चलता रहता है तब यदि जपकर्म का मुख्य निर्वाहयिता प्राण जप के अनुकूल ऋतच्छन्द में न चलकर अनृत विरुद्ध छन्द में चलता है, तब होता है सूर्यग्रहण और यदि मन जप के मरमी रस में निष्णात न होकर दौर्मनस्य विकल्पादि कषाय से क्लिष्ट रहता है, तब चन्द्रग्रहण की स्थिति आ जाती है। प्रथम दृष्टान्त में मन (चन्द्रमा) ने अपने वैमुख्य वैमनस्य से प्राण (सूर्य) को आच्छन्न कर लिया। द्वितीय में वाक्-शरीर एवं परिवेशरूपी स्थूल ने, गुरु संवेग संस्कार (पृथ्वी) ने, मन को ग्रस्त कर लिया।

अब जगत् की किसी भी घटना के उर्मिचूड़ा विन्दु (शिखर) और सानु विन्दु (धरातल) हैं पूर्णिमा-अमा। और वहाँ ग्रस्त होने की संभावना देखने पर विशेष प्रसंग में गायत्री जप का दृष्टान्त स्पष्ट हो उठता है। 'प्रचोदयात्' के पश्चात्

जो ऊँ है, उसके विन्दु में स्व छन्द में लीन न होने तक ग्रस्त हो जाने की संभावना अधिक रहती है। ग्रस्त होने से बोध होगा कि हठात् (By jerk as it were) रुक गया (अवरोध)। मानो हठात् उछल कर (By Jump as it werc) चूर-चूर हो गया (प्रतिरोध), हठात् आक्षिप्त होकर (By spasm as it were) उसका सुषमछन्द: (Harmonic wavc pattern) खो गया (विरोध) अथवा वह अब नाद वस्तु नहीं रह गया (उच्चारित ओम के समान कृत्रिम बाह्यस्वर में परिणत हो गया) यह है निरोध। इन चारों बाधाओं को काटकर उसे विन्दुशयान में उपनीत होना होगा। उदयकाल में भी व्याज विघ्न हैं। मूल से क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ के माध्यम से उदय होना उत्तम कल्प है। केवल नाभि से मध्यम है और केवल हृदय से अणुमध्यम है और मात्र कण्ठ से अधम है।

सीमा एवं परिसीमा-कला तथा काष्ठा—

ग्रस्तोदयञ्च ग्रस्तास्तमुभयं मुञ्च यत्नतः।
पादमात्राकलामैत्रं वरेण्यं नयतुदयम्॥ २३॥

पूर्वोक्त क्रम में मेरुविन्दु से नाद का अन्त एवं उदयग्रस्त न हो जाये इस सम्बन्ध में अवहित तथा यत्नवान रहना होगा। यह (विन्दुमेरु) विशेषतः 'अमा' का स्थल माना जाता है। उर्ध्व समसूत्र में दूसरा मेरु है नादमेरु। यह है पूर्णिमा का स्थल। पाद-मात्रा-कला को (परस्परतः) मैत्र सम्बन्ध में रखकर यहाँ जो वरणीय उदयकाष्ठा (परिसीमा) है, उसे प्राप्त हो जाओ। विन्दुमेरु में लयकाष्ठा है अथवा होने का सफल प्रयास हो रहा है। इस निमीलन और उन्मीलन की परिसीमा में उदयकाष्ठा एवं लयकाष्ठा को अपाकृत नहीं होना चाहिये। काष्ठा को अपकाष्ठा में विफल अपहृत नहीं होने देना चाहिये। गायत्री में 'वरेण्यम्' है उन्मीलन काष्ठा का स्थल। पहले 'सवितुः' पद है। यहाँ सविता स्वयं को नादशिखर पर समुदित कर रहे हैं। 'ण्यम' भाग को (कला को) 'णीअम्' रूप से दीर्घ स्वाबलम्बन द्वारा परि पूर्णता में प्रकट होने दो। क्या इस प्रकार स्फुरित हो जाने से चरितार्थता साधित होती है? नादवाहिता विन्दु में मज्जमान न होकर पूर्णकला में विकसित होती है। फलतः शिखर स्थल (वरेण्यम्) है नादविन्दु शिखर या सोमार्द्ध शिखर। यहाँ विन्दु को अपने पूर्ण प्रकटन परिचय में समुदित देखकर मानो नाद उससे कहता है "तुम रहो अभिव्यक्ति काष्ठा अथवा परिसीमा में, मैं तुम्हारी अर्द्धांगिनी कला का रूप धारण करता हूँ। तुम हो जाओ ज्योतिर्धन रस (सोम) की अभिव्यक्ति परिसीमा और मैं हो जाता हूँ तुम्हारे परिपूर्ण आलोक रस की नव-नव ऋध्यमाना कला!" इस कला की भूमिका के साथ तथा पास न रहने से सीमा यह कदापि नहीं जान सकेगी कि वह परिसीमा है। कला है तभी तो काष्ठा भी है।

सापेक्षभाव

यदि कहो कि यह तो सापेक्ष सीमात्व है। पारस्परिक अपेक्षा से, तुलना से कला कहती है कि तुम मेरी काष्ठा हो। काष्ठा कहती है कि तुम मेरी कला हो। किसी ऊर्मि शिखर पर आरूढ़ होकर इस अपेक्षा को समझ लो। एक ओर क्रमोन्नत है, अन्य दिशा में है क्रमनिम्न कलाविन्यास—आरोह एवम् अवरोह। भाव तथा बोध की भूमि में ही उसे देखो।

अनपेक्षभाव, वह कहाँ कैसे मिलेगा ?

किन्तु अनपेक्षभाव ? यह प्रायिक (approximate) रूप से मिलता है। यह प्राप्त होता है किसी सानु विन्दु में, शून्य विन्दु में At the neuter point अवसान आरम्भ के सन्धि स्थल में। यहाँ तो स्थिर हैं, परन्तु यहाँ से उठाने पर पुनः दोलायमान होने लगेगा। ऐसा न हो, इसलिये खोज है ध्रुव की। कहाँ ? उसी अमास्थल मेरुविन्दु में। यहाँ नादकला से सुवलित तनु विन्दु अन्य किसी अपेक्षा की परभूमि में पूर्व प्रकटन में विराजमान नहीं है। यहाँ नाद एवं कला, दोनों ही विन्दु के अपर निरपेक्ष रूप में निमीलित हैं। स्वयं निर्व्यूढ़ परम काष्ठा न होने पर भी यह है उसकी अव्यवधान प्रान्तभूमि। महामाया या परब्रह्म इस विन्दुमाया को साक्षात् माध्यम में रखकर अपरोक्ष साक्षात्कार में प्रकट होते हैं। 'ब्रह्मास्मि' है अवबोध का केन्द्रविन्दु। रसानुभूति में इस परम निमीलन विन्दु को मिलित करो। वही प्रमुदित रासशतदल ही है भाव। यहाँ प्रकाश एवं रस, दोनों ही एक मौन अव्यक्त परमता से मिलकर अपने कलाकलित, पादनिष्पादित, मात्रासम्मित रूप का परिहार कर देते हैं।

नाद का ग्रस्तास्त एवं ग्रस्तोदय--

अपर सानु विन्दु से विन्दुमेरु की एक अपूर्व विशेषता है। नादमेरु अथवा शिखर (यथा—वरेण्यम्), विन्दुरूप सोम नाद कला की सहायता से अपने रस को पौर्णमासी के दिन पूर्णरूपेण प्रजट कर देता है। वह तब पादमात्रा कलादि, बोधभावादि के वैर ग्रास से ग्रस्त होकर निष्प्रभ या कुण्ठितप्रभ होकर उदित नहीं होता। विन्दुमेरु में विन्दु 'अमा' नित्य ही है। उसकी परम तटस्थ अव्यक्त अभिसम्पन्नता की भूमि यह आकांक्षा करती है कि नाद के ग्रस्ताग्रस्त किंवा ग्रस्तोदय होने से कार्य नहीं चलेगा।

ध्रुवकोटि, ध्रुव प्राप्त होने के पहले—

इस ध्रुव या 'अमा' से पुनः चलना पड़ता है। पुनरोदय में ? ध्रुव में आकर भी पुनरावर्त्तन का चक्रम् ! नहीं। तब 'अमा' में जो 'मा' है उसे ध्रुव में अच्छी

तरह मिलाओ। तदनन्तर 'न स पुनरावर्त्तते'। प्रणवादि की सहायता से जो साधना की जाती है, वह इसी निमित्त से। ठीक से इस ध्रुवकोटि को (the point that opens into the Absolute) मिलाने पर भी यदि वह ध्रुव धूर्णित होता है, तब यह धूर्णन है उसी रासमण्डल विमण्डल का दोलन। समझो! यदि नहीं समझे, तब जप की माला को प्राण के हिरण्मय सूत्र में ग्रथित करके मन की मणिमाला को घुमाते रहो।

ग्रहण में गंगा स्नान पुरश्चरण आदि का अध्यातममर्म--

गायत्री जप के दृष्टान्त से नाद-विन्दु कला के उदय-विलय-अनुदय की अवस्थाओं को संक्षेप में देख लिया। प्रणव अथवा किसी बीज (जैसे ह्रीं) अथवा नाम में इस अमा-पूर्णिमा के दोनों मेरुओं को सविशेष रूपेण अवहित करके जप करना होगा। अर्थात् पूर्ण उन्मीलन तथा पूर्ण निमीलन के दो स्थल हैं। इन दो स्थलों में ग्रहभीति तथा ग्रहण किंवा ग्रस्त हो जाने की आशंका बनी रहती है। सर्वत्र ग्रस्ता-ग्रस्त रूपी दो अवस्थायें घटित होती रहती है। उस समय विशेषतः गंगास्नान-पुरश्चरण प्रभृति किया जाता है। गं + गा = नाद—विन्दु की अविनाभाव वहमानता। उसमें अवगाहन करो। साथ ही संख्या का निश्चित संकल्प करके पुरश्चरच में लग जाओ। जप का ग्रस्तभाव काटने में ये दो भाव उत्तम हैं। प्रथम है विशेषतः प्राण तथा रागमार्ग। द्वितीय है क्रिया एवं विधिमार्ग। प्रथम गं = नाद—विन्दु रूप प्राण-ब्रह्म, द्वितीय है गच्छति। गच्छति द्वारा ग्रस्तादि बाधा का निरसन करके 'पुरश्चरति' = सिद्धि की ओर अग्रसर हो जाओ। (शुभ) संकल्प द्वारा वस्तुगत बाधा का, उसमें निष्ठा द्वारा देश बाधा का, जप संख्या की पूर्ति द्वारा काल बाधा का, जपादि में छन्दोग होकर छन्दो बाधा का, भगवान को फलसमर्पण करने से पाद-मात्रादिगत बाधा एवं किंचित कार्पण्य बाधा का परिहार करो। हवन में जपशक्ति का साक्षात् तेजः, ओजः एवं भर्गः के आकार में आहरण करो। साथ ही शान्ति वचन, ध्यान, स्तव कीर्त्तनादि द्वारा अमृताभिषेक भी करो। पुरश्चरण प्रसंग का वर्णन आगे किया जायेगा।

ग्रहण काल में पृथ्वी के समसूत्र में आने का तात्पर्य--

ग्रस्त आशंका निवारण के लिये सूर्य-चन्द्रमा (नाद तथा विन्दु) को कदापि पार्थिव समसूत्र में नहीं लाओ। अर्थात् तुम्हारी साधारण वैखरी वाक् एवं उसके साथ साधारण प्राणन् एवं चिन्तन जिस पर्दे या Level में रहकर तुम्हारी इस सामान्य जीवन यात्रा को चलाते रहते हैं, सावधान! तुम्हारा बीज-नामजप (विशेषतः नाद विन्दु) उस पर्दे के पीछे न रह जाये अथवा उससे नीचे न उतर जाये। विज्ञान की भाषा में उसका Energy Level high होना चाहिये। जप का

potential तथा Kinetic plain कहीं तुम्हारे पार्थिव plain में न उतर जाये। आने से ही संकट है। पार्थिव अर्थात् जिससे जड़ता परिच्छेद Rigidity, Mutual Extention) घटित होता है। इन्हें पृथ्वी तत्व में मत मिलाना। यह तत्व द्यौः तथा अन्तरिक्ष के साथ का भजनीय तत्व है। इन सबकी व्याख्या पूर्व खण्डों में की जा चुकी है। बीज शक्ति तथा नामशक्ति को पृथ्वी में धारण कराने के लिये ही है भगवान का कूर्मावतार। इसे उर्ध्व में उत्तोलित करने वाली शक्ति है वाराही !

जप में आन्तर एवं अध्यात्म होम भावना कैसे हो—

अक्षरमक्षरब्रह्म चेकाराद्यग्निदीपितम्।
नादविन्दु रवीन्दू च सूर्यसोमाग्निमूर्तिभृत् ॥२४॥

मन्त्र में जो अक्षर (वर्ण) है, उसे अक्षर ब्रह्म रुप में जानो। उसमें 'ई' कारादि रूप में (जैसे ह्रीं) हैं दीपक (उर्जस्वान्) अग्नि। शोर्षस्थ नादयिन्दु को सूर्य सोम जानो। अतएव अक्षरब्रह्म मन्त्र में अग्नि, सूर्य तथा सोम रूपी मूर्त्तित्रय का भरण करते हैं। अतः—

होमे तदक्षरं वेदीमीकारादीन् हुताशनम्।
नादाहूतिञ्च स्वाहेति सूतः सोमश्च बिन्दुना ॥२५॥

जब बीजादि द्वारा होम किया जाता है, तब भावना करो कि वह अक्षर ही है तुम्हारी वेदी। 'ई' कारादि दीपित उर्जित स्वर उस वेदी में आहित तथा उद्दीपित हुताशनरूप हैं। 'स्वाहा' कह कर उसमें आहुति देता है नाद। सोम (अमृत) विन्दुरूपेण उस नाममहिम्नि समुज्वल अग्नि से अभिषिक्त होता है। यह न होने पर यज्ञफल अमृत प्राप्त नहीं होता। यहाँ भी सूर्याग्निसोम रूपी त्रितत्व का पारस्परिक उपकुर्वाण अविनाभाव समझ लो—

वागग्नेर्हवनाग्नेवैं फलं दशगुणं ततः।
प्राणे दशगुणं तस्य लक्षं भावेऽमृतं दिवि ॥२६॥

यज्ञ फल जो अमृत है उसे काष्ठा में दिखलाने के लिये कहा गया है कि वाक् में जो अग्नि है केवल अथवा मुख्यतः उसके उपयोग करने से जो फल प्राप्त होता है, उससे दशगुणित फल होता है होमाग्नि में बीजादि के साथ आहुति करने से। (इसी कारण पुरश्चरण में मन्त्र जप का होम करने की विधि प्रचलित है)। तदनन्तर बाह्य अग्नि के स्थान पर प्राणाग्नि (प्राणायाम-श्वासजप आदि) में बीजादि का हवन करने से दशगुणफल मिलता है। भावध्यान की अग्नि में हवन का फल है लक्षगुण। और चिदग्नि या ब्रह्माग्नि में हवन से प्राप्त होता है साक्षात् अमृत। यह साध्य होता है भगवान अथवा भगवती के सम्मुख सर्वसमर्पण द्वारा।

यहां पर वाक् तथा होमाग्नि की अग्निस्थानीय, प्राण की सूर्य एवं मात्र की सोम-स्थानीय भावना करो।

क्रियामात्र मे उन्नत तथा सानुस्थल में वीर एवं धीर होना

ग्रहण के सम्बन्ध में यहाँ और अनुसरण नहीं किया जायेगा। फिर भी इस सम्बन्ध में दो बातों का प्रणिधान करो। प्रथम यह कि पूर्वोक्त ऊर्ध्व मेरु एवं अधः मेरु में ग्रस्तसंकट की विशेष संभावना है। प्रकृति में सभी जगह जड़, प्राण, मन आदि में परीक्षा करके समझो। मृदुस्थल में यहाँ तक कि मध्य स्थल में कभी भी चरम तथा विप्लवी संघर्ष संघटित नहीं होता। दृष्टान्त में नहीं जा रहा हूँ। फिर भी एक दृष्टान्त है—जैसे यह विद्युत्गर्भ मेघ तथा उसके विपरीत यह विद्युत्गर्भा पृथ्वी! बिजली गिरने का विनिमय कब होता है? दोनों को ही "अधिमात्र" होकर तीव्र संवेगयुक्त होना पड़ेगा। उर्ध्व में उठकर तुम्हारी उर्जित अथवा Kinetic शक्ति जब सर्वाधिक होगी तभी उसके निम्नतल में आ गिरने का झोंका (Potential Drag) सर्वाधिक होगा। पुनश्च, जहाँ निम्न बिन्दु में स्थिर होने का झोंका (Rest potential) सर्वाधिक है, वहीं तुम्हें ढ़केलने वाला moving potential सर्वाधिक हो जाता है। अतः चरम पर आरुढ़ रह कर वीर तथा सानुपीठ (निम्नपीठ) पर आकर 'धीर' हो जाओ।

जो साध्य है और जो बाध्य है, उके सचरम संघर्ष का स्थल कहाँ है?

वाधिका साधिका चापि चतुर्वृत्ता हि रोधिका।
साध्यं बाधयते सा च बाध्यं साधयति क्रमात्।
साध्यसाहसकाष्ठायां भूयिष्ठां बाध्यविक्रमः ॥२७॥

रोकि शक्ति चार प्रकार से वृत्तिमती होती है। साक्षात् रूप से बाधिका एवं साधिका (जैसे चित्तवृत्ति का रोध करने पर योग रूपी फल साधित होता है)। इसके अतिरिक्त अन्य दो स्थल हैं जहाँ पूर्णतः साक्षात् रूप से न करके, क्रमशः रोधिका क्या करती है? जो बाधा (बाधयोग्य) है, उसे साधक बना देती है, जैसे कहीं विशेष अल्पमात्रा में क्रमिक भेषज का प्रयोग रोग तथा विष की निवृत्ति करता है। इसके अतिरिक्त वह जो साध्य है, साधन योग्य है, उसे बाध्य-बाधित, बाध्य-योग्य कर देती है। इसके दृष्टान्त का भी चिन्तन करो। अतः देखो जिस स्थान पर साध्य साहस की काष्ठा (The top level of Success co-efficient on fruition factor) है; वहीं बाध्य का विक्रय भी भूयिष्ठ (At its highest efficiency level) है। इसी कारण साध्य-बाध्य अधिमात्र होकर चरम संघर्ष स्थल बन जाते हैं। इस स्थल पर बाधा जिस प्रकार से अजेय महाबली दैत्यरूपा है, उसी प्रकार बाधा निरसन क्रिया भी अमोघ आयुध शक्ति समाश्रित हो जाती है। यहाँ

लक्ष्य करो कि गायत्री व्याहरण में छ शून्य तया छ पूर्ण स्थल हैं। विन्दु मेरू (origin) में प्रवृत्त-प्रत्यावृत्त छ उर्मिलेखों का परीक्षण करके इसे समझो।

गायत्री आदि व्याहरण में शून्य-पूर्ण स्थल और उससे ग्रस्त भय का निवारण—

गायत्री आदि व्याहरण में उक्त पूर्ण शून्य स्थलों का इस प्रकार से परीक्षण करो—

षट् शून्यानि सुखं स्पृष्ट्वा षट् पूर्णानि क्रमान्वयम।
शून्यपूर्ण स्थले ब्रह्मसंस्पर्शमुखमश्नुते ॥ २८ ॥
स्पर्शं ग्रसेत न स्पर्शं पूर्णं न नादशेखरे।
कला नादकलायाँ न विन्दुं न शून्यपूर्णतः ॥ २९ ॥
पादेनपद्यमानस्य मात्रायां स्यच्च नीयते।
नाकलितं कलाया वा काष्ठायां यत् समाप्यते ॥ ३० ॥

मेरू विन्दु है शून्य तथा पूर्ण के एकत्रीकरण का स्थल। प्रणव के साथ गायत्री व्याहरण करते समय इसी मेरू विन्दु की शून्य कला (Aspect) का स्पर्श करके, अथवा तटस्थ होकर (As closely as possible to the origin) आरम्भ करना होगा। वाक्; प्राण तथा चित्त की त्रयी जब तक एक धीरता के उपयोग में (Requisite level में) उपनीत नहीं हो जाती, तब तक ऐसा तटस्थ समारंभ भी संभावित नहीं है। अतएव इसमें साधना-भाव एवं वैराग्य के किंचित सौष्ठव की अपेक्षा रहती है। जैसे संगीत में किसी राग के आलापन में उस राग का जो ध्रुव अथवा वादी स्वर है उसके सम्यक् आरंभण एवं उसमें आधार रूप से स्थिति सहज ही प्राप्त नहीं हो जाती। जो कुछ भी हो, यह हैं छ शून्य स्थान (Potentlal Points)। इन छ स्थलों के व्याहरण काल में 'सुख' (सहज में) स्पर्श करके जाना होगा जिससे नाद संवेग में (Kinetic Momentum द्वारा) ये स्पर्श स्थल ग्रस्त (Merged or by passed) न हो सकें। इसे कहते हैं स्पर्शग्रास।

तदनन्तर आदि एवं अन्त के दोनों प्रणवों के साथ हैं, छ उर्मिशिखर अथवा पूर्ण के स्थल। इन स्थलो में वाक्-प्राण-चित्त-उर्मि प्रभृति उन्मेष के एक-एक (आपेक्षिक) काष्ठा स्थान में आकर एक-एक सुषम आकृति को ग्रहण करती हैं। इन आकृतियों को अव्याकृत (uumanifiest), अतिव्याकृत (over-manifest), अवव्याकृत (under Toned) एवं विकृत (unsymmetrical) दोष से मुक्त रखना होगा। यदि सुषम (Parabola) आकृति है, तब उसका यथार्थ vertex प्रदर्शित होना चाहिये। यह यत्न से साधित होता है। सुषम नादवाहिता में जो अक्ष (Axis) चल रहा है; उसके सम्पर्क में विषम; भग्न अनुपात में (In eccentric

relation) उक्त उर्मि श्रेणी नहीं चलेंगी । अन्त में शून्य तथा पूर्ण को एक में मिलित करने वाला स्थल जो विन्दुमेरु है, वहाँ समापन (closeup) सम्यक् रूप से होने पर गीता की भाषा में 'ब्रह्मसंस्पर्शसुखमश्नुते' होने लगता है । यह है अभिसम्पन्न होने का स्थान । यहाँ अवश्य शान्त होगा एवं क्रमोपसंहार से आत्यन्तिक सुख मिलेगा । तब अभिनिष्पन्न एवं क्रियानिष्पाद्यता नहीं है ।

छ शून्यों में से एक निरपेक्ष नित्य (अमा) है, यह देखा जा चुका । इसी प्रकार छ पूर्ण स्थलों में एक सर्वाधिक उत्कर्ष का स्थल भी है (पूर्णिमा), यह भी देखा जा चुका । गायत्री में यही है 'वरेण्यम्' । यह है नाद-विन्दु-कला को महामहिम्नि में प्रस्फुटित करने का स्थल । इसे महिम काष्ठा कहते हैं । और मेरुविन्दु है परमकाष्ठा । यहाँ संस्पर्श हो जाता है 'ब्रह्म संस्पर्श । पहला है अतिशय का उत्कर्ष, दूसरा है निरतिशय । यह विषय विचारणीय है ! इस बार सतर्क हो जाओ जिससे इन स्पर्श स्थलों में स्पर्शग्रास घटित न हो सके । नादकला स्थलों में (up and down wave aspects स्थल में) कलाग्रास संघटित नहीं होता । उन स्थलों में Bulging in or out (अथवा अन्तर्बहिस्फीति) मानो नादवितान आकृति सौष्ठव Symmetry and curvatnre) को क्षुण्ण नहीं करता । जैसे 'धीमहि' में धी को शिखर पर दिखला कर पुनः ह्रस्व 'हि' को उसके स्वच्छन्द सानुस्पर्शी ध्वनिस्तर से उठा लिया गया अथवा उसमें 'मीडादि' कुन्तन लाकर उसे स्वस्तर में (Horizontally) प्रान्दोलित किया गया । इसलिये आरोह—अवरोह में मध्याक्ष (शुक्ला कृष्णा अष्टमी) एवं एकोनपूर्ण शून्य स्थल (शुक्ला कृष्णा चतुर्दशी) में सविशेष रूप से सतर्क रहना पड़ता है । ये सभी पर्व तिथियाँ हैं । एकादशी तथा संक्रान्ति का प्रसंग फिर कभी कहा जायेगा । यहाँ यह लक्ष्य करो कि अष्टमी आदि पर्व एक प्रकार से विश्वव्यापार में संख्यानिष्ठ उर्मि किंवा स्पर्श विज्ञान की अपनी 'घरेलू बात' है । संगीत इसी स्पन्द सांख्य-संख्यान का सुषम तथा मनोहारी रूप है । अतः जप में सांख्य-संख्यानगत इस सुषमता का सुरक्षित रहना आवश्यक है । फिर भी जप विज्ञान- संगीत विज्ञान नहीं है । क्योंकि जप प्रमेय या गेय नहीं है । इस भेद को याद रखना होगा । गायत्री के त्र्यम्बक, मधुमती इत्यादि द्वारा पुटित जप में क्रम सन्धि समूह को ठीक रखते हुए परिणय, अन्वय, समन्वयादि क्रम में उस परम समन्वय को पाना पड़ेगा । 'एकमात्र' किसी मन्त्र को दूसरे मन्त्र के साथ ग्रथित करके व्याहरण में अर्धमात्रा को प्रसन्न करना होगा । जैसे संगीत में दो शुद्ध रागों का मिश्रण । मिश्रण में परिणयादि का रहना आवश्यक है । साम्ना उद्गीत होने पर वेदमन्त्र उद् + गी + थ आकृति में स्थित रहता है । अतः उसके व्याहरण में व्यभिचरण नहीं रहता ।

स्पर्शग्रास, कलाग्रास एवं पूर्णग्रास रूपी ग्रासत्रय नाद के बहिर्व्यक्तरूप वैखरी में सविशेष रूप से यत्न के साथ प्रतिविधेय हैं । किन्तु अन्तः में व्यक्त अथच

बाह्यत: अव्यक्त मध्यादि भूमि के इस शून्य-पूर्ण सामानाधिकरण स्थल में भी जो चरम ग्रास है; उससे स्वच्छन्द एवं मुक्त हुये बिना ब्रह्मसंस्पर्श रूप आत्यन्तिक सुख का परम लाभ नहीं मिला। प्राण अपने प्राणों के अमृत स्पर्श से वंचित रह गया, क्योंकि निरुद्ध निर्झर सरिता के समान अस्फुटित संवेग निःशेष हो गया।

जप के पंचमुख: का वर्णन

वाङ्मुखः प्रथमं प्राणो मनोमुख्यस्तुदुत्तरम्।
चित्तचेतोमुःख पश्नाच्चितिमुखश्च सोऽन्तिमे ।।३१।।

जपादि साधन में चलना आरंभ करके प्राणसंवित् सर्वप्रथम वांगमुख में चलता है। मन को भंग करके इसे मनोमुख करना पड़ता है। तब मन की रसना चलने लगती है। किन्तु क्या मन की अव्यक्त संस्कार भूमि है चित्त? उसे भी एक बार साथ लेना होगा। किन्तु यह सहज नहीं है। यहाँ पर अपनी घृतिमति के साथ 'त्वत्पादाम्भोजरति' आनी चाहिये। इसके पश्चात है रसोज्वल पन्थाः—उसमे चेतोमुख तथा चितिमुख रूपी तुरीय तथा अन्तिम मुख भी है। चेतोमुख में प्राण सरितानाथ के सन्निधान में आती सरिता के समान उछल उच्छ्वास गरिमा से रसभुक् हो जाता है। अन्त में सरितानाथ के साथ सम्मिलन पूर्ण होते ही चितिमुख। प्रथम 'रसिकिनी'; द्वितीय में 'रसो वै स:', ह्लादिनी का सार मिल जाने से 'एकरस'। इस पंचमुख में प्राण को ज्योतिः प्रकाश की दिशा में अन्त तक चलने दो। 'अस्मि' में ही समाप्त न करो। तब जप हो जाता है परमशिवायन।

विन्दु है समस्त सन्धान का सिन्धु

सूर्य (ज्योतिः) एवं चन्द्रमा (रस) मानो परस्परतः एक दूसरे को खोज रहे हैं। मानो परस्परत: 'लुकाचोरी' खेल रहे हैं। अतः जो समसूत्र पार्थिव है, वह ग्रहण के ग्रासमय से भीत है। परन्तु पंचम मुख में वह भय कट जाता है। गायत्री जप में प्रणव के साथ व्याहृतित्रय की सहायता लेकर साधिष्ठ वांगमुख हो जाओ। प्रथम पाद में रसोज्वल (वरेण्यम्) लोल मनोमुख हो जाओ। द्वितीय पाद में चित्त को ध्यान की (धीमहि) रसोज्वल भूमि में तटस्थ कर लो। तृतीय पाद में रसोज्वल सत्ताभृक् होने के लिये चेत: मधुच्छन्दसा प्रचोदित हो उठे। (चेत: शब्द का 'ए' कार इस परम प्रेरणा का द्योतक है) और अन्तिम प्रणव की सहायता से विन्दुलय द्वारा चितिमुख हो जाओ। यही विन्दु है तुम्हारे समस्त संधान का सिन्धु; यह स्मरण रक्खो।

पद्यमानता का षट्पदीरूप—जपध्यान तथा रसास्वादन में

इस स्पर्शग्रासादि निरूपक कारिका की व्याख्या में प्रसंगत यह सब आया, तदनन्तर कारिका में पद्यमानता, मीयमानता, आकल्यमानता एवं समाप्यता को ग्रस्त-

मुक्त करने का आदेश है। ये चारों पूर्व परिचित पाद-मात्रा-कला-काष्ठा ही हैं। उत्पन्न से प्रारम्भ करके अभिसम्पन्न-अभिनिष्पन्न पर्यन्त सब कुछ का जो पद्यमान होने का ऋच्छतिरूप है, उसके किसी भी स्थल में 'सूर्यचन्द्रमसौ' युगल को ग्रस्त नहीं देखा जा सकता। गायत्री में भी उदय-विलय प्रणव के साथ छ पाद हैं। इन्हीं छ पादों में ब्रह्मयोनि गायत्री की पद्यमानता है। उदय में उत्पन्न; व्याहृतित्रय में समुत्पन्न, 'वरेण्यं' तक उपपन्न; धीमहि में प्रपन्न, 'प्रचोदयात्' इसमें प्रतिपन्न एवं विलय प्रणव में अभिसम्पन्न। यह सम्यक् रीति से होने पर अभिनिष्पन्न,-निष्पाद्यता का अवसान हो जाता है। वाक् का आश्रय लेकर प्राण (सूर्य) एवं मन (चन्द्रमा) की परम की ओर अभिमुखी पद्यमानता सम्पन्न हो जाती है।

जो कुछ बीज आदि उत्पन्न हो रहे हैं, उनमें यही षट्पदी पद्यमानता है। अन्त में पुनः 'आधारमानन्दमखण्डबोध' स्थिति स्वभाव में सम्पन्न निष्पन्न हो जाये; इसीलिये सब कुछ (जैसे बीज) प्रतिपाद में स्वयं का विस्तार-विन्यास करता चलता है। रस सागर से रसकणा ऐसे ही प्राण-तपन करके उदित उत्पन्न होते रहते हैं। किन्तु अदृश्य—मानो स्वयं को देखकर भी नहीं देखता। अभी भी वह विमना-अजातमना है। मननशील संकल्पहिम में वह हो जाता है समनागाढ़। स्वयं को एक अबूझ अपूरण कामना रूप में पहचानने लगता है। तब उसका क्या होता है? 'यह' 'वह' तथा इन दोनों के व्यवधान (भूर्भुवः स्वः) इन तीन में जो अबूझगमना कामना लेखा (The unpiloted quest of unillumined yearning) है और उसके सविता का जो द्युलोक है, उससे अपनी वर्त्मरश्मि को मांग लेता है। कहता है 'हे मेरे सविता! तुम्हारा जो वरणीय भर्ग है वह हमें वांछित पद से चलने की प्रेरणा तथा छंदः प्राप्त कराये।' जो मात्र उत्पन्न था, वह 'यह' 'वह' और इन दोनों के मध्य के व्यवधान का आविष्कार करके हो गया समुत्पन्न।

अबूझ को प्राप्त करने की कामना जबतक किसी केन्द्र से जड़ित नहीं की जाती, तब तक ऐसा नहीं होता। जैसे जलीय वाष्प तथा घनरूप वारिकणा। वह वारिकणा का रूप धारण करके शिशिरकणा कहलाता है और यहाँ के किसी तृण-कुसुम के ऊपर मणि के समान विराजित हो जाता है। अथवा वह उपर की ओर चलना चाहता है इस आशा से कि मध्य के अन्तरिक्ष का अतिक्रमण कर सकूँगा! ऊपर उपनीत होते ही वह रचेगा वही वारिदवरण की रसनिबिड़ तनुरुचि! तब वह है उपपन्न। (अर्थात् वह वाष्प का रूप धारण कर लेगा)। तदनन्तर किसी एक सावन के बादल से निराली निझूम संध्या में 'रिम-झिमि बरसकर' पुनः लौट आया उस स्थान पर जहाँ उसके 'मन का मोर' अपने प्रीतम के मंजीर छन्द पर अपना नटन छन्द प्रारम्भ करने लगेगा; अतः उसकी कामना का समस्त लक्ष्य सावन की रसवर्षा में मिल गया। उस दिन वह हो गया प्रपन्न। प्रीतम के मंजीर छन्द में उसका

अपना नटन छन्द जितना सधता जायेगा, वह उतना ही प्रतिपन्न होता रहेगा। तदनन्तर सम्पन्न और निष्पन्न के संवाद में भावमौन 'महा' तथा 'परम' मग्नता में अन्तः में छिप जाता है।

इस प्रकार एक रक्षकणा को उपलब्ध करता हूँ सहचरी विश्व के प्रत्येक रेणु के अपने रसाभिसार पथ का अनुसरण करते हुये ! यह स्मरण रखना होगा कि रस को छोड़कर; रास ही नहीं-सार भी नहीं मिलता और मधुर के बिना सब कुछ विधुर है ! ब्रह्म तो अस्ति-भाति रूप से तो कभी भी अस्तमित नहीं है। तब (प्रियं) कब होता है ? ब्रह्म आत्मा ही है इस परम समीकरण में। आत्मा ही प्रियता के श्रेष्ठ बोध की एकमात्र खान है और एकमात्र 'परस मणि' भी है। इसी आत्ममधुर 'मात्रा' में निखिल सब कुछ मधुर है। यहाँ विचार करो कि यदि 'अस्ति' को आधाररूपेण विश्वभुवन में स्थापित करो, तब भाति का साक्षात् रूप होगा 'भास्कर'। प्रियं हो गया चन्द्रमा। केवल अधिभूत पर ही विचार मत करो। अधिभूतादि पंचग्राम का समीक्षण करो।

जप में मात्रा की प्रयोजनीयता, दृष्टान्त

पद्यमानता की कथा के साथ 'सूर्य चन्द्रमसौ' एवं पद-पद में अन्योन्य मिलन पूरण प्रयास को कथंचित प्रपंचित करके कहा गया। उत्पन्न से लेकर निष्पन्न पर्यन्त किसी भी क्षेत्र में इस भाति-प्रियम्, श्रेयः—प्रेयः, छन्दः—सुर के मिलन प्रयास को कुण्ठित नहीं होने देना चाहिये।

ग्रासकरी कुण्ठा ! इसे हटाने के लिये ही वाक्, प्राण तथा चित्त को ध्वनिग, छन्दोग तथा धामगा करने की साधना है। मीयमान के स्थल में सर्वप्रथम सब कुछ को संख्या-संख्यान छन्दः में लाकर संख्येय करो। तत्पश्चात् संख्येय हो जाये प्रमेय। इस प्रमेयता की अवधि है प्रसंख्यान प्रान्त पर्यन्त। तदनन्तर अप्रमेय की महान् एवं परम भूमि ! स्थूलतः गायत्री व्याहरण में अग्नि (या सूर्य) मात्रा एवं सोममात्रा सात संख्या में सुषम विन्यास में रहते हैं। 'वरेण्यम्' है दोनों का सौषम्यशेखर स्थल। कालिक मात्रा के अनुसार $4+4\times4+4=24$, यह संख्या छ पादों में रहेगी। जैसे संगीत में ताल। यदि इन द्विविध मात्राओं को क्रमशः सुरमात्रा एवं तालमात्रा कहें तब इनकी विशेष अध्यक्षता करते हैं चन्द्रमा एवं अर्यमा (सूर्य)। कहीं भी मात्राभ्रंश नहीं होने देना चाहिये। मात्राज्ञान रहित कोई भी साधन नहीं चलता।

कला की कल्यमानता-त्रिसंध्या दृष्टान्त

तदनन्तर कला को भी अनुरूप भाव से समझ लो। कला विविध रीति से आकलित तथा भावित हो सकती है। इस प्रसंग में यह भावना करो—

उषसं पश्य पूर्वाह्नमहर्मध्यञ्च भर्गसा।
सायान्हं पश्य चास्तान्तमपरान्हं प्रचोदयात् ॥३२॥

गायत्री जप में उदय ओंकार को सविता स्वर की उषाकला अथवा उषा अवस्थारूप में देखो। व्याहृतित्रय में देखो (समुत्पन्ने) प्रातः या पूर्वान्ह। 'तत् सवितुः' से 'धीमहि' पर्यन्त अहर्मध्य एवं 'वरेण्यं' है शिखर स्थल। इसे 'भर्गसा' देखो। शेष पाद 'प्रचोदयात्' है अपरान्ह। विलय प्रणव स्वयं सायान्ह (अस्तकला) है। इस पंचकला या पंचअवस्थान में नादविन्दु (सूर्य-सोम्) का पंचधा कला रूपेण स्वाकलन ! वाक्, प्राण, मन इनमें से किसी को भी, इस अवस्थानपंचक को, अव्यवस्थित मत करने दो। इस अव्यवस्थान निवारणार्थ • क्या करोगे ? तीनों सन्धि में तीन बार 'सन्ध्यामुपासीत'। मध्यमा के मेरुविन्दु से लेकर वैखरी भूमि में नाद उदय की जो उषा (चारमात्रा अथवा दण्ड) है, वह है ब्राह्ममुहूर्त्त। इस समय जागते रहना चाहिये। वैखरी में उत्थान की जो सन्धि है उसमें प्रातः सन्ध्या होती है। गायत्री में ब्राह्मीतनु में ध्यान। अहर्मध्य में जितने समय तक 'वरेण्यम्' शिखर पर नाद आरुरुक्षु रहता है, तब उरुक्रम किंवा विष्णु अध्यक्ष हैं, अर्थात् उस समय अक्ष है उरुक्रमाधिकरण में। इस संन्धि में होती है मध्यान्ह संन्ध्या।

प्रातः आचमन में 'यद् रात्र्यामकार्य' इस मन्युकृत 'दुरितं' का नादज्योतिः सूर्य में (सूर्ये ज्योतिषि) हवन करो। इस स्थल पर मन्यु है मुख्यतः तामस। अतः ज्योतिषा बाधयस्व तमः' "हे नादरूपी सविता ! तुम्हारी ज्योति से अजागर्त्ति (सुप्त) भूमि से लेकर जागर्त्ति भूमि से स्थूलतः उठने पर भी जो सूक्ष्म तमसा का ग्रास है, उस ग्रास से हमें मुक्त करो।

तदनन्तर वरेण्यम् में उपनीत होकर जब तुम्हारे ज्योतिरस की महामहिम्नि निष्णात होगी; तब केवल सूक्ष्म ही नहीं तुम्हारा 'भर्गसा' 'कारण' तमसा को भी अपनीत करके 'तमसः परस्तात्'- तुम्हारे स्वरूप का अनभिहित दृष्टि से अवलोकन कर सके इस हेतु हमारी धी को प्रचोदित करो। मध्यान्ह आचमन से 'विष्णुना घृता' पृथ्वी को प्रसन्न करना होगा। जब पृथ्वी साधिका न होकर बाधिका होती है, तब हो जाती है ग्रस्ताशंका। इसका अनुधावन करो कि पृथ्वी कैसे बाधिका बन जाती है और कैसे साधिका हो सकती है। सब कुछ को पृथु भाव से धारण करने के कारण वह है पृथ्वी। अतः नाद के मेरुस्थल में आने पर देखना होगा वहाँ कौन पृथुतम और कौन अणुतम होगा। 'वरेण्यम्' स्थल में ही अणु-तनु-पृथु के अन्योन्य अनुपात सुसमंजस करने का स्थान खोजो। इसके 'व' से जो कुछ तामस है वह अणु हो जायेगा, राजस 'रे' द्वारा तनु होगा और सत्व स्वयं 'णी+अयम्' के द्वारा पृथूर्जित होगा। अतः यह हुआ उत्तमाः;तनुरजाः सत्वविशाल का स्थल।

इसमें उत्पन्न होकर 'धीमहि' द्वारा इसी में प्रपन्न हो जाओ। सायं संध्या कब होती है ? वैखरी से पुनः मध्यमा में लौटने की संधि में। यह है शैवमुहूर्त्त। यहाँ समस्त दुरित (दूर+इत=चलित) के 'सत्ये ज्योतिषि परमात्मनि' में हवन करने का स्थल है। यहाँ ज्योति को सत्य रूप परमात्मा के साथ अभेद भावना से मिलाने वाला चरम हवन प्रारम्भ हो जाता है। इसके द्वारा प्रथमतः अभिसम्पन्न तथा पश्चात् में अभिनिष्पन्न होता है। देखता हूँ कि परमात्मा में सब कुछ का स्वाहायन जब तक नहीं हो जाता, तब तक ज्योतिः स्वयं को इतरनिरपेक्ष 'एकरस' भूमारूपेण प्राप्त नहीं कर सकती। भाति से प्रियम् में मानो एक अबूझ दीवाल रह जाती है। सत्य में प्राप्त हुआ अस्ति। ज्योतिषि=भाति एवं परमात्मति=प्रियम् श्रेष्ठम्। तान्त्रिक सन्ध्या में प्रयुक्त 'आत्मतत्त्वाय स्वाहा, विद्यातत्त्वाय स्वाहा एवं शिवतत्त्वाय स्वाहा' इन तीन आचमनों की तदनुरूप भाव से भावना करो। केवल व्याहृति में ही नहीं, प्रत्युत गायत्री आदि जप में इन सन्धित्रय में ग्रहग्रस्तता शंका निवारणार्थ सन्ध्यात्रयी की उपासना करो 'सन्ध्यात्रयीमुपासीत'। वैदिक तथा तान्त्रिक संध्या में जप एवं ध्यान ही है मुख्य योग। शुद्धि-प्राणायाम-आचमनादि इसमें उपकुर्वाण हैं। साधारणतः जो कुछ मुख्यकर्म का अपकुर्वाण किंवा विकुर्वाण है, वही है ग्रहण (ग्रह के द्वारा)। यह लक्षण समस्त भूमियों मे संलग्न हैं। जैसे 'क' नामक कोई पदार्थ अपने अधिकार एवं छन्द में वृत्तिमान है। 'ख' नामक अन्य पदार्थ वेधनैकटिक (Penetrating its own field and sphere) सम्पर्क में आकर 'क' का अपकर्षण अथवा विकर्षण कर रहा है। (अवश्य ही 'ख' उपकुर्वाण हो सकता है 'क' का)। यहाँ दोनों के मध्य के सम्बन्ध को विग्रह कहते हैं। उस विग्रह के साथ इस विग्रह को मत मिलाओ। वहाँ 'वि' का अर्थ है अन्य। विग्रह में ग्रह की सृष्टि होती है। और ग्रह से होता है ग्रहण। यह साधारण परिभाषायें हैं। जगत् के नाना क्षेत्र में इनके दृष्टान्त हैं। 'अपकर्षण' आदि को हेय—अपकृष्ट आदि प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त नहीं करना होगा। नितरांग्रह=निग्रह।

पञ्चविध ग्रह, त्रिविध मण्डल और त्रिविध छाया

विकुर्वाणोऽपकुर्वाणः सकुर्वाणश्च वेधतः।
प्रत्युपकुर्वाणो चेति पञ्चविधो ग्रहः ॥३३॥

ज्योतिष्क जगत में युरेनस ग्रह का अपना कक्ष अन्य किसी ग्रह के वेधनैटिक प्रभाव में आकर विषम होते देखकर ज्योतिर्विदों ने उस अज्ञात ग्रह का आविष्कार किया। अपकुर्वाण का दृष्टान्त है सूर्य से पृथिवि आदि ग्रहों का उद्भव। अन्य किसी ज्योतिष्क के अपकर्षण के कारण (By tidal action) पहले ये सब सौरसत्ता से सम्मिलित रूप से अलग होकर पश्चात् काल में विच्छिन्न रूप से उद्भव को प्राप्त

हुये। सकुर्वाण के दृष्टान्त से Nebulae या spiral इत्यादि अथवा पृथ्वीपृष्ठ पर सागर का जो कलोच्छ्वास (Tides) है, उसमें सूर्य-चन्द्र दोनों ही सकुर्वाण हैं। पृथ्वी एवं चन्द्र (उपग्रह) परस्परतः उपकुर्वाण हैं। सामान्यतः सभी परस्परतः प्रतिकुर्वाण हैं। अणु के राज्य में, प्राण के क्षेत्र में इस पंचविध ग्रह को देख लो। मानसभूमि में इनका सही समाचार और भी अन्तरंग है। यह आगे कहा जायेगा। उससे पहले 'वेधतः क्या वस्तु है उसका चिन्तन करो, क्योंकि जपादि साधना में वेध विचार एकमात्र प्रासंगिक है।

मण्डलं पारिमाण्डल्यमुपमण्डलमेव च।
छाया तथा प्रतिच्छायोपच्छायेति त्रिधा त्रिषु ॥ ३४॥

जड़ प्राणादि समस्त पदार्थों का अपना-अपना मण्डल sphere of substance or being होता है। उस मण्डल का 'परितः' (sphere of substance or Being) जो है, उसे कहते हैं परिमण्डल। पृथ्वी-सूर्य आदि दृष्टान्त से इसे समझ लो।

सौम्य कहां किस प्रकार से ?

सौम्यं स्यान् नादवाहित्वं सौम्या स्याद् बिन्दुलीनता।
सौम्यः स्थलेषु स्पर्शः स्यात् सौम्यं संख्यानं जीवनम् ॥ ३५॥

देशकाल-उपादान इत्यादि के जिस आधारपट का विस्तार वरुण करते हैं, उस विततपट का रंजन करते हैं सोम। सोम राजा का यह रंजन सम्यक् रूप से हो जाने पर सोम का भाव हो जाता है 'सौम्य। गायत्री आदि जप में नादवाहिता-बिन्दुलीनताशून्य पूर्णादि रूप स्पर्श तथा मात्रादि की संख्या का सौम्य होना आवश्यक है। अर्थात् चन्द्रमा तत्व का अपने मान में रहना आवश्यक है। क्योंकि सौम्य रूपी जो मान है, वही संख्यान का प्राण है। जैसे गायत्री में कहाँ कितने प्रणव रखने होंगे, पादमात्रा की संख्या क्या होगी, इसका निरूपण सौम्य सूत्र से करना होगा। चवर्ग का आदि वर्ण (च) जो मातृका न्यास में 'च' है, उसे स्वयं ब्रह्म सिसृक्षा ने काम या संकल्प रूप करके अपने 'वाक्' के रूप में अंगीकृत किया है। तभी चं = चञ्चल्यते। मूल से सबकुछ प्रसृत होकर 'चं चञ्चल्यते' रूपा मातृका का संवल लेता है। अतः जहाँ मूल से यह विश्व एक ओर है विश्व देव्याः, वहीं दूसरी ओर है परा-पश्यन्ति रूपी वाक् की पुराणी प्रवृत्ति ! 'अहं रूद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यै-रुत विश्वदेवैः' यही है 'चं चञ्चल्यते' मातृका की प्रसव सम्भूति विभूति। आदि में जो 'कं' मातृका है, वह स्वयं को (भूमसुखस्वरूप को) आविः रूप में अथवा आदिम व्यञ्जनरूपेण मानो आविष्कार करती है। उन्होंने 'ख' रुप से सिसृक्षु हो कर स्वयं का ईक्षण महाव्योम (आकाश) रूप में प्रथमतः किया। 'गं' रूप से प्राण

अथवा मूलप्राणनप्रवणतारूप की प्राप्ति किया। मूलप्राणनप्रणवता 'एकोऽहं बहु स्याम्' है। किन्तु इस बहुत्व में से उसने 'एक' 'स्वयं' को निरस्त नहीं किया।

वह तब भी सूत्रात्मारूप से 'छन्दोभिः समन्वयकृत रूप से स्थित रह गया। इसी से नादाभिव्यक्ति होती है। 'गं' 'घं' दोनों को मिलाकर ब्रह्म की तपोमूर्ति का गठन होता है। 'गं' निखिल सृष्टि को पादमात्रा प्रदान करता है। 'घं' निखिल को अग्रसर करता है काष्ठा (Limiting value में) मे। 'तपसा' के वेविषाण—अध्वनीनभाव की काष्ठा है 'घं' मातृका में। इसी कारण सविता की रहस्य संज्ञा है 'घृणि'। तदनन्तर 'कं' रूप से जो काम ईक्षणादि क्रमेण सृष्टिकाम हुआ, वह काम इस बार मानो आत्मनीन (आप्तकाम) हो गया। 'कं' विन्दु से विश्वतः समुत्थित नाद पुनः विन्दु में ही स्वतः समावृत्त होने की इच्छा करता है। 'घं' तथा 'ङं' में है यही स्वतः समावृत्ति सूचना। इस मूल राहस्यिक व्यापार को गायत्री, प्रणव या अन्य किसी भी बीज के अपने साधन में प्राप्त करना होगा। इसीलिये जप में विन्दु से उदय, मध्य में पूर्णोदय और अन्त में विन्दु विलय होता है। जिस क्रम से सब कुछ आ रहा है, प्रकट हो रहा है, वह सब पुनः उसी क्रम से विलोम (वामेन) रूप से अपने आलय (धाम) में वापस चला जाता है।

'चं' है आदि मातृका

'चं चंचल्यते' इत्यादि सृष्टि के उस आदिम प्रथम वर्ग को भग्न करके द्वितीय वर्ग की आकृति में प्रदर्शित कर रहा है। मानो प्रथम (क वर्ग) ब्रह्म बीज का आन्तरण व्याकरण है। सृष्टि के प्रेक्षायतन के अन्तराल में मानों विश्व सिसृक्षु के आत्मस्वरूप का अवलोकन। यहाँ अभी भी प्रेक्षागृह की यवनिका नहीं हटी है। मानो विश्व सूत्रधार विश्व के आविर्भाव के पहले अपने सृष्टिसूत्र का सूक्त रूप से ध्यान कर रहे हैं। हमें भी यही करना होगा। हमारे अनुभव में (Experience) में यह है ध्यान नैकटिक (Intutional) भूमि। मन अपने मनन के द्वारा 'पर' में रहा है। (अपर से पर में) वह आकर देखता है कि 'चं चञ्चल्यते'। 'चं' चंचल है किन्तु उसमें है छन्द (order, Law, uniformity)। 'चं' हो जाता है 'छं'। अर्थात् 'छन्दसा चंचल्यते'। तत्पश्चात् विचित्र रूप से (अणु-विराट-वाह्य-आन्तर) जात होगा, एक एक विचित्र संघात रूप का परिग्रह करके। यह क्या है ? 'जं'। 'झं' झंकार (In unison in accordance or confirmity)। जात (उत्पन्न) मात्र को ही इस 'झं' की विश्वजनीन झंकार में झंकृत होना पड़ता है। 'ञ' में सब कुछ आत्मनीन हो अपना तृप्तिरूपी फल (बोध में) प्राप्त करता है। अतएव 'ञ' है Cosmic Resultant satisfaction की मातृका। यहाँ प्रसंगतः यह लक्ष्य करो कि 'चं चञ्चल्यते' मातृका से ही चन्द्र एवं मनस् है। 'चंचलं हि मनः कृष्ण'।

इस चन्द्र को चन्द्रमस् (भर्गस्) तथा चन्द्रमा (रोचिः) के मध्य में रख-कर प्रवृत्ति देना पड़ता है। अन्यथा मनः तो है 'प्रमाथिबलवद्दृढम्'। और चन्द्र भी कामकामी-क्षयिष्णु कलंकी generator of Lunar affections, or Lunacy है। 'जं जञ्जन्यते' जाजायमान भूतवर्ग की जो पूर्वोक्त झंकार है (झंज्झति), वह रस आकृतिमयी छन्दोमंजूषा झंझति, विश्व में सर्वत्र अबाध रिरंसाव्याकुल आर्त्त असुर शृंगार में पर्यवसित होती जा रही है। यह हो रहा है सौम्य—सौम्यविधुर नष्टचन्द्र (लेशावगुण्ठिता) की ग्लानि तथा म्लानि में। इसीलिये विश्व में सर्वत्र है रिरंसा की एक उत्कट लेशानवगुण्ठिता प्रवणता ! कौन कब इस विश्वग्रासी नष्ट चन्द्र को (शरदोत्फुल्लमल्लिका) का मरमी बनाकर उसे महारासवस्तु कामना तथा रन्तुकामना का पूर्ण अनुग बनायेगा ? कब महामाया अपनी माया को योगमाया की भूमिका में उत्तोलित करेगी ?

हे साध्यशिरोमणि ! पहले चन्द्र तथा सोम के समीकरण की साधना करो। चन्द्रमस् की 'भर्गो' 'भा' मे जाओ और साथ ही उस परिणयी आदि पंच छन्द में मिलाओ चन्द्रमा की मान-माधुरी। समन्वय में आने पर चन्द्र (साथ में मन भी) होगा सोम (मनः होगा सौम्य)। महासमन्वय में यही सोम होगा ओम्। और परम में ? शुद्ध निरंजन अथवा चाहो तो हो जायेगा महारासरसांजन।

वरेण्य तथा सौम्य

वृणोतु वरुणः सोमं सोमश्चाभिषुणोतु तम्।
यद् वरेण्यं हि तत् सौम्यमेकत्र च हठौ घठौ ॥६६॥

वरुण वरण करें सोम का। फल है वरेण्यम्। सोम अपने अमृत में चित्ररिषु वरुण को अभियुत करें। फलतः वरुण तथा सोम परस्परतः मिलित हो गये। वरेण्य = सौम्य; यह अभेद समीकरण मिला। भर्गः सुमहान् तेजरूपेण पंचक्लेश मूल अविद्या की बीज का भर्जन (भूजने की क्रिया) तो अवश्य कर रहे हैं, किन्तु सोम की साक्षात् अमृतसत्ता में अभियुत न हुये बिना शुद्ध अस्ति भाति भी मानो स्वयं का 'आनन्द-मेवास्ति, आनन्दमेव भाति' रूप में साक्षात्कार प्राप्त नहीं करती, अतः पूर्ण शुद्ध नहीं होती। मानो ब्रह्म का ब्रह्मत्व और भूमा का भूमत्व तटस्थ होने पर भी पूर्णतः परि-निष्ठित नहीं होता। ब्रह्मानुभूति की चरम भूमिका में ठीक 'मुख' में ही यह एकान्त तटस्थ भाव रहता है। एकान्त अर्थात् अन्त में अथवा परम में जो 'एक' है, उसके साथ व्यवधान का अभाव। 'मानो' के प्रयोग के बिना और कोई कहने का उपाय ही नहीं है।

रसिक भी इस 'मानो' को अपने रसास्वादन के लिये समझ लें। पूर्ण 'भरपूर' मिलन के ठीक 'मुख' में एक एकान्त अ-भरी अबूझ विरह विधुरता रहती

है। यह विरह विधुरता है 'लाखों-लाखों युग की'। पुनः वही शून्य-पूर्ण एकसाथ। बिन्दु प्रमुखता की परमागति। अतः प्रणवादि किसी भी जप में पूर्ण विन्दुलीनता की भूमि में आने के लिये इतना प्रयत्न-प्रसाद है, इतनी प्रसाद-प्रपत्ति है।

साधन की उत्तम भूमिका की बात समझ लेनी चाहिये। जैसे बद्री-केदार-मानस-कैलास यात्री की कथा सुनी जाती है। साधन प्रारंभ होता है प्रथम भूमिका से ही उपयुक्त घृत्युत्साह और वरेण्य शरेण्य रूपी परम प्रसाद में प्रपत्ति सम्बल को ग्रहण करते हुये। तब यह मन चन्द्र के समान चलिष्णु-क्षयिष्णु, म्लानिमा एवं ग्लानिमा से युक्त रहता है। तुम्हारे इस चन्द्र को वरुण तथा सोम भर्गस्तेजसा (ब्रह्मवर्चसा) तथा घृत्युत्साहसमन्वित करें। वह चन्द्र हो जाये चन्द्रमस्। इसके अतिरिक्त सोम उसे प्रसाद-प्रपत्तिरस से अभिसिंचित करें। अग्नि का देदीप्यमान वर्चः सोम के पवमान स्नेहसीकर से अभियुत होकर हो जाये सौम्य। छान्दोग्य की उक्ति 'कथं सौम्य ब्रह्मविदिव भासते ते मुखम्' का स्मरण करो। उपकोसल अग्नि-परिचर्या द्वारा ब्रह्मवित् सौम्य हुये। तुम्हारे साधन की भी प्रथम भूमिका है निष्ठा-पूर्वक अग्निपरिचर्या। यदि नाम का जप करते हो, तब वह जपनरूप भजन ही हो जाये तुम्हारी अग्निपरिचर्या। इस परिचर्या में सौम्य होना होगा। 'प्रसाद मधिगच्छति'।

हठौ घठौ

इस प्रकार अन्त में कारिका के अन्तिम चरण को समझो 'एकत्र च हठौ घठौ'। इसका तात्पर्य? महाशक्ति संचयरूप से 'ह' है आदित्य। महान् वेविषाण आप्यायनरूपेण यही है वरुण। 'ठ' को चन्द्रबीज मानो। क्यों? यह आगे कहा जायेगा। यहाँ यह देखो कि सृष्टि का जो आभासिक चित्र हमें प्राप्त हो रहा है, उसमें आदित्य-चन्द्रमा स्वच्छन्द सहोदित नहीं हैं। आदित्यतेज में चन्द्रमा तो निर्वाणप्रभ तथा लुण्ठित स्नेह हो जाता है। और चन्द्रोदय के समय आदित्य नेपथ्य की ओर चला जाता है। यह तो बाहरी जगत् की बात है। स्थूल-सूक्ष्म में, वाह्य-आभ्यन्तर सभी स्थान पर आदित्य तथा चन्द्रमा (हठौ) की आभासिक द्वन्द्वस्थता को समझो। जैसे, कहीं शक्ति संचय है (ह), किन्तु चन्द्रमा (ठ) के सोममान में सौम्यच्छन्द में सिंचन-विनियोग तो घटित हो रहा है? इस हिसाब में से आध्यात्मिक शक्ति, समाज-राष्ट्रशक्ति, आणवशक्ति इत्यादि किसी को अलग नहीं रखना। 'हठ' की आहुति यथार्थ सौम्यछन्द में करने के लिये है 'स्वाहा' एवं 'स्वधा'। प्रथम है स्व छन्द में वेविषाण—अध्वनीन करने के लिये। दूसरी है आप्यायन-आत्मनीन करने के लिये विशेष रूप से। नृसिंह, कामदेव आदि गायत्री में विद्महे, धीमहि एवं प्रचोदयात् रूपी तीन राहस्यिक पद विशेषतः अवहित होगें। प्रथम पद

में आदित्य, द्वितीय में चन्द्रमा अपने अनुग्रह का समपात करते हैं। विद्महे में वस्तु एवं बोध का व्यापक वेविषाण भान (Experience as Continuum or expansivity) है, द्वितीय में (धीमहि) केन्द्रीण संहत भाव में भान है (Experience as Condensing to a point)। प्रथम है नाद के अनुबन्ध में, द्वितीय है विन्दु के अनुबन्ध में। वस्तु तथा बोध मात्र इन दो अनुबन्धों में प्रतिभात होते हैं। जैसे यह सूर्य, यह चन्द्र रूपी भाव। इसे और खोलकर, मिलाकर यथासंभव समग्र करके देखने की दृष्टि। विचार मनन में Synthesis; analysis संश्लेष-विश्लेष। इन दोनों में जिसके कारण सोमच्छन्दः रहता है वह है 'प्रचोदयात्'।

विद्महे तथा धीमहि

यह निःसंदिग्ध है कि जप में हकारादि ककारादि प्रत्येक वर्ण में यह दृष्टि है। 'ह' बिपुल अखण्ड प्राणेश रूप से तो हैं ही। वे तो हैं प्राणब्रह्म के अखण्ड भंडार अथवा संचयरूप! इसे अपने कण्ठ से उच्चरित 'ह' ही मत समझना। किन्तु इसे तो बोध से प्राप्त किया नहीं जा सकता। अतएव 'विद्महे'। उस अखण्ड महाभाण्डार को अपने भाण्डार के रूप में प्राप्त करना होगा। अतएव 'धीमहि'। इस प्रकार विश्व के रिजर्व बैंक में अपना खाता खोला गया। अथवा तड़ित् शक्ति के किसी विराट पावर हाउस से हमारे अपने घर का कनेक्शन जुट गया! किन्तु अब 'मीटर' भी लगाना होगा। क्यों? उस सौम्यच्छन्दः की रक्षा हेतु। अन्यथा Failure या fuse का डर है। तभी है 'प्रचोदयात्'। इसीलिये हकारादि विश्वप्राण शक्ति की एक-एक आकृति को इन तीन रूपों में साधना होगा।

अब देखो एकबार 'हठौ' और एकबार 'घठौ'। 'विद्महे' अधिकार में जो है 'ह', वही 'धीमहि' अनुरोध में है 'घ'। Cosmic Continuum of Basic Radiant Energy ही मानों आदिम सिसृक्षा या स्रष्ठु कामना से घनीभूत एवं उर्जित होकर हुआ 'घ' घृणि। जो भर्गस् रूपेण विभु था, इस 'घ' रूप से वह हो गया घृणि और धर्म। विष्णु भगवान् के धर्म से किसकी उत्पत्ति हुई, इसका स्मरण करो। धर्म का अर्थ मात्र प्रचलित धर्म मत समझना। जो कुछ हो, 'घ' एवं 'ठ' (सोम-बीज) को मधु या सोमच्छन्द में पाओ। जैसे जप में अग्निमात्राधिक्य होने पर जब 'घ' धर्मोक्त होकर प्रकट होने लगता है, तब सोममात्रा उसे सौम्य में ले आती है। यह 'घठौ' आकृति में आती है। (आकृति = Formula)।

सभी क्षेत्रों से दृष्टान्त लेकर इस हठौ-घठौ आकृतियों को समझो। प्राणब्रह्म के विभुरूप (नाद) तथा केन्द्रीणरूप (विन्दु) को दृष्टि के प्रसाद से प्राप्त करना होगा। तुम स्वयं दिवालिया न हो जाओ, अथवा रिजर्व बैंक भी फेल न हो। योग भी पूर्णतः 'क्षेम' में रहना चाहिये। विश्व में सर्वत्र 'ठ' क्षेमंकर ही रहते हैं। योग के

दृष्टिकोण से हठी अर्थात् सामान्यत: हठयोग। इसे कतिपय आसन-मुद्रा-प्राणायाम मात्र ही मत समझो। कलेवर में आदित्य-सोम सम्बन्ध क्षेमंकर नहीं है (यथा Vital metabolism, Hormonal Balance में)। इसे हठयोग क्षेमंकर बनाता है। इसी कारण से आवश्यकतानुरूप 'वामेन दाक्षिण्यं' भी साधना होगा। अर्थात् Reversing the sense or orientation. 'कठ' एवं 'खठ' इन दो आकृति में राज-योग की सानन्द तथा सास्मित समाधि को साधित कर निर्विकल्प में जाना होगा। प्रथम में है आनन्द सम्प्रसाद और द्वितीय में है व्योम सम्प्रसाद। विन्दु एवं नाद। 'गठ' द्वारा विशेषत: कुण्डलिनी अथवा लययोग को और 'घट' द्वारा मन्त्रयोग साधो। 'घ' को आदि व्यंजन' अथवा सिसृक्षा वर्ग का तुरीय वर्ण कहते हैं। वाक् के दृष्टिकोण से 'क' को परा मानने से 'ख' हो जाता है वैखरी स्थल। इसी वैखरी को समर्थ करके तथा सौम्य करके (अर्थात् 'घठी' आकृति में) मन्त्रयोग साधित होगा। लय-योग में मध्यमामुख्यता है। 'घठ' में है पश्यन्तिमुख्यता तथा 'कठ' में है परा-मुख्यता। तभी किसी भी योग में इन चारो अंगों के पारस्परिक वियोग से योग साधित ही नहीं हो सकता।

व्यञ्जन तथा स्वरवर्ण

मातृका विचार के समय आगे यह देखा जाये कि व्यंजन वर्ण प्राणब्रह्म की सिसृक्षा या स्त्रष्टुकामादि क्रम में अभिव्यक्ति की एक मूल आकृति (Prototype or basie pattern) हैं। और स्वरवर्ण क्या करते हैं? 'व' अथवा अव्यक्त भण्डार की खान से प्रत्येक को बाहर करते हुये उन्हें अभिव्यक्त प्राणवृत्तिरूपेण 'प्रसृत' करते हैं। यह देखो कि 'स्वर' शब्द में यही व्यंजना निहित है। स्वर की सहायता से ही 'कादि' 'हादि' निखिल वाक् प्रसृत 'प्रसृता पुराणी' है। स्वरवृत्तियाँ कतिपय मूल आकृति युक्त होती हैं। आदि वर्ग को कहा जाता है 'सिसृक्षा आकृति'। द्वितीय वर्ग (तालव्य) को कहा जाता है छान्दसाकृति। सृष्टि में सर्वत्र छान्दसी आकृति ही विधान तथा रक्षा के लिये नियुक्त है। अन्य वर्गों का वर्णन पश्चात्काल में किया जायेगा।

यहाँ लक्ष्य करो कि 'चं' इत्यादि किसी भी व्यंजनाकृति को स्थूल व्यवहार की संकीर्णता में मत लाओ। जैसे 'चं चाञ्चल्यते' अवश्य है, किन्तु यह स्थूल की (जड़-प्राण-मन की) चापल्य कामना कदापि नहीं है। जब स्वलसित आनन्द (कं ब्रह्म) स्त्रष्टुकाम होकर उल्लसित विलसित होते हैं, तब परिलक्षित होता है 'चं चाञ्चल्यते' का आदिम परममंजुल रूप। अर्जुन कृष्ण से कहते हैं "चञ्चलं हि मनः कृष्णः" किन्तु यह क्यों नहीं कहा "हे कृष्ण! तुम ही हो वही आदिम परम—मधु-मंजुला चञ्चलता, तुम ही हो चिरलोल, नवल चंचल! मेरी इस चटुल-चपला

चञ्चलता को तुम अपनी उस रसरासचञ्चलता में क्या मिलित नहीं करोगे ?" किन्तु वह तो पहले होने वाली नहीं है ; तभी प्रथमतः है अभ्यास-वैराग्य।

अतः 'चं चाञ्चल्यते' प्रभृति प्रत्येक तुम्हारी 'विरवरा' मातृका को मध्यमादि क्रम से परा की प्राणपारम्य एवं शुद्धि परिसीमा में ले चले। न्यास का यही लक्ष्य है। तुम्हारे इस साधारण बोध में आने वाले चन्द्र एवं मनः अब अस्ति-भाति न्यास की कृपा, प्रसाद से हो जायें चन्द्रमाः तथा चन्द्रमा (सूरिसुमना एवं सौम्यमनाः)। एवं हो जायें उपनिषदोक्त 'ब्रह्मविदिव भासते सौम्य'। जो कुछ अपिहित (तिरस्कृत) एवं विकृत है, उसे पुरस्कृत तथा संस्कृत करने के अनन्तर उस शुद्धिपरिसीमा में जो प्रकृति है, उसमें इसे व्यस्त करना होगा। यही है न्यास। यह जब सम्यक् हो जाये, तब है संन्यास। उसमें 'ज्योतिरहं विरजाः' इत्यादिरूप में है परम अवबोध।

सौम्य के सम्बन्ध में यह है सविस्तृत आलोचना। सौम्य प्रसंग में प्रयोजनीयता की सीमा ही नहीं है। विश्व व्यवहार में सर्वत्र ही योग के क्षेत्र के लिये सौम्य-संस्था आवश्यक रहती है। जब भूतविज्ञान आणविक शक्तिराशि को सौम्यसंस्था में पायेगा, उसी दिन महती विनष्टि की आशंका तिरोहित होकर महती विश्वसृष्टि की संभावना हो जायेगी। समाज, राष्ट्र तथा विश्वमानवता की संरचना में सर्वत्र यही होगा। अध्यात्म जीवन में सौम्य तो रूपसंरचना में सोने का अलंकरण है। जपादि साधना के व्याहरण तथा अनुधावन में सौम्यप्रसाद से प्रसन्न रहना होगा। शशिशेखर, सोमार्द्धधारी शिवगुरु की निरन्तर वन्दना 'प्रसीद में' द्वारा करना होगा। विशेषतः व्याहरण में पाद-मात्रा-कला-काष्ठा के चतुरंग को सौम्यच्छन्दः योगक्षेमंकर होना चाहिये।

यदि गायत्री व्याहरण में उदय-विलय ओंकार के साथ छ पाद हैं और प्रति पाद में चार मात्रा है, तब ये सब सौम्य में अवहित होंगे (जैसे संगीत आलाप में)। पूर्व कथित छ पूर्ण एवं छ शून्य कलायें हैं। ये सभी हैं सौम्य। और नादमेरु तथा विन्दुमेरु, ये दो काष्ठा। इनमें भी सौम्य है। सौम्य शब्दाकृति में ही परम संकेत सन्निहित है। स + ओम् + इ + अ (इ तथा अय् से अ)। जो वर्ण व्याहरण में जिन पादादि से उदित हो रहे हैं (स) उन्हें परम योगक्षेम में क्या किया जायेगा ? मूला परावाक् में जो ओंकार हैं उसमें तथा उसकी अनुवृत्ति में ही उसकी गति हो। ओंकार के परमक्षेम का निर्वहण करने वाले हैं नाद-विन्दु। अतएव किसी वर्ण के उच्चारण में किसी पादादि में यह परमनिर्वाहयित्व युगल (नाद-विन्दु) विषम वृत्ति में पतित न हों। नाद = वरुण, विन्दु = सोम। अतएव व्याहरण आदि में वरुण-सोम साहित्य (योग) तथा संहति (क्षेत्र) के यथायथ रहने पर सौम्य तथा

उसका निष्कर्ष हो जाता है चन्द्रमाः एवं चन्द्रमा। प्रत्यक्ष जगत् में सूर्य को रौद्र तथा चन्द्रमा को सौम्य प्रतिभात होते देखा जाता है।

सौम्य तथा रौद्र

मानों विश्व में सौम्य तथा रौद्र भाव पारस्परिक रूप से (Antipathy में) विमुख रहता है। दोनों भावों की 'अति' की ओर प्रवणता भी है। 'अति सौम्य' एवं 'अतिरौद्र', यह है दोनों की काष्ठा। इन काष्ठाद्वय के बिना तो ध्रुव तथा परम योगक्षेम संभावित ही नहीं होता। तभी जप को प्राप्त करना पड़ता है 'अति सौम्यातिरौद्रायै' में। इस प्राप्ति द्वारा निखिलकल्पित प्रपंचमूलस्थ अविद्या का दहन करने वाले जो अतिरौद्र भर्ग हैं, वे भर्गः सम्मिलित हो जाते हैं निखिल संजीवन, अखिल-रसायन सोमरोचिः में अथवा अमृत में। इसलिये उदित नाद को बारंम्बार विन्दु-शयानता से उठाकर अमृताभिषिक्त करना पड़ता है।

अमृताभिसिंचन को 'चं' आकृति में लाने पर तादृश 'चं' दान करने वाली जो क्रिया है, वह किस धातु के द्वारा सूचित होगी ? 'चन्द्र'। इससे चन्दन, चन्द्र, चन्द्रमा आदि। यह शुद्ध चन्द्र की बात है, नष्ट चन्द्र की नहीं। इस चन्द्र में वरुण की आप्यायनी तथा सोम की रंजनी वृत्ति प्राप्त होती है। वरुणसोम संघात या संहति संभावित तथा फलित होती है इसी 'चन्द्र' धातु की क्रियमाणता तथा सम्पद्यमानता में। छेदनादि अर्थ में एक 'दो' है। 'चन्द्र' में यह 'दो' प्रवृष्ट होकर यह बतलाता है कि जो अभीष्ट वरुण-सोम संहति है, उसकी सम्पद्यमानता का विघात घटित हो रहा है। जैसे नाद श्रवण करना है, परन्तु सुन रहा हूँ चं चं चं······रूपी झिल्ली-स्वर। फलतः मन भी क्षिप्त-विक्षिप्त रूप से स्पन्दमान है। 'दो' के छेदन में प्रवृत्त होने पर वेविषाण तथा आप्यायन रूप वरुण अन्तर्हित हो गये। सोम भी 'मित्रा-वरुण' से विरही होकर मानो म्लानिमा-ग्लानिमा के अवगुण्ठन में पड़ गया। सुधा हो गई प्राकृत भौतिक जगत की सुरा। अतः 'चं' मातृका तथा 'चन्द्र' धातु का अभ्यारोह क्रमेण उसके स्वभाव-प्रकृति में न्यास करो। By a process of gradual Sublimation मन चकोर को 'परममोहनिया' रसराज चाँद का चिरपिपासु बना लो।

'चन्द्' आकृति-विकृति

पक्षान्तर से यदि चन्द् आकृति में (वाक् प्राण मनः के समन्वय में) वरुण को सोममित्र भाव से प्राप्त न कर सको, अर्थात् अपनी समग्र विपुल अनुभूति (Experience) को आत्मनीन करके आत्मा के अपने निर्व्यूढ़ अस्तिता-भातिता-प्रियता में उपसंहृत न कर सको (जैसे वर्त्तमान वैज्ञानिक चिन्तन में किसी-दार्शनिक प्रस्थान में)। उस स्थिति में 'असतो मा' इत्यादि अभ्यारोह

का अमृत में समापन नहीं हो सका। परन्तु सोमाभिषवविहीन वारुणी रूपी महा-मदिरा ही रह गयी ! इस वारुणी पान द्वारा दैत्यपुंगवगण भी उन्मत्त हो उठे। हम भी देखते हैं—The Fatal intoxication of Colossal objective Knowledge divorced from thc inspiring, leading light of the supreme ultimate quest. चन्द्र विश्वनर को चन्द्रमाविधुर ग्लानिमा में (global Lunacy) में खींच लेता है।

वर्तमान युग में समस्त धरित्री इसी वारुणी के पान से उन्मत्त है। अध्वनीन वरुण का आप्यायन आत्मनीन सोम के रंजन में मिलित होने पर हो जाता है सौम्य। उसमें अध्वकुशल हो जाये अध्वाकुशल अर्थात् निश्चित कुशल। जो आप्यायन मन्त्र (शान्ति पाठ) पहले व्याख्यात हो चुका है, उसमें सभी बहिरंग को पहले आत्मनिरत (अन्तरंग) बनाकर अन्त में अनिराकृत उपनिषद् ब्रह्म में उसका निःशेष समर्पण करो। यथार्थ सौम्य साधन का यही मंत्र है। जैसे अग्निषोमीय समता के व्यतिक्रमस्थल में 'ॐ जातवेदसे सुनवाम सोमम्'। 'ऐं' रूपी वागभवबीज विशेषतः सौम्यसमर्थ है।

बारम्बार कहा गया है कि देवता भी मृत्यु भय से भीत होकर गायत्री छन्दः का वरण करते हैं, वे मानो इस हेतु 'दुहाना अमृतस्यधाराम्' हो जाते हैं। वारुणी-पानोन्मत्त यदुकुल ने आत्मघात कर लिया। इसे व्यष्टि तथा समष्टि जीवन में स्मरण रखना होगा। जहां बिद्महे है किन्तु धीमहि नहीं है, ज्ञान है किन्तु ध्यान नहीं है; शक्तिसंचय है किन्तु संयमन नही है, एक प्रकार से मेघस् तथा तपस् का असद्भाव है, वहां आवश्यक है गायत्री छन्द के उस 'वरेण्यम्' विवरिषु सौम्य की प्रचोदना, जिससे ज्ञानविज्ञान वितति, प्रयोग-विद्याविभूति, कारु-चारु कला संघति, सभी हो जाये अमृताध्वधाम कुशलिनी। वह अनृताध्वध्वान्त कुहकिनी कदापि न हो !

नाभिं बिभर्त्ति वै सूर्यो वरुणस्तनुते ह्यरान्।
मिमीते चन्द्रमा नेमिमावरीवृत्यते जगत् ॥६७॥

जो भुवनचक्र की नाभि (स्थूल सूक्ष्म सर्वत्र) है, उसका भरण सूर्य पूर्वोक्तरूपेण करता है। अरसमूह का वेविषाण अध्वनीन रूपेण विस्तार करता है वरुण। चन्द्रमा भुवन चक्र की नेमि को (स्थूल-सूक्ष्म सर्वत्र) 'मान' प्रदान करता है। वह है सौम्यसान। इस मान में सभी अपने छन्द में वर्तन करते हैं। ऋतध्वग् जगत् इसी प्रकार की चक्रनेमि में ही बारम्बार आवर्त्तित होता रहता है। इस प्रकार का सौम्यमान (अणु-विराट सबकी) ही स्थिति संस्था है। अणु-ज्योतिष्कादि

कक्षावर्त्तन द्वारा इसे विचारो। नेमि के सौम्यमान का रक्षण होना चाहिये। इसका क्षेम दैवत् है चन्द्र।

जगत् स्वास्थ्य स्वस्ति-शान्ति

जब वरुण किसी नाभि से अरसमूह (Lines of Radiatde Energy) का विस्तार करते हैं, तब ब्रह्म का एक परम महीयान छन्दः उस समन्तात् वितत अरसमूह को एक 'नेमि' का निर्देश देता है। नाभि को कहता है 'तुम अपने अरसमूह के साथ इसी नेमि में संहत हो जाओ और इस नेमि में ही तुम्हारा व्यापार चक्र भी आवर्त्तमान होता रहे।' ब्रह्म का यह परम छन्दः है सोम (स ओम)। यही सोम है नेमि-क्षेमंकर रूप से चन्द्रमा। वरुणसोम संघात को इसी प्रकार से समझो। भूत प्राण आध्यात्मादि विज्ञान की सूक्ष्म बातों के आधार पर यह कहा जा रहा है। बाहरी-भीतरी दृष्टान्तों द्वारा इसका परीक्षण करो। नेमिक्षेम को नाभि सम्पर्क (with reference to the source) में देखने पर वह है चन्द्रमस्। अरपरिवेश अथवा बहिः संस्था (with reference to the enveloping order) के दृष्टिकोण से वह है चन्द्रमा। कला से (in phases) देखने पर वह है चन्द्र। पाददृष्टि से वरुण, मात्रादृष्टि से चन्द्रमा, कला दृष्टि से चन्द्र तथा काष्ठा दृष्टि से सूर्य सोम। इसे सभी क्षेत्रों में विचारो।

चन्द्रमा जो स्व छन्द मान दे रहा है, उससे जिक्षगत्व (unharmonic eccentricity) का त्याग कर तब अनुवर्त्तन करना होगा। उस प्रकार के अनुवर्त्तन (व्यष्टि-समष्टि) में ही जगत् स्वास्थ्य है। जगत् स्वास्थ्य में संस्थापित होने के लिये ही जप में तारचक्र आदि का समाचरण किया जाता है। अतएव 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'। संस्थापित होती है स्वस्ति। स्वस्ति के अनन्तर शान्ति। जो चक्र स्वस्ति में आवर्त्तमान है, वह चक्र शंखावृत्त में, परमबिन्दु में जब अभिमुखीन होता है, तब प्रारम्भ है शान्तिपाठ। जैसा प्रणव, गायत्री अथवा किसी बीज-नाम जप में स्वस्ति में बिन्दुलीनता आने पर होता है। जब तक 'आत्मनीन' स्थिति में ब्रह्मसंस्पर्श का अनुभव नहीं हो जाता, तब तक यथार्थ शान्ति है ही नहीं। हरे कृष्ण इत्यादि नाम जप में या कीर्त्तन में भी आत्मनीन क्रम से रसोज्वल अथच परम निविड़ बिन्दु चेतना में डूबना होगा। भावनिष्ठा की सहायता से कुछ समय जप कीर्त्तनादि चलने पर बहिराप्यायन (Objective attuning) सम्मिलित हो जाता है आन्तराप्यायन (Inner Attuning) में और वे परस्पर को पुनः पुनः उपचित करने लगते हैं। यहाँ पर यही है वरुण-सोम संहति। इस संहति के प्रसाद से एक अनिर्वचनीय सौम्यरससमुज्वल मनोगगन पर चन्द्रमा उदित हो जाते हैं। वे रस को तथा भास को उनका 'मान' प्रदान करते हैं। इस मान में रसाभास, मलिनरस आदि

मर्यादाहीन तथा निरस्त हो जाते हैं। यथार्थ मान के अनन्तर सात्विक विकारादि आते हैं (चन्द्रमा ही वैमुख्य रस-भासादि में म्लानिमा तथा ग्लानिमा संचारित करता है)। तदनन्तर अत्यन्त गंभीर में और भी ! अन्त में परम विन्दु में युगपत् परम लसन और परमा शान्ति ! पहले स्वस्तिवाचनादि को सम्यक् भाव बोध निष्ठा से युक्त करना होगा।

नेमिवृत्या यथा पृथ्वीं सौम्यां धत्ते हिं चन्द्रमा।
वाक्प्राणचित्तसंघातांस्तथैव सन्धधीत सः ॥६८॥

सौम्य साधन

यह परिदृश्यमान चन्द्रमा-दैवतानुगृहीत चन्द्र जिस प्रकार नेमिवृत्ति में रह कर इस पृथ्वी की सतत् सृष्टि-पुष्टि को सौम्य में रखता है, उसी प्रकार विश्वजनीन चन्द्रमातत्व विश्व में वाक्-प्राण-चित्त के निखिल संघात को सौम्य में ही सम्यक् वर्तमान रक्खे ! इस उद्देश्य से समर्थ वैदिक (ऊँ जातवेदसे) तथा तांत्रिक (श्रीं) तथा पौराणिक (एतत्ते वदनं सौम्यं लोचनत्रयभूषितम्) मन्त्र यन्त्रादि का समाश्रय लो। (यन्त्र में विशेषतः वृत्तस्थल में चन्द्रमादैवत् भावना करो)। यदि कहो—इतने मन्त्र-यन्त्र का क्या काम, एक भाव से ही समस्त अभावों का सद्भाव होगा, उस स्थिति में यह समझो कि चन्द्रमादैवत् प्रसन्न हैं। परन्तु इसमें शुद्धभाव की आवश्यकता रहती है। तब भी लक्ष्य रक्खो कि तुम्हारे भावभाग्य के लग्नी कौन हैं ? चन्द्र, अथवा चन्द्रमाः या चन्द्रमा ? इसका यथार्थ निरूपण करने के लिये उस 'पद-नख के दस इन्दु' में मनः को संलग्न करो। वे ही तुम्हारे भावादि को यमनस्थल में यमन (यंत्र), मनन स्थल में मनन (मन्त्र) तथा तायन स्थल में तायन (तंत्र) को प्रचोदित करेंगे।

यदि पुनः कहो कि यह तो उत्तम प्रस्थान है सहजपन्थाः है। तब। यह उत्तम प्रस्थान तो अवश्य है किन्तु सहज पन्थ तो है नहीं। अच्युत अनन्त गोविन्द, इस नामोच्चारणरूपी औषधि से सर्वरोग शांति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, परन्तु फिर भी अत्यन्त दुरवगाह वैद्यकशास्त्र की रचना में चरक-सुश्रुत आदि क्यों लगे ? भागवतादि भक्तिपीयूष वारिधि, वाशिष्ठादि ज्ञानविचार मणिमन्जूषा इतनी अपरूप वैचित्र्य-वैभव विपुल (साक्षात् महान् रत्नाकार के समान) क्यों हुई ? 'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि', कहकर फिर करोड़ों ग्रन्थों को क्यों अकारण रचा गया ? श्रीमद्हनुमान राम का नाम लेते हैं। तिथिवार का ध्यान नहीं रखते। फिर भी तुम्हारे-हमारे लिये है 'हरिभक्तिविलास' ग्रन्थ। यन्त्र (और उसके साथ यथोपयोगी तन्त्र एवं मन्त्र) कभी कहीं भी उपेक्षित नहीं है। होगा भी नहीं। भक्ति का सार है आत्मनिवेदन, किन्तु नवधा साधन करके ही उसकी प्राप्ति होती है। कलिकाल में

तो नाम यज्ञादि के मूल में तो नामयज्ञादि परम श्रेयंकर रूप से विहित है: किन्तु उस यज्ञादि के मूल में जो श्रद्धाभाव है, जैसे उसकी आवश्यकता है; उसी प्रकार यज्ञ की महाजनजुष्ठ विद्या (विधि) तथा उपनिषत् (सिद्धान्त साधिष्ठ आधार) कभी भी अनादरणीय नहीं है; प्रत्युत उपादेय है।

यह स्मरण रखना होगा कि जो मन: केवल अपनी कला देखता है, अतः अन्यमत अथवा पथ को हेयता की ग्लानिमा तथा म्लानिमा मानता है, वह मन: है चन्द्रमादैवत विधुर 'चन्द्र' के अधिकार में। चन्द्रमा है 'निज' तथा 'अन्य' इन दोनों को ही अपने पूर्णमान तथा मर्यादा में प्रस्फुटित करने वाला तत्व। 'अमानी-मानद' जन को चन्द्रमा प्रदान करते हैं पूर्णमान। अत: 'ज्योत्स्नायै चेन्दुरुपिण्यै' चन्द्रमा की अधिष्ठात्री योगमाया का भजन करो (ज्योति: शब्द का इ: हटाने से ज्योत्। भास्कर में यह इ: आकृति प्रकट विषय में है सूर्यज्योति:। इस ज्योति का आधार (Base) है ज्योत्। इस आधार ज्योति से, Basic illumination से जो जात है वह है ज्योत्स्ना। यह इस प्राकृत् चन्द्रमा की सूर्य से उधार ली गई, Borrod छटा नहीं है)।

इसलिये 'मावर्ज चन्द्रमावह' मा वर्जित जो चन्द्र है, वह चन्द्र 'आ' का वहन न करे। 'मा' का यह निषेध आगे के चरण में है 'चन्द्रमाऽवहतु त्वा मा'। चन्द्रमा तुम्हारे शोभन-सौम्यमान में, मर्यादा में 'आवहतु'।

सौम्यमान तथा रौद्रमान

सौम्य = चन्द्र। रौद्र = चण्ड। अपने अग्निरौद्रवीर्य द्वारा चण्ड (एवं मुण्ड) को संहत करके देवी हो गयीं चामुण्डा। चण्डी-चण्डिका ब्रह्ममयी महामाया रूप से भाविता हो गई। इस प्रकार उनमें अतिसौम्य तथा अतिरौद्र-दोनों है। ये हैं जगत् प्रतिष्ठा तथा जगत् कृति। श्री चण्डी में जो नारायणीसूक्त है उसमें वे ब्रह्माणी आदि रूप से नवधा नमस्कृता हैं। उन नौ में से वाराही (पंचम) को संधि में रखने से पहली चार हैं सौम्या चतुष्ठयी एवं आगे वाली चार हैं रौद्री चतुष्ठयी। जप साधना के दृष्टिकोणानुसार देवी का समर है नादविजय। महिषासुर युद्ध में इसी नाद विजय के निमित्त देवी कहती हैं 'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ़ मधु यावत् पिबाम्यहम्'। मधु ? सोम अथवा चन्द्रबिन्दु। व्याहरण में बिन्दुलीनता हेतु इसी मधु को प्राप्त करना होगा। ध्यान में इष्टनिविष्टता में इसे पाना होगा। यह देखो कि नारायणी सूक्त में इन नवधाशक्ति के नमस्करण में नाद ब्रह्म का अभिनन्दन ९ बार किया गया है। वाराही ही सौम्य तथा रौद्र (चन्द्र एवं चण्ड) इन दोनों भावों का संधिस्थल है। वाराही में दीर्घ इकारादि स्वर द्रंष्ट्रा द्वारा नाद शक्तिरूपा वसुन्धरा पर भद्र एवं उग्र विजय शौर्य समुद्भूत हो रहा है।

वाराही नमस्कृति में 'उग्र' तथा 'शिवं' रूपी शब्दद्वय हैं। साधक का अपना नाद अभिज्ञता में हंस से शंख पर्यन्त भद्रग्राम में और सिंहनाद से लेकर चामुण्डा के अट्ट अट्ट करालहास्य पर्यन्त उग्रग्राम में नवधा नाद विजय को प्राप्त कर रहा है। नादादि समस्त साध्य को कभी तो चन्द्र और कभी चण्ड आकृति में प्राप्त किया जाता है। 'द' कार तथा 'ड' कार। एक है दन्त्यवर्ग का तीसरा, दूसरा है मूर्धन्य वर्ग का तीसरा स्वर। दन्त शब्द में इन तार्तीयद्वय का मिलन है। त वर्ग में सामान्यतः तलवृत्तिता होती है। दन्त्य में है परिच्छिन्नता। एक-एक विशेष आकृति में तलवृत्ति परिच्छिन्न हो रही है। द ध, इन दो वर्णों में Latitude है। वह स्वयं को Longitudinally देखना चाहता है। मानो कोई Map स्वयं को घूमकर देख रहा है। 'द ध' के तल में इस प्रकार की 'द्राधिम' वृत्तिता रहती है। पृथ्वी में बीज बोया। वह जबतक तलवृत्तिता मे है तब तक 'त थ'। (उच्छूनता की सूचना है 'थ')। अंकुरादि के उद्गम मे है द्राधिमवृत्तिता (द ध)। सभी क्षेत्रों में इस आकृति का परीक्षण करो। मूर्धन्य द्यु-दैवत्, द्यौस्तत्व मूर्धा में मुख्य ! यह (ललाट) धाम महिम्नि प्राप्त करने तथा दिखलाने का स्थल है। वह धाममहिमा अति सौम्य सुन्दर एवं अति रौद्र भयंकर रूपेण प्रतिभात हो सकती है। महादेव तथा महादेवी के ललाट नेत्रों की भावना करो।

टकारादि मूर्धन्य वर्ग के टं ठं (चन्द्रमा बीज) में विशेषतः सौम्य तथा डं ढं (घन्टा नाद) में रौद्रभाव संस्थित रहता है। 'ण' वर्ण में दोनों का महामहिम्नि समन्वय है। ऋ, र, ष इन तीनों का पूर्वोक्त तीन 'साहित्य' अनुधावनीय है। इसी के अनुसार 'कृष्ण' महानाम का चिन्तन करो। 'दण्ड' आकृति का परीक्षण करो। एक-एक आकृति में शौर्य-ऐश्वर्य-प्रशासन-संयमन समाहार में आता है या नहीं, इसे मौलिक विश्व दृष्टि द्वारा, मातृका-मान में समझो। 'दं' तल वृत्तिता में जो द्राधिमा है 'डं' उसे धाम महिमा के अनघ अमोघ ऐश्वर्य से मण्डित करता है। 'दण्डो दमयतामहम्'। वाग्दण्ड, कायदण्ड तथा मनोदण्ड, इस प्रकार से साधक मात्र को त्रिदण्डी बनना होगा।

चण्ड तथा मुण्ड आकृति

चन्द्र एवं चण्ड रूपी आकृतियों के परीक्षा व्यपदेश में यही मूर्धन्य धाम एवं दण्ड का प्रसंग हुआ। चन्द्रमाः तथा चन्द्रमा दो रूपी (सोमराजरूप से) दो तत्व यथाक्रम से चन्द्र के चण्डमान मे शासन (चन्द्रमाः द्वारा) तथा साम अथवा सौम्यमान (चन्द्रमा द्वारा) में पालन करते हैं। चन्द्र दण्डभय से उदित, कला-कला में बिकसित अस्तमित इत्यादि हो रहा है और सोम रंजन में, स्वाधिकार में, सब कुछ में सौम्यभाव ला रहा है और रक्षण कर रहा है। अध्यात्म दृष्टि से चन्द्र=मनः

इस समीकरण को मन में रखकर मन के दण्डमान तथा सौम्यमान की स्थिति का प्रणिधान करो। इन दो मानों की (Rulc and Rhyme, अथवा उलटकर Rhyme and Reason) समता भी रक्षित होनी चाहिये। Control and satisfaction दोनों की। जैसे राजनीति में Repression and Concilliation. समता के व्यतिक्रम में मानस में आसुर उपद्रव होता है। असुर आकृति मे 'दण्ड' है चण्डासुर। साम है असुर आकृति मे है मुण्डासुर। इस प्रकार से इस प्रसंग में दृष्टि है। प्रसंगान्तर से इसे अन्य रूप में भी कहा जा सकता है। फिर भी समस्त रूपों में, सभी प्रसंगों में मातृकामान एवं प्राण रसायन में इसे समझना होगा। अन्यथा मनमानी अर्थ कल्पना से असंगति एवं विसम्वाद आशंकित हो जाता है। अर्थादि कल्पना को यथासंभव मूलाश्रय वाली होनी चाहिये! शाखा-प्रशाखा-पल्लवाश्रयिणी होने से साधिष्ठाश्रयता नहीं रहती। जैसे 'मुण्ड' आकृति। म = अन्तिम स्पर्शवर्ण (ओष्ठ्यः)। प्रणवादि मे जैसे 'म्' है सोमानुग्रहीत सौम्य। ड = ओष्ठ्यस्वर वेधमुख्य। अनुस्वार संयोग मे जैसे हं इत्यादि बीज मे वेध का उग्र घनीभाव है। Intensification of Piercing potency. 'हुङ्कारेणैव भस्मसात्'। वर्त्तमान में Atomic Bomb प्रभृति 'हुं' बीज आकृतियुक्त हैं। अतः म + डं मूर्धन्य तार्त्तीय (ड) के शासन के जाकर क्या समझता है? जिस सोम या सौम्यमान (even rhythmic measure में) वृत्ति चल रही है, वह वृत्ति स्वयं को अपर्याप्त-वेध-घनीभाव में ले जाकर एक समग्र योग (crisis or critical condition) की सृष्टि करती है। यही है साधारण-आकृति (Common pranik Formula). यह सुर एवं असुर में जा सकती है। कालिका की मुण्डमाला का ध्यान करो। एक-एक मातृका अनुस्वार के समर्थ संयोग से इस मुण्डमाला का एक-एक मुण्ड है अथवा नहीं, यह विचार करो। यह सूत्र स्मरण रखते हुये चण्ड-मुण्ड असुर युगल का परिचय मिल जाता है।

शाब्दिक तथा रैखिक आकृति

यह भी देखो कि चण्ड-मुण्डादि प्रत्येक शाब्दिक आकृति का अपना लेख अथवा रैखिक आकृति (Natural graph) है। ये सब स्वाभाविक लेख वस्तुओं की हृल्लेखा को 'मर्मौकः' स्थल में रखकर व्यक्तिमापन्न हो रहे हैं। हृल्लेखा काल सम्बन्ध में आकर हृदय लेखा और विशेषतः देश-सम्बन्ध में आकर रूप-वर्ण लेखा हो जाती है। अब तक लेख की स्वाभाविकता का व्यत्यय घटित नहीं होता। तदनन्तर यत्तन्निमित्ता-वच्छिन्न होकर व्यूढ़भाव (Subject to conditionality) से कायचित्र, छायाचित्र, मायाचित्रादि पतित हो जाते हैं स्वभावच्युति-विजृम्भिता में। इन सब विकृति स्थलों में आपतित लेख को स्वभाव शुद्धि या प्रकृति मे लाना पड़ता है।

वाक्शुद्धि, भावशुद्धि प्रभृति ऐसी लेखशुद्धि की उपेक्षा करने से हो ही नहीं सकती।

पहले गायत्री लेख को शुद्ध आकृति में पाने का यत्न किया गया। यह भी देखो कि ओंकार, 'क ख' इत्यादि वर्ण मालाओं का जो लेखरूप हम प्राप्त कर रहे हैं, उनकी हृल्लेखानुरूपा शुद्ध आकृति कहाँ कैसे मिले? पश्यन्ति दृष्टि के बिना यह यथार्थतः नहीं मिलती। सुरभाषा अथवा सुरलिपि उसी पश्यन्ति वाक् तथा लिपि का यथासंभव अनुवाद एवं अनुकृति है। ब्राह्मी प्रभृति लिपियों के ऐतिह्य तथा विवर्त्तन का अनुसरण इस पश्यन्ती-प्रदीपच्छटा में किये बिना मूल तथा काण्ड की सन्धानावरोधिका 'तमसा' गहनतर होती जाती है। मानव की विभिन्न वाणी के विश्लेष में इस तमसा को मायाविनी होते देखा गया है। प्रस्तर युग के मानवों का भी लेखचित्र मिला है, किन्तु इन सब का मूल कहाँ है, आदर्श आकृति क्या है? क्या इन सब का यथार्थ उत्तर मात्र पतित, विक्षिप्त खण्डित शुष्क पल्लवग्राहिणी तुलना में मिलेगा (By merely collecting and Comparing dead broken bits)?

यथार्थ कैसे प्राप्त हो?

चन्द्रमा ही प्रत्येक वस्तु को, उसकी हृल्लेखा अथवा नाभि, अपनी शक्ति का विन्यास लेख अथवा अर, इन दोनों के द्वारा समग्र स्वाभाविक 'नेमि' मान में दिखलाने में समर्थ है। यह 'चन्द्रमा' भाषा-लेखादि विज्ञान में कब समुदित होंगें? मनुष्य की बुद्धि 'वरेण्यं भर्गसे' के ध्यान में प्रचोदित होकर जब तक एक साथ सर्ववितान-व्यापिनी तथा सर्वगहन-गामिनी नहीं हो जाती, तब तक चन्द्रमस् एवं चन्द्रमा तत्व युगल स्व छन्द में समुदित नहीं होते। अर्थात् वरुणसोम संहति हुये बिना समुदित नहीं होते। गायत्री के व्याहरण (अनुध्यान) लेख मे इसे नाद विन्दु मर्यादा वर्णनकाल में विशेषतः कहा गया है। उदय से वरेण्यम् तक नादब्रह्म की अनुलोम वृत्ति (अपान) है। शेष तीन पाद मे विलोमा (प्राण) वृत्ति है। विन्दु से 'अपैति' तथा विन्दु से ही पुनः 'प्राणिति'। 'अन' तथा 'अण' धातु विचारणीय हैं। इन दोनों की समता के साधन मे बुद्धि की ज्योतिः एवं रस दोनों का ही सौम्यमान मे 'प्रचोदन' होता है। इस प्रकार से प्रचोदित होने पर मानवमनः (चन्द्र) 'भावर्ज' (सौ' मानवर्जित) नहीं रहता। वरुण-सोम संहति में वाक्-प्राग-चित्त संघात त फिर रहता है। इसे पहले ही अनेक बार कहा जा चुका। यह प्राणपाद के रण मनः) सार्वभौमिक प्रेक्षाधार मे विवेचित हो चुका है। एक ज्योति-

प्राणापानादिवृत्तीनामरा विन्दौ समर्पिताः। (विन्दुमुखीन)
रसे शून्ये च पूर्णे च चन्द्रमा पारदस्ततः लेख; गायत्रीलेखादि
करने के समय धाम-

हिरण्यमुदये रेतो माणिक्यं परमं लये।
मणिकाञ्चनलोल्यं चेन्मणौ योजय काञ्चनम् ॥७०॥

मणि-काञ्चन-संयोग

विन्दु स्वयं रस है और शून्य तथा पूर्ण है एक ही साथ। (पूर्ण से 'प', शून्य से 'अ' तथा रस से 'र' का आहरण करने पर होता है 'पार'।) नादादि निखिल सन्धान के पार है विन्दु। और प्राणापानादि समस्त वृत्तियों के 'अर' समूह कहाँ पर शेष समर्पित हैं ? विन्दु मे। अतः इस प्रकार विन्दु = पार। सौम्यमान की सहायता से चन्द्रमा तत्व का समाश्रय करने पर 'पार' जाया जा सकता है। अतः चन्द्रमा = पार-द। अब चन्द्रमारूपी पारद यदि हिरण्यरेताः नाद-सविता आकार में समुदित होते हैं, तभी पारद होता है हिरण्य। और यदि यह पारद विलोम किंवा लय में विन्दुब्रह्म अथवा रसेश्वर के 'पार' को प्राप्त करा दे तब क्या होता है ? वह हिरण्य (भास्कर) एवं पारद (चन्द्रमा) मिलित होकर हो जाते हैं परम माणिक्य। अतएव हे साधक ! यदि तुममें मणिकाञ्चनलौल्य है, तब विन्दुरूप मध्यमादि में नादरूपी हिरण्य सूत्र का योजन यत्नतः करो।

चन्द्रमादिकतत्वानि स्वानुबन्धेन योजय।
स्वस्मिन् यच्च तदन्यत्र नस्वस्मिंश्चेन् न तत् क्वचित् ॥७१॥

पारद चन्द्रमादि समस्त तत्वों की योजना अपने सम्बन्ध में करो। इस प्रकार की स्वयोजना से ही होती है सर्वयोजना। 'स्व' रूपी परमरहस्य में जो है, वही अन्यत्र भी है। यदि 'स्व' में वह नहीं है, तब वह कहीं भी नहीं है। इसलिये चन्द्र-सूर्य, वरुण-सोम, ग्रह-नक्षत्र, अयन-चरण, तिथि-वार-योगादि समस्त की योजना 'स्व' में करके अपनी महिम्नि में प्रतिष्ठित हो जाओ। सूर्य-चन्द्रमा आदि प्रसज्यमान विषयों की सविस्तृत वर्णना 'अध्यात्मसाधना' प्रसंग में है। आशा है कि इस साधन-सौकर्य सरणि द्वारा कथंचित सहायक रश्मिसंम्पात होगा।

मन की व्यवहार दृष्टि। चन्द्र तथा मनः

यह स्मरण रखना होगा कि तत्व तो स्वरूपतः समग्र तथा अविभाज्य है। सम्बन्ध मान भी उसी प्रकार का है। तत्व का भान भी उसी प्रकार का है। पूर्वोक्त जाती है। तत्वसम्बन्ध में भास पंचक रहता है। तत्व सम्बन्ध में Physical यत्तन्निमित्ता-ysical, Positive या mystic रूपी विभेद तत्वभान में नहीं, चित्र, छायाचित्र, में आते हैं। जैसे वाह्य (outdoor) एवं आन्तर (In-सब विकृति स्थलों बहिः अन्तः क्षेत्र में समग्र मान को (given whole of ex-खण्डशः व्यवहार में प्राप्त करना ही होगा। यह विशेषतः

मन का कार्य है। मन की जो व्यवहार दृष्टि है वह है अंश-कला-खण्डदृष्टि। यह मनस्तत्व केवल मनुष्य में ही हो ऐसा नहीं है। यह सृष्टि की सर्वभूमि में प्रसज्यमान तत्व—cosmically relevant principle है। संकल्प तथा मानस सृष्टि ही सृष्टि का आदिम पर्याय है। सृष्ट जीव में भी यही है।

जीव का अपना जगत् है उसका अपना चित्तस्पन्द। विराट जगत् भी है विराट चित्तस्पन्द। अतएव यह उज्वल नक्षत्र अथवा यह नगण्य धूलिरेणु, इन दोनों में कोई भी चित्तस्पन्द से निरपेक्ष मानसहीन (अमानस) पदार्थ नहीं है। यहाँ समग्र भान को, अंश, खण्ड तथा कला को व्यवहार में लाने का तत्व जैसे मनः है, उसी प्रकार से वह रहस्य भाषा में चन्द्र है। पार्थिव चन्द्र में इस तत्व का आभास मात्र है। किन्तु उसके साथ समीकरण करके 'अच्छा अब बस' मत कहना। 'नाल्पे सुखम्' अल्प में सुख नहीं है। मन का जो मामूली कर्म है, वह कर्म उसी प्रकार से चलने से तो विश्व 'चूरमार' हो जायेगा, उसे अंशतः-खण्डशः ग्रहण करना तथा उसका बोध भी संभावित नहीं रहेगा। विश्व तथा उसके बोध के लिये क्या आवश्यक है? किसी एक अखण्ड सामान्याधार को रखना होगा और कहना होगा "तुम अपने सब खण्ड-खण्ड लेख में, स्व छन्द में हो जाओ। तुम्हे जिस आधार पट को प्राप्त कराया है; वह इस महाकाश के समान वेविषाण एवं अध्वनीन है। (अर्थात् सब कुछ अपने छन्द में अध्वगमन के पक्ष में साधिष्ठ है)। इस प्रकार का एक आधार अवश्य चाहिये (जैसे इन अगणित ज्योतिष्कपुंज का अथवा अणु-परमाणु का)। क्या बहिः क्या अन्तः, सब कुछ स्वल्प, परिच्छिन्न, तथा खण्डित है। विचार करो ऐसा बहिर्विज्ञान तथा अध्यात्मविज्ञान में सर्वत्र है। यह हुआ एक। अन्य एक और का प्रयोजन होता है। छन्दोविधायक, छन्दोग कोई एक तत्व। जो सब कुछ को पाद-मात्रा-कला-काष्ठा में ले जाये। A principle of Co-ordination, Synthesis, unification. इसकी काष्ठा या परिसीमा कहाँ है? उस महासमन्वयी एवं परम समन्वयी छन्दः सौष्ठव में। एक प्रकार से महा एवं परम सौम्य में। परम में अखण्ड पूर्ण ज्योतिरस है।

पुनश्च वरुण तथा सोम परिचय

इन तत्वद्वय को वरुण तथा सोम की परिभाषा दी गयी है; क्या उसे फिर कहना होगा? इन तत्वयुगल की संहति से क्या होता है? चन्द्र (या साधारण मनः) अब केवल जो था वह न होकर हो जाता है चन्द्रमाः एवं चन्द्रमा। एक ज्योतिविशाल अध्वग (नादमुखीन) मानस। तथा एक रसनिबिड़ छन्दोग (बिन्दुमुखीन) मानस। दोनों ही साधना में यथायथ मिलकर धामग। (शक्तिलेख; गायत्रीलेखादि कतिपय कतिपय मूललेख, विश्वहृल्लेख-प्रतिकृति की परीक्षा करने के समय धाम-

गामित्व का सविशेष वर्णन किया जा चुका है)। यह लक्ष्य करो कि चन्द्रमादि त्रि-वर्ग का (चन्द्र, चन्द्रमा, चन्द्रमाः का) जो चन्द्र है; उसमें किसी कलंक या अपकर्ष की कालिमा नहीं है। अंश, खण्ड, भाग तथा कला में न देखने से तो पूर्णतः देखा ही नहीं जा सकता; कोई व्यवहार निष्पत्ति भी नहीं होती। चन्द्रकला के निमेष-उन्मेष के समान मनः मनन के भी समस्त कुछ के 'भांज को खोल कर और भांज करके' अपने परिचय के रंग में रंजित करना होगा, अपने व्यवहार के चिह्न से चिह्नित करना होगा।

इस प्रकार से सोम (चन्द्र) ही रंजक तथा रजक दोनों ही है। ड्राई क्लीनिंग तथा साथ ही साथ उसमें मार्का (चिह्न) डालना। इन तीनों कर्म में cleaning ही असल है। किन्तु ऐसा सम्यक् रूप से हो कैसे ? यह हो 'चन्द्रमस्' रूपी भर्गो-रश्मि द्वारा और रंजन भी शोभनभाव से होना चाहिये चन्द्रमा (पारद) रूप से। इसे मनन द्वारा देखो।

यह मनस्तत्व प्राण रसायनशाला विश्लेषण-विभाजन में विशारद है। इसे विदा दे देने पर तो रसायनशाला का द्वार ही बन्द हो जाता है, किन्तु मनःयोग को बुद्धियोग तक उन्नीत किये बिना 'सत्यस्य मुखं' अपावृत नहीं होता। अखण्ड ज्योति-रस या भूमा का आभास-अवभासादि नहीं मिलता। इसलिये चन्द्रमा की 'त्रिदेव' आकृति में ही अर्चना करना होगा। मस् (वरुण वर्चस्) एवं 'मा' (सोममान) के साथ असंहत (विमुखीन-वियुक्त) जो चन्द्र है, वह चन्द्र वरणीय नहीं है तथापि वह भावनीय तत्व तो है ही।

भजनीय एवं भावनीय तत्व

दिगम्बरः स्वभासा यः सिताम्बरः सभर्गसा।
पीताम्बरस्त्विषा सौम्यः कलङ्ककालिमा कुतः ॥७२॥

वह भावनीय क्यों हैं; विचार करो। जो स्वरूप ज्योति में (स्वभासा) निर्लेप, शुद्ध, निरंजन (दिगम्बर) हैं, वे अविद्या मल शुद्धिकृत् भर्गः का आश्रय लेकर शुक्लाम्बर (सिताम्बर) हो गये। वे अपनी भर्गरश्मि से निखिल मल का स्फालन करके समस्त सत्तादि को शुद्धिशुभ्रता से सराबोर कर देते हैं। भर्गस् के 'अस्' भागान्त से ये हैं चन्द्रमस्। और यदि भावानुराग का शोभन, सोमराग का पीताम्बर पहनना चाहो अपने नित्य रस उदासी 'मनुवां' को; तब राका—चन्द्रमा तिलक को मस्तक पर धारण करने वाली योगमाया की आराधना करो। वे 'जगद्-बीजाङ्कुराकृति' वैन्दवी कला को 'अमा' (बीज रूप विन्दुगाढ़ता में) एवं पूर्णिमा (शारदोत्फुल्लमल्लिकारूप नादपूर्णता में); इन दो परिसीमाओं में प्रस्फुटित करा देती हैं। रस पक्ष से 'अमा' की प्रमुदित-रास कमलरूपेण भावना करो। व्याहरण में

नादमेरु एवं विन्दुमेरु। ज्ञानकर्मादि में पूर्णोदय या पूर्ण ख्याति एवं पूर्ण विलय या उपरम की भावना करो। इस प्रकार से उदीयमाना तथा विलीयमाना वैन्दवी कला में 'कलङ्ककालिमा कुतः' ?

क्षयिष्णवः कलायाश्च याश्चग्रस्ताः कलङ्किताः।
विपर्यस्ता विलुप्ता वा चान्द्रास्ता नैन्दवी कला ॥७३॥

जो कलायें (aspects Partials) भीतर-बाहर क्षयिष्णु ग्रस्त कलंकित विपर्यस्त एवं विलुप्त हैं किंवा हो रही हैं, उन सबको चान्द्री कला कह सकते हो; किन्तु पंच अपन्हुति से विरहिता जो ऐन्दवी कला है, उसके साथ इसका 'ऐक्य' नहीं है। ऐन्दवी कला को एकवचन में क्यों कहा गया, इसे विचारो। यहाँ जिन पंच अपन्हव की बात कही गई है, वहाँ लक्ष्य करो कि केवल इस 'चांद' में ही नहीं, प्रत्युत् सचराचर व्यापारी जो मनः है, उसमें भी ये सब संभावित हैं। जप साधना में प्रणवादि पंचमात्रा द्वारा इन पंच अपन्हव का यथाक्रमेण परिहार करो। जैसे 'अ' में क्षयिष्णु, 'उ' में ग्रस्त, 'म' में कलंकित, नाद में विपर्यस्त एवं विन्दु में विलुप्त, इन समस्त आशंका का निवारण करो।

चन्द्र (मनः) जो कुछ भी रंजित रूपायित करता है, उन सब में इस ग्रस्त विपर्यस्त की संभावना रहती ही है। किन्तु ऐन्दवीकला का जो यह भास है, राग-कुशलिनी चन्द्रिका रूप, वह तो अघटनघटनापटीयसी है। तभी—

दधति मधुलिहश्चेत् पुष्पकोषे परागान्।
जहति किमुत कार्ष्ण्यं रेणुरागानुलिप्ताः।
ददति किमुपलं व्याप्युत्पलत्वं मयूखा।
अघटनघटनीयं चन्द्रिका चैन्दवी या ॥७४॥

मधुकरगण मधुलोभ के वशीभूत होकर पुष्पकोष में प्रवेश करके श्वेतपीत-रक्तादि पराग रेणुराग में जब तक अनुलिप्त रहते हैं, तब तक क्या अपने चमकदार काले रूप (कार्ष्ण्यं) का क्या त्याग कर देते हैं ? संशय में प्रश्न में 'किमुत' का प्रयोग किया गया है। और सैकत तट पर (बालू पर) गिरा हुआ जो स्फटिक उपल (पत्थर) है, उसे क्या बाल-अरुण आदि मयूख (सूर्य) अपनी किरणों द्वारा वास्तव में पद्म अथवा पद्मराग मणि की निजस्व मन्जुश्री प्रदान कर देते हैं ? इन सब आध्यासिक-आभासिक उपमा से यह प्रतीत होता है मानो यह सब तो अघटन है। अघटन कैसे घटित होता है ? किन्तु यह स्मरण रक्खो कि अघटन घटित कराने वाली कोई परमाश्चर्य शक्ति (योगमाया) हैं, जो अपनी ऐन्दवी कला की चमत्कारिणी चारु चन्द्रिका के परम विस्मयकारी कुहक द्वारा सब कुछ का शुभ्रभास्वर महिम्नि

में निरंजन एवं मन्जुलोज्वलराग में रंजन, इन दो अघटन का घटन कराती हैं। अतएव हे ऐन्दवी कला ! प्रसन्न हो जाओ।

अब चन्द्र से 'च' का आहरण करके चकोर तथा चातक रूपी मन के भावद्वय की भावना करो। इनमें भी अघटन घटना प्राप्त होगी ऐन्दवीकला पीयूष प्लावन द्वारा निष्णात होने पर—

नभसि जलमुचा चेत् पौर्णमासी परास्ता,
स्पृशति किमु चकोरं सोमपीयूषलेशः।
विलसति विधुबिम्बे चातकः क्वातितृष्णः,
पिवतु विगलदिन्दौ चातको वा चकोरः ॥७५॥

यदि गगन की घोर घनघटा से शारदपौर्णमासी भी अपास्ता अथवा परास्ता हो जाती है, तब देखो कि सुधापिपासी जो चकोर है, उसे कौन सोमपीयूषराशि के स्पर्श का अनुभव करा जाता है ? और दूसरी ओर विमल आकाश में विधुबिम्ब जब अपनी स्निग्ध किरणों के विलास के साथ विकसित होता है, तब अतितृष्णातुर (यहाँ तृष्णा में दिवस यामिनी का विचार नहीं है) चातक की कौन दशा होती है (क्व) ? अतः चकोर-चातक की तृष्णा का तर्पण एक साथ कैसे हो ? एक उपाय— यह जो ऐन्दवी कला है, उसे विगलित पीयूष के बादलों के आकार में समदित होने होने दो। वह विगलित अमृत घन एक ही साथ चातक-चकोर की तृष्णा को तृप्त करेगा।

व्याप्ति एवं अव्याप्ति

यह सब काल्पनिक भाषा ? किन्तु इसे अनेक प्रसंगों द्वारा समझो। जैसे चातक का जलधर=नाद। चकोर का पूर्णेन्दु=विन्दु। मनचातक तातल दीघल निदाघ में अपनी घनघोर प्यास की तृप्ति के लिये स्वाती जल की कामना विपुल घन वर्षा में भी करता है, जिसे कवि इस प्रकार से अपरूप रूपायित सुरायित कर गये हैं ! मन चकोर की प्यास क्या है ? रस-माधुरी के निबिड़ में जो अमृत विन्दु है, उस निगूढ़ निहित पीयूष कणा के मरमी आस्वादन की प्यास (जैसे मधुप के लिये कुसुम कोरक)। मन की इस चातकानुगा एवं चकोरनुगा वृत्तिद्वय का केवल रस भूमि में ही नहीं, परन्तु ज्ञानादि समस्त भूमियों में अनुसरण करना होगा। नाद की सीमाहीन व्याप्ति तथा विन्दु की अवशेषहीन अव्याप्ति, इन दोनों में विश्व के समस्त 'व्यस्त' का समस्तीकरण घटित होता है। व्याप्ति तथा अव्याप्ति, इन दोनों के मिलन के लिये ही तो है समस्त प्रेरणा, समस्त प्रवृत्ति तथा प्रयास ! बीज बीजरूप से ही क्यों नहीं चुप रह जाता ? क्यों होता है अंकुर, आरोहादिक्रम में ? उसकी यह विरामहीन व्याप्ति क्यों है ? वह पुष्पित-फलित होकर पुनः अभिनव बीज

होगा क्या इसी अव्याप्ति के लिये ? (पहले व्याप्ति अब अव्याप्ति) । किन्तु उस अव्याप्ति में भी अव्याप्ति तथा अप्राप्ति दोनों ही रह जाती हैं । तभी यह जगत् पुनः-पुनः बीजाकुंर आकृति में गतिमान होता रहता है ।

व्याप्ति कहाँ जाकर कहेगी 'यह तो मेरी सम्पूर्ण व्याप्ति हो गई (पूर्ण) अब कुछ भी बाकी नहीं है (शून्य) ?' इस शून्य-पूर्ण के एकत्र होने का स्थान है विन्दु । अतः तुम्हारे जीवन-साधन में नाद को विन्दु से मिलाओ । विपुल-निविड़, महान धन प्रचुर-निगूढ़ का परस्पर सम्मिलन हो । चातक की कामना है मेघ=नाद । चकोर की कामना है विन्दु । इन दोनों को वेद मन्त्र का 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' बनाना होगा । इस मन्त्र के अन्तिम चरण को नाद-विन्दु पक्ष से समझ लो । जब नाद विन्दु-मुखीन होता है तभी है 'स्वाद्वत्ति' वह होता है स्वादु-भुञ्जान । और विन्दुलीन होकर हो जाता है 'अनश्नन्' । Short में बाते कही गयीं । गायत्री में (त्रिपदी) प्रथम पाद में 'भुवः' 'अधिकार' में विद्यमान हैं । विचार करो । वरेण्यम् कहते हैं—यह । यो नः कहते हैं=वह । और धीमहि क्या कहते हैं ? कहते हैं भुवः वायुदैवतः । Dynamic, Functional. अन्तिम पाद में (इस त्रिपदी के) जो स्वः हैं, वे सूर्य दैवत् अवश्य हैं किन्तु सोम सम्मुखीन होकर 'स्वादु' । 'भूः' से अग्निदैवत् जो हैं, वे 'स्वाहा' रूप में यहाँ आकर अब स्वधा से मिल रहे हैं । इस स्वधाके स्व का अदन करके 'स्वः' हो जाता है स्वादु । स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक होने के कारण 'स्वाद्वत्ति' । यह बातें भी Short में हो रही हैं । यह लक्ष्य करो कि वेदमन्त्र ने स्वादु ही कहा है, कटु-तिक्त-कषयादि प्रसंग लक्षणों में आने पर अन्य अर्थ हैं, किन्तु साधन रहस्य को स्वानुबन्धोपयोगी (अपने लिये उपयोगी) अर्थ ही में अवहित होना होगा ।

धत्ते स्वमिति सर्वस्वं विन्दुशक्तिः स्वधा ततः ।
स्वादुदेति स्वरब्रह्म स्वादु स्वादु पदे पदे ॥७६॥

'स्वं' सब कुछ के सार सर्वस्व को (एकत्र शून्य तथा पूर्णता को) स्वयं धारण करता है । तभी विन्दु शक्ति ही तत्वतः स्वधा है । इस विन्दु रूप परम 'स्व' से स्वर ब्रह्म नाद उदित होकर पद-पद में परम स्वादु होकर पुनः विन्दु में ही मग्न हो जाता है । संगीत प्रसंग में भी इस तत्व की भावना करो । मध्यमा के अव्यक्त स्फोट से (अथर्थात् 'स्व') परब्रह्म पहले 'सा' रूप में समुदित होते हैं ।

यह जो परम 'स्वादु' है उसमें तुम्हारे चातक-चकोर रूप 'द्वा सुपर्णा' को 'सयुजा सखाया' करना होगा । किस प्रकार ?

वरुणस्तर्पयत्येकं सोमश्चापरमित्यतः ।
वरुणसोमसंहत्या तृप्यतः सयुजौ हि तौ ॥७७॥

वरुण चातक का तथा सोम चकोर का तृप्ति विधान करते हैं। इसीलिये वरुणसोम संहति जो चन्द्रमा (अस् भागान्त, अन् भागान्त तथा आकारान्त) हैं वे, संयुक्त युगलरूप मे तर्पण करते हैं।

रेणु तथा विन्दु

जैसे किसी फूल या औषधि का बीज वपन किया। वरुण जलद आदि अप् रूपेण एवं सोम शिशिर आदि रूपेण उस बीज का लालन एवं पोषण करते हैं (पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः)। यह स्थूल दृष्टान्त है, किन्तु सूक्ष्म को भी व्यापक रूप से समझो। औषधि मे वरुण सोम संहति विस्पष्ट आकृति में स्फुरित होती है। इसीलिये औषधि है चन्द्रमा वर्गीया। औषधि में स्वधा केवल सत्ता-शक्ति में नहीं परन्तु स्वराकृति में भी प्रविष्ट होती है। आदि में 'व' तथा ओ। 'स' मूर्धन्य और 'धा' गति एवं ऋच्छति रूप प्राप्त करके हो गया 'धि'। = ओषधि। स्वधा का ओषधि रूप में जो विवर्त्तन है, उसमें वरुणसोम संहति निष्पन्न चन्द्रमा का समाचार दिया गया है। 'स्व' में सोम वरुण अन्योन्य सम्पुट में सम्मिलित हैं। 'व' प्रथमतः 'उ' में, वाद में प्रणव के आदि स्वर 'अ' में मिलित होकर हो गया 'ओ'। आदि स्वर है आधार स्वर। उसे छोड़कर किसी का भी अस्तित्व नहीं है। 'ओ' के आगे आने पर 'स' गया मूर्द्धा में (उषस् आकृति भी इस प्रसंग में परीक्षणीय है)। 'ओ' में शक्ति व्यापिका (as Continuum) है। उस शक्ति में सब कुछ का लालन होता है (यथा वायु मण्डल में व्याप्त जलीय वाष्प आदि)। किन्तु शक्ति को रेणु as quantum या Corpuscal रूप समाप्त करना चाहिये पाषाण बनाने के लिये। (यह दृष्टान्त Moisture इत्यादि के रूप में मिलता है) शक्ति को रेणु रूप में लाने के लिये प्रपातन (Incidence) मूर्द्धन्य होकर प्रेरित करता है।

समन्तात् सिंचित शक्ति (सकार) किसी ऐसे धाम से उत्सरित होगी, जहाँ से वह रेणु विकिरण रूप से वापस आ सके। विश्व के नाना स्तरों में यह रेणुकरण तथा विकिरण धाम विन्यस्त है। उन धाम समूह की साधारण संज्ञा है 'ष'। इसे मूर्धन्य करके उच्चारित करना चाहिये। यथा कृष्ण, हृषीकेष, ऋषभ, वृषभ, उषस्, ओषधि, भेषज इत्यादि शब्दों में परावरभाव से जो मूर्धन्य धाम की शाक्ती आकृति रहती है, उनके शक्तिमान की यथायथ रक्षा करके ही उच्चारणादि करना उचित है। प्रथम नाम में मूर्धन्य धाम की परिसीमा (तीन मूर्धन्य सम्मिलन) है। इस पर अथवा परमभूमि से आरम्भ करके मूर्धन्यधाम परम्पराक्रम से अवरता में अवतरण करते हैं। किसी अवर मूर्धन्यस्तर में सिंचित शक्ति का प्रपातन (Incidence) घटित होने पर जिस रेणुरूप का प्रतिफलन (Reflection) होता है, उसमें अव-

क्षेपणादि (Refraction) की न्यूनाधिक सम्भावना रहती ही है। किन्तु परम मूर्धन्य 'अव' अथवा 'अप' इस संभावना से शून्य है। अतः वहाँ जो जायेगा, वह पूर्ण हो जायेगा, और वहाँ से जो आयेगा, वह पूर्ण ही आयेगा। अन्यत्र जो रेणु है वह यहाँ है विन्दु-शून्य-पूर्ण एक साथ। इस विन्दु तक गये बिना किसी तत्व के यथार्थ हानोपादान शून्य एवं पूर्ण तत्व रूप प्राप्त करने की सम्भावना ही नहीं है।

दृष्टान्त

किसी भी वाह्य जल, वायु, अथवा मन के किसी भावादि को तत्वतः जानते तथा प्राप्त करने के लिये केवल रेणुरूपता को ही उदाहरण के स्वरूप में लेने पर कुछ नहीं होगा। आधुनिक विज्ञान रेणुधारा क्रम से बहुत दूर तक अग्रसर हुआ है, फिर भी विन्दु अभी भी बहुत दूर है। रेणु की उर्मि तथा उर्मि का पुनः रेणु, इस परोव-रीयान क्रम से विन्दुधाम की खोज अवश्य हो रही है, परन्तु इस प्रकार की जो खोज Theoretical Investigation) है, उसमें अव्यवस्था की आशंका कैसे समाप्त हो? इसलिये तुम अपनी वाह्य तथा आन्तर उर्मि (स्पन्दन) को ऐसे किसी धाम का स्पर्श दो, जहाँ से वह अपनी विक्षिप्त रेणु-विकिरण रूपता का परिहार करके स्व छन्द में संक्षिप्त विन्दु पूर्णता में समाहृत हो सके। एक प्रकार से व्यावृत्ति से समा-वृत्ति ही जप का लक्षण है। जैसे ओ=कोई उर्मि या स्पन्द-वितान। इसे 'म' में एक अन्तिम स्पर्श देने का साधन करो। किसका स्पर्श? नाद का। अच्छा, किन्तु स्फुरण होने पर भी नाना ग्राम में होगा तो! तभी ओम् का जप करते-करते नाद के इस एकमात्र समर्थ ग्राम को प्राप्त करने का यत्न करो। यह सहज ही नहीं होता। तब भी भावनिष्ठा के साथ लगे रहो। सम्यक् रूप से समर्थ ग्राम (मूर्द्धन्य धाम) की प्राप्ति से ही यथार्थ विन्दु मिलन होता है। प्रणवादि समस्त जप में यही लक्ष्य करो। वैन्दवी की प्राप्ति हेतु ऐन्दवी (चन्द्र विन्दु) की साधना करो। कृष्ण नाम में जो 'ष' है, वह परमाकर्षक है। साक्षात् भाव से।

अन्य-अन्य महानामों में (राधेश्याम-कालीतारा-हरेराम, उमाशंकर) यह परमाकर्षण विन्दु अन्य आकृति में विद्यमान रहता है। जप प्रारंभ मे स्पन्द साधन है (भाव-छन्दः के साथ)। पश्चात् काल में यह हो जाता है नाद साधन और अन्त में विन्दु साधन। चरम में होती है 'इष्ट' से अभिनिष्पन्नता। स्पन्दसाधन काल में चित्त चालित होता है चान्द्री शक्ति द्वारा। इसमें भी पंच अपन्हुति की आशंका रहती है। नाद साधना में चन्द्रमाः एवं विन्दुसाधन में चन्द्रमा विषशेतः चित्त की अध्यक्षता करता है। स्पन्द साधन में चार, नाद साधन में ९ पाद तथा विन्दु में ३ पाद, सब मिलाकर ४+९+३=१६ पादों में जपादि का समापन करना पड़ता

ह । यह प्रसंग आगे कहा जायेगा । तब भी पहले जो शब्दसाधन है । उसमें पाद-मात्र-कला-काष्ठा द्वारा पूर्वोक्त अपन्हव आशंका का परिहार करो ।

स्पन्द साधन में चार लक्ष्य

वर्द्धते पद्यमानं यत् मीयमानञ्च मुच्यते ।
क्लिद्यते कल्यमानं न पूर्यमाणं न लुप्यते ॥७८॥

जो छन्दोग (वस्तु) पाद-पाद में पद्यमान, सम्पद्यमान इत्यादि होता रहता है, वह तो बढ़ता रहता है । क्षययुक्त (क्षयिष्णु) नहीं होता । यदि सुषम मात्रा में स्वयं को 'मित' 'सम्मित' इत्यादि किया जाये, तब वह ग्रास आदि से मुक्त हो जाता है । यदि वह स्वयं (पूर्वोक्त ऐन्दवी) कला-कला में सौम्य-शोभन आकलन करके परिस्फुटित होता है, तब उसके क्लिन्न (कलंकित-विपर्यस्त) होने की शंका ही कहां है ? और अन्त में जो पूर्यमाण होकर अपनी पूर्णता परिसीमा में उपनीत हो जाता है, उसकी अवलुप्ति की संभावना नहीं रह जाती ।

स्पन्द विज्ञान के दृष्टिकोण से इन चारों का चिन्तन करो और अपने वाक्-प्राण-चित्तादि की स्पन्द साधना में सचेतन हो जाओ । स्पन्द के किसी अवर शक्ति क्षेत्र में उदित होने पर उसे बाधप्रतियोगी (Conditioned by retarding factor) होना पड़ता है । तभी सप्तशती मे अविनश्वर परमाणु व्याख्या में लार्ड कालविन प्रभृति को ईथर की Perfect fluidity को स्वीकार करना पड़ा है । यह रोध प्रतियोगिता नाना आकार में आती है । जैसा यन्त्र तथा कंठ से गीत में होता है उसी प्रकार सर्वत्र सुषम-स्पन्दवितान तथा संहति समुच्चय के लिये स्पन्द की जो अवष्टम्भक, विक्षेपादि प्रतिक्रिया संभावित (Possible damping Scattering reactions) होती हैं, उन्हें सर्वाधिक न्यूनता में लाना होगा । न्यूनता = minimum, उचित रूप से पाद-पाद में पद्यमान होने पर इस प्रकार से क्षयिष्णु होने की संभावना विदूरित हो जाती है । बीज से अंकुर, उससे प्ररोह आदि । सम्यक् रूप से पाद-पाद में स्वयं को अपनी साफल्य चरितार्थता में पद्यमान होने दो । जैसे संगीत में अस्थायी से लेकर आभोग पर्यन्त की स्थिति । यदि गायत्रीजप में षट्पादिका आकृति का समाश्रय करते हो तब इन पादों की पद्यमानता को ठीक रखना होगा । पद्यमान रहने पर वह कहेगा 'मैं अब क्षयिष्णु नहीं हूँ । विवर्द्धिष्णु, संवर्द्धिष्णु हूँ ।' 'पादः संवर्द्धयितो प्राणानाम्' ।

पद्यमान होने जा रहा है तभी सांकर्य आदि के कारण (Due to interference etc,) स्पन्द की ग्रस्त तथा विकृत दशा घटित होती है । इससे मुक्ति के लिये मात्रा (measure, Rhythm) का आश्रय लो । सबसे कहो—तुम्हें ठीक ताल में चलना होगा । जैसे गायत्री में प्रत्येक पाद की चार मात्रा देना अथवा किसी

सुषममान में ले जाना। Rhythmicity ठीक बची रहनी चाहिये। 'हरे कृष्ण' इत्यादि नाम में भी यही है। इस प्रकार विपर्यस्त (जैसे गायत्री की ६ पूर्ण एवं ६ शून्य कला में अथवा स्फीति एवं स्थिति में) भाव का परिहार करते हुये कलाक्रम में (Phase appearance) चन्द्रमा को दैवत्‌रूप में रखना होगा, जिससे पूर्ण-शून्यादि कला तुम्हारे वाक्‌ प्राण-चित्त रूपी त्रिलेखा में उदित हो। यदि तुम अपने व्याहरण-अनुप्राणन-अनुध्यान की फोटो खींचो, तो वह छवि सुषम Symmetrical हो। समग्र graph अनवद्य, मनोज्ञ सुलेखा में हो, इसके विपरीत न हो।

अन्त में स्पन्द की अवलुप्ति का वारण करने के लिये उसे काष्ठा में, जैसे विन्दु में) ले जाओ। विश्व में जहाँ जितने भी स्पन्द हैं, यदि उन्हें उर्मिदृष्टि से 'ओ' कहो तब उस उर्मि की सर्वतोऽनवद्या आकृति होगी ओम्। केवल नाम जप में ही नहीं, तुम्हारे अन्तर में तथा बाह्य में जितने भी स्पन्द हैं, तुम्हारे सरसी-सरित-सागर की जितनी भी उर्मियाँ हैं, उनका 'ओम्' में अन्वय न कर सकने तक वे बारम्बार 'आक्रम्य' आघात रूप को नहीं छोड़ते। अविश्रान्त रूप से उन उर्मियों का ऊपर उठना पुनः नीचे आना उन्हें न तो किसी उच्च गरिमा में उठाये रखता है और न निम्न लघिमा के अपने छन्द में ही लघुभार युक्त कर पाता है। उनका यह उतार चढ़ाव अपने निर्मम 'तगादे' से तुम्हारी 'रिहाई' कैसे होने देगा ? तभी तो है वह 'सिन्धौ विन्दुदशकम्'। अतएव सर्व बिसम्बादिनी स्पन्द वितति के स्थल में 'ओम' के 'अ' में पद्यमानता को अविच्छिन्न रक्खो। 'उ' कार में स्पन्दमान के सौम्यमान को उदार उन्मुक्त रक्खो। 'म' कार में उसके कलाक्रम विपर्यास प्रभृति को अन्तिम स्पर्श (Vanishing point or evanascence) में लाओ। और अन्त में नित्य नाद संगृहीत करके परम विन्दु सम्मिलन में मरस्पन्द को अमर-परम ख्याति में निष्पन्न करो।

पूर्वोक्त चर्याक्रम

रेणु अटन प्रभृति का वर्णन पहले हो चुका है। यहाँ निखिल स्पन्द को चन्द्र बिन्दु (प्रणव के नाद बिन्दु) में लाने के चर्याक्रम को इस प्रकार से देखो—

रेणोरटनमादौ यत् तद्रेणोरटनं त्विषा।
छन्दसा रणनं रेणो रेणो रमणमन्तिमें ।।७९।।

पहले स्पन्द के सूक्ष्म अवयवों (Elements or quanta) के अटन मात्र (Irregular motion) को समझा जा सकता है जैसे सूर्यकिरण में धूलिकणों का इतःस्ततः दौड़ना। प्रारंभ में जपस्पन्द ऐसा ही प्रतीत होता है मानों वाद्ययन्त्र में सुर बाँधा न गया हो। तदनन्तर अटन हो जाता है 'रटन'। जब 'अ' (अग्नि) स्वयं को (अरणिद्वय के घर्षण के समान) साक्षात् तेजो रूप (त्विषा) 'र' कार

बना लेता है तब सूर्यकिरण में धूलिकणों का इत:स्तत: विक्षेपण नहीं रह जाता। एक-एक रेणु हो जाता है एक-एक तेज:कणा (Dynamic particle) जैसे रेडियम का अणु। अब स्पन्द हो गया रेडियेशन। तब मन्त्र की शाक्ती संस्था (Dynamic Chargeability) प्रारंभ हो जाती है। यह है कुण्डलिनी जागृति की प्रथम परि-सूचना। उक्त सूचना सूचक लिंग बहि: आदि भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

रटन्ती शक्ति

जो कुछ भी हो, यह शाक्ती संस्था आने पर इन्जन के बायलर अथवा बैटरी के समान अवष्टम्भक एवं परिचालक ग्रन्थि (Valve) में शक्ति 'रटन्ती' हो सकती है। Centres of Inhibition and commutation become 'energy Co-efficients'. फलत: अनेक केन्द्र मर्मस्थल इत्यादि अब तक विमुख पराङ्मुख थे, वे हो गये उन्मुख, सम्मुखीन। जैसे स्पन्दसमूह को संहत, केन्द्रीण करने वाले जो उप-युक्त प्रतिफलक (Condensing mirror इत्यादि) हैं, उन्हें इस बार उन्मुक्त हो जाना होगा। सम्मुखीन होना होगा। परिणामस्वरूप रटन हो जाता है रणन (Resona-nce)। बहि:प्रक्षेप की न्यूनता तथा अन्तसंक्षेप के आधिक्य के कारण यह रणन् गायत्री प्रकृति 'स्वधां' दुहाना अमृतस्य धारामूरूप छन्दांसि (Consummatiny harmony) आकृति का परिग्रह करती है।

रणनी

इस रणनी संस्था में नामादि स्पन्द के संचार से साधक की समग्र सत्ता छन्द ब्रह्म की रेणुमंजीर रूप से स्वयं को सज्जित कर लेती है। पहले रणन् अन्त:क्रिया होने पर भी अब बहि:क्रिय भी हो जाता है। जिस यन्त्र में इस नाम मंजीर का निक्कणन चलता है, तुम उसके पास बैठकर उसे समझ सकते हो। वह तुम्हारे लिये भी अंग, प्राण, मन का रसायन बन जायेगा, यद्यपि कुछ कानों से न सुनाई पड़े, तब भी ! 'हृत्कर्णरसायनम्' यहाँ पर हृत् तथा कर्ण प्रचलित अर्थ में भले ही रहे, किन्तु हृदय का कर्ण अर्थात् हृदय स्थित जो कान है, इत्यादि गंभीर रहस्य में जाने से संकोच मत करो। हृदय में है मध्यमा वाक्। यह हृदय है, शब्द की बन्द सीपी (मुक्ता कोष)। वह प्राणस्पन्द का कोई भेद उन्मुक्त नहीं करता (क्योंकि सीपी में बन्द है)। सीपी के भीतर जो मरमयुक्त मुक्ता है, उसमें ही निधि का सन्धान देने वाली दृष्टि लगाओ।

रेणु रणन में आकर प्रतिफलन, प्रतिपूरण तथा प्रतिकलन को अकुण्ठा में घटित होने दो। प्रतिकलन हो गया स्पन्द रूपी रेणु समूह के प्रणवादि नाम सम्बन्ध का अभिनव कलन, आकलन, संकलन। जैसे कोई गुणी बेहाला बजाने वाला वादक

पुन: पुन: उसे बजाकर यन्त्र के रेणुपुंज का एक अभिनव प्रारब्ध संकलन कर रहा है। An harmonic molecular transformation and vibratory predisposition. व्यस्त बहिर्विक्षेपण को कम करके और मैत्र रणन संस्कार समूह का 'समास' करके (By accumulation of positive alliances) समग्र यन्त्र के इस प्रतिकलन को ऐसी एक साधिष्ठ युंजानता में लाना होगा, जिससे वह हो जाये श्री नारद के हाथो की वीणा। अथवा 'ब्रजबंधु' के चरणभंजीररणनमधुलालसा, कालिन्दीतट विपिनसंगीतकरवशिहरिता केलिकदम्बरेणुरचितश्रृंगारा कोई एक अतर्कित हृदया रेणुका।

रमणो

युजांना साधिका रूप से अपनी सत्ता के प्रत्येक रेणु को प्राप्त करना होगा रेणुरणन में। रवीन्द्र की वह युक्ति 'तव आकाशे-यत तारा' का स्मरण करो। जितनी 'निकुंज मंजरी' हैं, सब अपने अंग में ही प्रस्फुटित होती जा रही हैं। अन्त में रेणुरमण की बात को सभी देशों के Mystic लोगों ने कहना चाहा है; परन्तु कोई भी 'मुह खोलकर' नहीं कह सका। प्रत्येक रेणु में रमण। इस रमणीरमण में आते ही भक्त रामानन्दराय के मुख को मानो उसने ही बंद कर दिया। फिर भी अपनी सत्ता का प्रत्येक अधोमुख रेणुकमल किस रमण द्वारा, उर्ध्वमुख हो रहा है; प्रस्फुटित प्रमोदित एवं अन्त में प्रमुदित हो रहा है, उस परमास्वाद को प्राप्त कराने के लिये वही शरदोत्फुल्लमल्लिका रन्तुमना माधव की मधुयामिनी योगमाया कब उद्यत होगी, यह तो वे ही जानें।

इस परमास्वादन का कथंचित तटस्थ भाव "मोर हृदि वृन्दावने मन प्राण लये विहर" मेरे हृदय, वृन्दावन में मन प्राण ले विहार करो, अथवा 'पद्मवने हंसी-रूपे करे रमण', इन्हें रेणुरमण के पर्याय में पढ़ो। सभी स्थानों में इस रेणुरमण को तरुणोल्लास से प्रौढ़ोल्लास, उल्लास से विलास तथा अन्त में स्वलसित में प्राप्त करना होगा। योग की सविकल्प समाधि मे अभी भी स्पन्द सर्वथा निरोध परिणाम को प्राप्त नहीं कर सका, इस समाधि की 'सानन्द' रूपी चेतोरेणुरमणी वृत्ति विशेष गंभीरान्त:धनता के अनुभव में प्राप्त होती है सास्मित समाधि की प्रशान्त विपुल व्योमव्यापिता में। ज्ञान में मिलती है 'भूमैव सुखम्' उपलब्धि के उपक्रम में। ब्रह्म एवं आत्मा का अभेद समीकरण साधित होता है इस चरम उपक्रम के सम्मुखीन होकर ही। आत्मन् ही ब्रह्मन् तथा भूमन् को अपना 'मन्' देकर एक कर लेते हैं। 'मन्' है आत्मनीनता का लिंग। 'चन्द्रमन्' शब्द को तभी आत्मनीन करके प्रदर्शित किया गया है।

प्राकृत से अप्राकृत

अपेक्षाकृत अधस्तन भूमि में तथा प्राण मन का जो अटन स्पन्द है; उसे रटन-रमण के माध्यम से यथासम्भव रसरूपता में लाना होगा। मन में स्मरण रखना होगा कि परम रमण जो रसवस्तु है, वही 'प्राकृत' में सर्वत्र मानो कुण्ठित-लुण्ठित-गुण्ठित होकर उतरती आ रही है (निम्न में आ रही है)। प्राकृत जगत् में सर्वत्र यही रेणुविरंसा विद्यमान है। विश्व के प्रत्येक रेणु में है एक चिर अबूझ चिर अतृप्त आसंग तृषा। प्राणिवर्ग में आकर यह हो जाती है 'आत्मेन्द्रियतर्पणेच्छा'। अप्राकृत रेणुविरंसा का शुद्धि हेतु। रेणुविरसा की शुद्धि अर्थात् कुण्ठित लुण्ठित गुण्ठित का त्याग करके तत्वतः अवस्थिति। 'चन्द्रमस्' (चन्द्रमाः) एवं चन्द्रमन् (चन्द्रमा) दोनों को मिलकर होते हैं इस शुद्धि के संविभर्त्ता। इन दोनों की संस्कृति तथा संभूति से रहित विरही जो चन्द्र है, वह है रिरसाविधुर विधु, कलंकी शशाक। मन-चकोर को मधुलोभी होकर इस कलंकी विधु को 'भजिष्णु' 'भजने योग्य' नहीं बनाना चाहिये।

बीज समाश्रय

क्लींमिति कामबीजं यत् कृष्णायेति रसः स वै।
गोविन्दायेतिमात्राः स्वा वल्लभायेति हूयताम् ॥८०॥

भजिष्णु न होकर यजिष्णु होना होगा; 'क्लीं' रूपी कामबीज का आश्रय लेकर। ह्लीं बीज द्वारा पूर्वोक्त रेणु अटन को प्राप्त करना होगा रेणुरटनरूपेण। 'ऐं' बीज द्वारा रेणुरणन को ज्योतिष्मत् छन्द में तथा 'श्रीं' बीज द्वारा रोचिष्मत् छन्द में पाना होगा। अन्त में वह रेणुरमण। इसके लिये समाश्रय लो क्लीं (एवं क्रीं) का। इस काम-बीज में जो चन्द्रविन्दु है उसे चन्द्रमाः एवं चन्द्रमा रूप से क्रमशः ज्योतिर्यजिष्णु तथा रोचिर्यजिष्णु रूपी होतृयुगल मानकर भावना करो। तुम्हारी जो अपनी 'धी' है उसकी द्विविध ऐषणायें हैं भासैषणा तथा रसैषणा। इन दोनों का मैत्र एवं साहित्य होना चाहिये। क्यों ? ये दोनों मूलतः एक हैं। आनन्द या रस ही है अस्ति-भाति। अतः कामबीज द्वारा यजिष्णु होकर जो 'रसो वै सः' रूप से रस के स्वरूप, आश्रय तथा विभर्त्ता हैं, उन निखिल हृदयोजित यज्ञेश्वर कृष्ण में अपनी प्रथम एवं चरम, दोनों आहुतियों की योजना भावना करो। तुम्हें अपने रिरंसा रस को परमरमण वाले रस की परिसीमा के पास ले जाना होगा।

वे परमरस सब कुछ के व्यभिचारिणी प्रवृत्ति युक्त रहने पर उनमें मात्रा (गो=वाक् इन्द्रियादि में) रस या मधुरूपेण प्रवृष्ट रहकर उन्हें अपना बनाते हुये 'लाभ' कर रहे हैं (विन्दति); अतएव वे गोविन्द ही भजिष्णु यजिष्णु हो जायें। 'कुर्या गोविन्दनाथाच्युत चरणदृशो नो धियस्तां प्रपन्नाः' इस श्लोक का पुनः

स्मरण करो। मृषा (झूठे) रसलोलुप अपने मात्रा समूह को उस परमरस की मात्रा बनाकर प्राप्त करना होगा। मात्रा को 'सरासर' मिथ्या मानना भी तो सहज नहीं है। मनन 'बूझता' है परन्तु मन तो नहीं मानता। तन चाह ले तो भी धन जन नहीं चाहता कि ऐसा हो ! विचार में दृढ़ किन्तु संचार में शिथिल। यदि मनः प्राण सर्वेन्द्रिय तथा सर्व विषय उस रसकुमार की अपनी मात्रा में 'मान' नहीं प्राप्त कर रहा है, तब उनका जो आगमापायी प्राकृत मात्रासमर्थ है, उसके पार जाने का पथ उन्मुक्त नहीं होता। गोविन्द नाम ही मात्रास्पर्श के पार नादविन्दु की कुण्ठारहित, वैकुण्ठसरणी को उन्मुक्त कर देता है। शैवशाक्त अपने गौरीशंकर या उमाशंकर नाम को कैलासलसन्ती दृष्टि से नादविन्दु प्रत्यभिज्ञा में देख लेते हैं।

अंगार तथा हीरक

अच्छा हमारे सब कुछ में रसकुमार रूपी पारसमणि का स्पर्श देकर उनके तुच्छ धूलिमान को काटते हुये अमूल्य रतनमान में तो अवश्य लाना होगा और अब कोयला पुनः कोयला न रहकर हीरक हो गया किन्तु रसकुमार रसघन को हमारे अपने नाथ-वल्लभ रूप से प्राप्त किये बिना 'वह' नहीं होता। जो था बद्ध वह होगा बन्धु, किन्तु कब ? जब 'मेरा बंधु घर आये' उसके पहले नहीं। जब तक रसभूमा अथवा अखण्ड रसवस्तु रसराज रसिकचन्द्र चूड़ामणिरूपेण 'ममवल्लभ' नहीं हो जाते; तब तक यह अघटन संघटन नहीं होता।

हृदयं रसशाला में रसराजः स वल्लभः।
निर्मितोऽङ्गारकात् सद्यो हीरको नूपुराय किम् ॥८१॥

ए हृद करि रसशाला,
रसराज हे आमार हृदयवल्लभ।
ऐ हेन अङ्गारे करि हीरे
करिले कि ओ चरण नूपुर सुलभ !

अङ्गारकोऽवरन्यस्तो वरन्यस्तस्तु हीरकः।
अपास्तं नावरं यावत् तावन्न नस्यतेवरम् ॥८२॥

अंगार तथा हीरक का यह महान् विभेद क्यों है ? अंगारक रेणु अवरन्यस्त तथा हीरक रेणु है वरन्यस्त। रेणुन्यास ही विभेद का कारण है। अतएव जब तक अंगार का अवरन्यास समाप्त नहीं होता, तब तक हीरक का वरन्यास नहीं होगा। जिस न्यास तत्व का पहले वर्णन हो चुका है, उसे इस दृष्टान्त से समझो। चितादग्ध होकर जो कोयला होगा, वह व्यक्ति जीव दशा में भी वस्तुतः अंगार ही था (कोयला ही था)। इस अंगार का अवरन्यास (प्राप्य वरान्) वरन्यास में कैसे विवर्त्तित हो ? यही तो है रेनुरटनादि साधन।

शक्तिन्यास एवं शुद्धिन्यास

भर्गसा भुज्यते हेयं सृज्यते रोचिषोत्तमम् ।
भाले तद् राजते भासा हृदये रोचतेमुदा ।
ललाटचन्द्रमाः ख्यात्यै कान्त्यै हृदयचन्द्रमा ॥८३॥

अपने भाल पर दो चन्द्रमाओं को उदित देखो। एक अपनी शुभ्र; सुकोमल भाति (भासा) में विराजमान है। उससे दो प्रकार की दीप्ति (भा) विकिरित हो रही है। एक से तुम्हारे संघात एवं परिवेश का जो कुछ हेय है, (अवरन्यस्त है) बह भ्रष्ट भूजा जा रहा है (Penetrated and treated by intensive, Powerful radiations), दूसरी से उनका अवर शक्ति न्यास (Lower-level energy disposition) वरन्मास (higher level dispoositon) में उन्नीत किया जा रहा है। यह है क्रमशः शक्तिन्यास एवं शुद्धिन्यास। भाल चन्द्रमा की इन दो रश्मि को क्रमशः भर्गोरश्मि तथा ख्यातिरश्मि कहते हैं। ललाटस्थ द्विदल में यह रश्मियुगल अन्योन्य साहित्य समन्वय में रहते हैं। इनका आकृतिलेख है चन्द्रविन्दु। पक्षान्तर से हृदयचन्द्रमा हृल्लेखा को प्रसारित करते हैं। तभी अपनी रोचिः (हृल्लेखानुगृहीत रश्मि अथवा सोमरश्मि) द्वारा अवरन्यासयुक्त भर्गस्वान् ख्यातिमान 'अंगार' को परम् कान्ति उज्वल 'हीरक' बना देते है। पूर्वोक्त भर्गरश्मि तथा ख्यातिरश्मि की निरपेक्षरूपता से इस 'कान्त्यै' एवं 'रुच्ये' रूपी सोमसृष्टि का कर्म नहीं हो सकता। भास (ख्याति) को साथ (साहित्य) तथा समन्वय में प्राप्त करके ही भाव (कान्ति-रुचि) अपने स्वभाव को शोभन रूप से प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं प्राप्त कर सकता।

बन्ध हो जाये बन्धु

जो मनः चन्द्र को बन्धु (बन्धन अर्थ में) बनाकर दौर्मनस्यभाक् करता है, उसे चन्द्र विन्दु का आश्रय लेकर सौमनस्य युक्त होने दो।

दौर्मनस्यविषोद्भिज्जच्छायालेशो विषायते।
(छायाऽपि चेद्)
सौमनस्यसुधावल्ली पुष्पकणोऽमृतायते ॥८४॥
(वातः किं नामृतायते)

दौर्मनस्य विषतरु, छायालेश तार विषमय।
सौमनस्य सुधावल्ली, सुधा तार पुष्पकणिकाय ॥

दुर्मनाः बिष का वृक्ष है; उसकी छाया का स्पर्श भी विषमय है। सुमनाः सुधावल्लरी है, उसके पुष्प अमृत हैं।

पञ्चशाखो विषोद्भिज्जस्तृणेढ़ि कोषपञ्चकम् ।
पञ्चशाखा सुधावल्ली ययाऽमृतत्वमश्नुते ।।८५।।
पंचशाख विशेष पादप तार हिंसाहत यदि पंचकोष तव ।
पंचशाखा अमृतवल्ली अमृते करिवे ताय संजीवित नव ।।

प्रणव तथा पंचीकरण

सृष्टि का मूलाधार जो प्रणव है; उसकी पंच मात्रा (अ उ म नाद विन्दु) के मूल कारण से निखिल जात पदार्थ पंचीकृत, पंचकोषात्मक हो रहे हैं। यह पंचकोष मूलतः आनन्द की ही पंचमात्रा है। आनन्द ही अपने स्वरूप भूमत्व का इस पंचधा बहुत्व के रूप में प्रपंचन करता है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' यही है भूमत्व के बहुत्व का संकल्पन एवं संकलन। मूलसृष्टिधारा के तपस् भाव; प्राण तथा आकाश भाव में, प्रणव तथा प्रणव के पंचीकरण को सर्वभावना में प्राप्त करना होगा।

आकाशादि का पंचीकरण (त्रिवृत्करण) सामान्य रूप से परिचय में अवश्य है; किन्तु पंचीकरण की मूल कारण सन्धि है क्या है? विशेषतः प्रणव परीक्षा प्रदीप में परीक्षित हुये बिना केवल 'प्रवचनेन' 'श्रुतेन' प्रवचन द्वारा सुनकर अनेक भाष्य होने पर भी वह बोध एवं प्रत्यय में सर्वथा 'भास्य' नहीं होता। जैसे छन्दोगादि उपनिषदोक्त 'व्यान' को आधार तथा सन्धिरूप में प्राप्त किये बिना; वह प्राण के पंचीभाव व्यवहार में आने पर भी बोध में नहीं आता। प्रणव; गायत्री आदि के व्याहरण में नादमेरु स्थल तथा विन्दुमेरु। स्थल पर 'व्यान' को वितान तथा संधि आकृति में देखा जाता है। अनुलोम एवं विलोम में प्राणापानादि का व्यानविन्यास साधित करना पड़ता है। अनुलोम पर्व में मात्र मन्त्र का ही नहीं प्रत्युत् निखिल पंचीकृत विश्व का उदय होता है। विलोम पर्व में निखिल का विलय हो जाता है। अतः इस प्रपंचित भवप्रत्यय को जपध्यान में भाव प्रत्यय में आकारित करके स्वभाव प्रत्यय में प्राप्त करो। सूक्ष्म विराट आदि समस्त स्तर में; मूल में, आकारिका जो प्रणवाकृति है, उसकी अध्यक्षता में पंचीभाव घटित हो रहा है। अणु-नक्षत्रादि में भी यह अवश्य है। हमारे क्षेत्र में यह पंचकोष आकार में परिचित है। अन्यत्र आकृति सामान्य में विशेषापत्ति है। प्राणपाद में यह विवेचित होगा।

जपध्यान क्यों ?

यहाँ विचार करो, जपध्यानादि क्यों करते हो; क्या लक्ष्य है? और उदय विलय चक्र का ही क्यों समाचरण करते हो? यदि भावनिष्ठा के साथ दशधा चक्र समाचरण करो तब 'भगवान्' अब 'पंचभूत' नहीं रह जाते हैं। ५+५=१०। अनुलोम तथा सर्ग में प्रणव पंचमात्र में विन्दुगर्भित (तदेवाधिकृत्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः)

नाद है, विलोम अथवा विसर्ग में है नादगर्भित विन्दु। सृष्टि में चन्द्र विन्दु की जो आकृति है विलय में उसकी विप्रतीपा आकृति हो जाती है। अतएव जपध्यानादि समस्त साधनों में नाद को (व्यानवितान अथवा वरुण को) विन्दुलीन (व्यानसंधि विन्दु में अथवा सोमसीमा में) करा गया है प्रतिप्रसवभवविमुक्त स्वरूपावस्थान अपरिहरणीय उपाय द्वारा।

पहले स्पन्द साधन। यह मुख्यतः यांत्रिक कर्म नहीं है। क्योंकि साधन यन्त्र तो मुख्यतः स्थूलयन्त्र नहीं है। तन-मन-धन-जन, इन चार 'न' को लेकर 'नस्यात्' होते जा रहे हैं। यदि इन सब 'सुरलय' को न मिला सकूं तब प्रथम दो (तन-मन) सुरों को ही यत्नपूर्वक बांधना होगा। इन दोनों की साहित्य तथा संगति कैसे हो, पहले लक्ष्य करो। जैसे गायन में गाना और बजाना। तन रक्खेगा ताल और मन पकड़ेगा सुर। विशेषतः तन का वरुण आप्यायन करें जिससे व्यानवितान अव्याहत हो, बिशेषतः मन को सोम व्यानसंधि में सौम्य संधान में ले जाया जा सके। तन तथा मन की सौम्यसंगति (Concordance हो गये चन्द्रमा। चन्द्रमा तन-मन इन दोनों को अपनी-अपनी नेमि मर्यादा (each in it's own field friendliness) के सौम्यमाव में रखते हैं। मन तन के ऊपर अपनी मर्जी से हुक्म न चलाये और तन भी मन के उपर बेपरवाह होने का आरोप न लगाये। तन को श्वास-नाड़ीस्पन्द के छन्दोगत्व का विधान करना होगा। Blood Pressure, Blood Sugar आदि से रहित सौम्य होना होगा। मन को भी अपनी समस्त संकलना तथा गतिविधि में 'मरमी' बनना पड़ेगा। चन्द्रमादैवत् द्वारा तन-मन के स्पन्द को अपने अधिकार में लेते ही उपरोक्त सब कुछ स्वाभाविक हो जाता है। तन के ताल (छन्द) में आते ही मन को भी वह छन्द अपने अधिकार में ले लेता है।

तन तथा मन

तन के विषम स्पन्दन (इन्द्रिय-स्नायु-मस्तिष्क आदि) में मन तो केवल स्पन्दित होता है। तन के सुषम स्पन्द में मन का सहाय्य न रहने पर यह क्या हो जाता है? जपादि में व्याहरण को वाह्य (Mechanical) कहकर उनका अनादर न करना। भाव का 'तन' मिले बिना भाव का 'मन' भी अप्राप्त सा रह जाता है। तभी रहस्य कारिका है—

त्रिवेणीसङ्गमे लब्ध्वा गञ्जिकासेविनं गुरुम्।
सूर्यकुम्भे कुरु स्नानं वगाह्यामूर्द्ध चाम्भसि ॥८६॥
मकरे पूर्णिमायां वा माघामायां विशेषतः।
धूमः सद्यो भवेदर्चिचः सद्योर्चिच ब्रह्मवर्च्चसे ॥८७॥

त्रिवेणी संगम पर जाकर प्रथमतः किसी प्रगाढ़ गंजिका सेवी गुरु की प्राप्त करो। (गंजिका = गांजा)। उस गुरु का अन्तेवासी बनकर गंजिका मर्दन, सेवन तथा उसकी धूँआँ को धारण करने में निपुण हो जाओ। तब जब यह अनुभव हो कि गांजे की धूँआँ पीने से वह भीतर माथा पर्यन्त उठ रही है, तब जल (अम्भसि) में अवगाहन करके मूर्धा पर्यन्त डुबकी मारो। मकर संक्रान्ति, पूर्णिमा एवं माघ की अमावस्या के दिन। हे गंजिका धूमधारी ! इन पर्वों में यदि तुम्हारा स्नान भली-भाँति होता है, तब जो फल मिलेगा क्या उसे जानते हो ? तुम्हारे द्वारा सेवित धूम्र तत्काल अर्चिः होगा और वह अर्चिः तत्काल ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति का कारण बनेगा। अतः प्रगाढ़ गंजिका धूमधारी होकर पूर्णकुम्भ में निष्णात हो जाओ।

यहाँ त्रिवेणी संगम = प्रणव का अ उ म अथवा व्याहृतित्रय (तत् सवितु-र्वरेण्यम्) इत्यादि तीन संगम। प्रगाढ़ गंजिकाधूम = समुदित नादस्पन्द को बाहर विक्षिप्त भाव से जाने से रोककर अपने देहादि रूपी कुंभ में धारण तथा पूरण (पूर्णकुम्भ) करना। मूर्द्धा = नादमेरु = नादोर्मि मूर्द्धा। यहाँ आकर चन्द्रमा के आश्रय द्वारा विन्दुलीनता में अवगाहन निमज्जन। मकरक्रान्ति = उदयमेरु। पूर्णिमा = विन्दु अभिमुखीन नाद परिसीमा 'नादशिखर'। 'तत्सवितुर्वरेण्यम् की भर्गोमुखीनता = पौर्णमासी। धीमहि-रसमधुरिमा को पूर्णिमा। माघी अमा = विन्दु-मेरु। माघ = मा + अघ = अघराहित्य। अथवा मा + घ। घ = घोषवान् (व्यक्त) की लीनता। धूम तथा अर्चि = दो मार्ग। अर्चिः सद्यः आविर्भूत होकर सद्यः (विलम्बित क्रम रहित) ब्रह्म ज्योति में अभिनिष्पन्न होने का द्वार उन्मुक्त कर देते हैं।

अपान

प्राणापानौ प्रवर्तेते धूममार्गप्रवर्त्तकौ।
प्रवर्त्तेताचिचरादिश्च व्यानसन्धौ प्रवर्तिते ॥८८॥

इड़ा-पिंगला में प्राणपान प्रवर्तित होकर धूम मार्ग का प्रवर्त्तन करते हैं, किन्तु (समान-उदान को साध करके) यदि व्यान संधि संधान में (सुषुम्नामार्ग) वह प्रवर्त्तित होता है, तभी अर्चिरादि मार्ग प्रवर्त्तित होगा। इस रहस्य का प्रणिधान साधकगण भाल स्थित इन्दु की छटा में करें। जैसे गायत्री आदि आकार में अग्नि (धूम सहित) है, व्याहृति में (वायुदैवत् में) अग्नि उद्दीपित है, और वरेण्यम् पाद में वह अर्चिः हो जाता है। अग्नि ही 'धीमहि' में भर्गो रूप होकर ज्योतिरस द्वारा 'धियः' को प्रचोदित करके ब्रह्म के अवबोध को निष्पन्न करने के लिये प्रवर्त्तित हो जाता है। ऊपर उदान-समान को साधक रूप में करने की बात कही गयी है। गायत्री में 'वरेण्यम्' तक उदान को और उसके पश्चात् समान व्यान संधि को प्राप्त

करने हेतु साधक होना आवश्यक है। उल्लसन्ति-विलसन्ति 'ऐन्दवी-छटा' पहले अलसित तथा धूम द्वारा निमिलतवत् रहती है। तब तक जप आदिस्पन्द में (समर्थस्थल में) भ्रूमध्य ज्योतिः कण की सहायता से स्पन्दित अवश्य रहता है, किन्तु सुषुम्ना के उन्मेष में अर्चिरादि के प्रवर्त्तन हेतु भ्रूमध्य से उर्ध्व में उन्मीलन (अजस्र प्रोज्वल ज्योति ज्योत्स्ना आकार में) घटित होता है। उस स्थिति में अधोमुख चन्द्रविन्दु उर्ध्वमुख होकर द्विदल को प्रसन्न-प्रोज्वल रूप में खिला देता है।

कुम्भ एवं कुम्भक

पूर्वोक्त कारिका में 'कुंभ' तथा 'अंभस्' (कुं=वेदं—ब्रह्म, भाति तथा 'अंभस्—' अम्+भस् इन दोनों का परीक्षण प्राणरसायन में करो)। इन में दो रहस्य सूत्र संकेतित होते हैं।

कुंभ को 'अम्भसा' पूर्ण करने के लिये उसे आमूर्धनिष्णात् करते हुये 'धूम' को अर्चिरादि रूप में बदलने वाला (जपादि से जनित तथा जपान्त में अनुभूत) जो स्पन्द वितान है उससे पूर्वोक्त पंच अपन्हुति को हटाना होगा। जल को हिलाने से स्पन्द (लहरें) उत्पन्न होती हैं, किन्तु वह क्षयिष्णु (Diminishing) है, उसे वर्द्धिष्णु (augmenting, amplifying-intensively and extensively) करने का क्या उपाय है, इस देखना होगा। इसके लिये उक्त गंजिकासेवी दृष्टान्त के अनुरूप कुंभ-कुंभक साधना है। मात्र नाक 'टीप देने' दबाने से यह नहीं होता। स्पन्द को अन्तःक्रिय करके रटन-रणन आदि आकृति में करना ही प्रकृत कुंभक है। यह है साधारण संज्ञा, यह विज्ञान व्यवहार में भी उदाहृत है। कोयला-पेट्रोल से जो स्पन्द उत्पन्न होते हैं, उसे इस कुंभकाकृति में (नियन्त्रण में) प्राप्त करना ही इंजन आदि यन्त्रों का मुख्य कार्य है। Conservation Effect के फलस्वरूप अटन ही हो जाता है रटन। और Resonance Effect द्वारा हो जाता है रणन। इन दोनों कर्म में जो कुछ बहिःक्रिया आदि के कारण व्याहृत होने लगता है, वह है Leakage, Drain, Dissipation आदि।

स्पन्द के मित्र तथा वैरी

अब यह मानों कि कोई स्पन्द उत्पन्न होते ही ग्रस्त (Absorbed) हो गया। जैसे कैमरा के Plate पर छवि अंकित हुई किन्तु मध्य में जो दृश्य है वह किसी अदृश्य परदा (screen) के कारण रश्मि समूह का ग्रास करे, तब? हमारे इस यन्त्र में (अन्दर-बाहर) यह स्पन्द ग्रासक परम्परा विद्यमान है। कुछ मित्र हैं—कुछ शत्रु। भीतर के इन वैरी-रूप का साधारण नाम है पाप्मा। विषम विन्यस्त रेणुपुंज में किसी सुषमाकृति का होना तभी संभव है, जब बीच में कोई Damping, Screening, Scattering परदा न हो। गायत्री प्रभृति में 'भूर्भुवः स्वः' रूपी,

व्याहृतित्रय द्वारा इन त्रिविध पाप्मा का परिहार करो। 'भूः' द्वारा (यह) प्रथम ग्रास का (Absorbing Damping का), भुवः द्वारा द्वितीय का (Scattaring; refracting), और स्वः (वह) द्वारा तृतीय (Screening, founding) का परिहार करो। यथाक्रमेण अग्नि-वायु-सूर्य देवता।

पाप्मा, एनस् तथा मन्यु

तदनन्तर कलंकित (Distored deformed) सुषम वीचिगुच्छ तटवातादि प्रहत अथवा परस्परतः प्रहत होने पर अपना सौम्यमान खो देता है। विशेषतः अन्दर की इन बाधाओं का नाम है 'ऐनस्'। मानों कैमरा की प्लेट पर विजातीय रश्मि (स्पन्द) पड़कर छवि को विकृत कर रहीं हैं। इन विरुद्ध स्पन्दों को मित्रग्रास में लाना ही है भूतापसारण।

दो विजातीय स्पन्दो के संघर्ष के कारण यह अवश्यंभावी विकृति है। यदि इन विकृतियों में गुरु प्रकृतिविपर्यय घटित हो जाता है, तब है विपर्यस्त। यह है गुरु विकृति। कायादि में जो अभीष्ट स्पन्द है, उसे लघु-गुरु द्विविध विजातीय स्पर्श-संघर्ष की विकृति से यत्नपूर्वक रक्षित करना होगा। ऐसा जपकाल तथा जपान्त दौनों में होना चाहिये। जपान्त में जो सुषम-शान्त-स्पन्दवाहिता प्रारम्भ होती हैं, उसकी रक्षा अग्नि के समान करना ही उचित है। जैसे डाक्टर रोगी को कोई तेज असर वाला इन्जेक्शन देकर रोगी को कुछ समय के लिये लेटे रहने को कहते हैं। उसी प्रकार अन्ततः कुछ समय तक जप ध्यान के मित्र स्पन्दों को अपनी प्रकृति के संस्कार नाड़ीसमूह में शोषित (assimilated) होने देना आवश्यक है। सहसा इस सोम धारा (पोषणी) को भ्रष्ट, विपर्यस्त, परास्त होने देना उचित नहीं है। इस महाभेषज के भीतर चले जाने के पश्चात् उसे उगल देने पर क्या होगा ? अथवा साथ-साथ किसी Antidote द्वारा उसे परास्त करने पर ? जो बाधायें इसे विपर्यस्त करती हैं (सोम को) उनका नाम है मन्यु। 'मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्'।

मृत्यु

अन्त में यह देखो कि तुम्हारे अभीष्ट स्पन्द अथवा स्पन्दधारा की अवलुप्ति विलुप्ति न हो। 'अनिराकरणं मेऽस्तु'। नामादि को नादादि ध्रुवकोटि में न लाने पर यह अवलुप्ति अवश्य होती है, अपरिहार्य हो जाती है। यदि तुम अपने कुयें को निरन्तर बहने वाली किसी अन्तःसलिला के स्रोत से संयुक्त कर देते हो, तब उसका जल कभी भी सूख नहीं सकता। विशेषतः समर्पण योग समाश्रयणीय है। यह वरणीय है उस चिर आकांक्षित चिर प्राप्ति की मिलन नाड़ी का अस्तित्व बनाये रखने के लिये। मेरे इस कूप को अपने अस्फुरन्त स्वादु सलिल (तथा अन्त में अमृत) द्वारा आपूरित रक्खो, हे मेरे एकान्त शरण स्वामी ! इसमें भी यदि अवलुप्ति घटित होती है, तब उसका नाम है मृत्यु। तभी 'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।'

समर्पण योग

पूर्वोक्त अपन्हव आदि की स्पन्द विज्ञान के दृष्टान्तों द्वारा विवेचना की गई। ये सार्वभूमिक हैं, इनका प्रतिविधान भी उसी प्रकार का है। ये सब साधना में सविशेष रूपेण उदाहृत हैं। इनमें तामस-राजस भेद सयत्न लक्ष्य करो। तामस को हटाने के लिये चन्द्रमाः तथा राजस निवारणार्थ चन्द्रमा ही भजनीय तत्व हैं। अर्थात् यथाक्रमेण ज्योतिः (चन्द्रमाः) तथा ज्योत्स्ना (चन्द्रमा) दोनों में ज्योति रूपी रहस्यमूल (Base) है। पूर्व परिभाषा के अनुसार यही है भर्गस् एवं रोचिस्। समर्पण योग की भावना इस प्रकार से करो—

क्षयिष्णुं में दीपं प्रथयति पुनर्भालकिरणैः।
पुनर्भावं ग्रस्तं लसयति मुदा चेन्दुलसितैः।
(दधतु विमलं चेन्दुनखराः)
कलङ्कं मार्ष्टीयं मुखशशिरुचिश्चाङ्करहिता।
विपर्यस्तं स्वस्थं स्थितमपि गतं नामकथनात् ॥८९॥
(भाति हृदि चेत्)
प्रदीप आभार निर्वाण-उन्मुख तव भालरश्मि नाथ
करुक उज्वल (करे समुज्वल)।
तोमा पाने ग्रस्त भाव मोर विलसित नखरेन्दु करुक
विमल ॥
(करे सुविमल)
विद्ध जत मोर कलंककालिमा, निष्कलंक मुखशशिरुचि
मूछे लय।
स्वस्थ, जाहा विपर्यस्त, जाहा गेछे ताओ रय, यदि
हृदे आन नाहि भाय ॥
(प्राण यदि 'नाथ' नाम गाय)
(यदि दाओ 'नाथ' नामे जय)

इस प्रकार के समर्पण से प्रथम खण्ड (ग्रंथ के) में कथित पंचशुद्धि के मूल में जो संचार शुद्धि है, वह साधित हो जाती है। और मूल में रस संचार शुद्ध होने पर विष गुल्म के अमृतवल्ली बनने में कितने क्षण लगते हैं? तभी एक पूर्व कारिका में पंचशाखा युक्त विषगुल्म का वर्णन किया जा चुका है। उसे पंचशाखा सुधावल्ली बनाने के लिये समर्पण योग द्वारा मूल शुद्धि करना होगा। यद्यपि दोनों के मूल में 'अहम्' की ग्रंथि अवश्य है किन्तु एक में वह है निराकरण ग्रंथि जबकि दूसरे में वही है अनिराकरण ग्रंथि। इसी कारण से रस हो जाता है अपरस विरस आदि। जैसे

कूप जल का अपना स्रोत रुद्ध हो जाने से वह दूषित एवं क्षयिष्णु है। अतः 'योग' को ठीक रक्खो।

शाखा पंच-पंच

विषयगुल्म को साधारणतः दुर्मना कहा जाता है। इसकी पंचशाखा है अपमनाः, अवमनाः, विमनाः, अन्यमनाः एवं अमनाः। पक्षान्तर से सुमनः सुधावली की पंचशाखायें है अनुमनाः, प्रतिमनाः, यतमनाः, मितमनाः एवं स्थितमनाः। यह जो दस मनः संस्थायें (Mind Attitude) हैं, इसमें ही समस्त मनोविज्ञान को 'संक्षिप्त' मानो। अर्थात् इन दस के अतिरिक्त मन व्यापार है ही नहीं मन व्यापार = समनाः भाव। Psychic and Parapsychic (Subconscious आदि) भी इन दशधा में हैं। प्राण एवं वाक् भी इस दशधा में निहित है। जैसे वाक में वाचिक उपांशु तथा मानस रूप तीन वैखरी, अवर-वर, सन्धि और सेतु रूपी तीन मध्यमा, पश्यन्ति-दिवीव (शुक्ला) तथा अनन्ता रूपी तीन पश्यन्ति, अन्त में परा = १०। इन्हीं दशधा को 'मनोदोहा' इत्यादि बनाने के लिये ही दशधा जप है।

प्रणव की पंचमात्रा में अन्वय

अब प्रणव की अकारादि पञ्चमात्रा द्वारा यथाक्रमेण अपमनाः इत्यादि पंच-दौर्मनस्य का परिहार करो तथा अनुमनाः आदि पाँच सौमनस्य को अधिगत करो। एक-एक की भावना करके देखो। प्रणव के अकार में चित्त प्राणादि स्पन्द की अप-क्षीयमानता (अपमनाः) का परिहार करके अनुवृत्ति (अनुमनाः) को आरब्ध करो। उकार के 'अव' को करो 'प्रति'। जो जा रहा है उसे करो प्रतिमुखीन। मकार में विमनाः हो जाते हैं यतमनाः, Divergent हो जाये Convergent। नाद है मितमनाः एवं बिन्दु है स्थितमनाः होने का स्थान। मित्र अर्थात् सौम्यमान में आना। सुषुमवितान में शान्तवाहिता में।

षट् पूर्णानि च शून्यानि चत्वारि बिन्दुवर्जने।
तेषु दशाननं जेतुं रामो दशरथात्मजः ॥१०॥

पूर्वोक्त गायत्री लेखादि में छ पूर्ण तथा छ शून्यस्थल प्रदर्शित किये गये हैं। यहाँ भी छ की पूर्ण संख्या ठीक ही है। बिन्दु में जो स्थिति स्थल या लयशून्य स्थल है उसे निकाल देने से शून्य संख्या हो जाती हैं ५, ये हैं स्पर्शशून्य के स्थल। इनमें व्याहृति के आगे एवं प्रचोदयात् के अन्त में स्पर्शद्वय को अर्द्ध स्पर्श रूपेण लेने पर शून्य की संख्या हो जाती है ४। इसे व्याहरण में समझ लेना होगा। अब यह ६ + ४ = १० ही दशानन (रावण) आततायी हो सकता है। कैसे? उदय में जो बिन्दुशक्ति नादरूप से उत्सारित हुई उसे कहो 'स्'। इस 'स्' को पूर्णस्थल पर पूर्ण मान में जो दिखलाये वह है 'त'। तथा पूर्ण शून्य दोनों को अन्ततक बिन्दुलीनता में (पूर्ण-शून्य के एकत्रावस्थान में) जो ले जाये, वह है 'आ'। प्राप्त हुआ सीता। ये हैं

प्रणवादि महानाम की साक्षात् स्वरूपशक्तिरूपा । सीता का हरण करता है दशानन रावण । रावण = रौ + अण । रु = शब्द करना, उकार दृष्टि से 'औ' । अण् = गति एवं प्राणन वृत्ति । यह है दशधा । 'रु' ही व्याहरणादि शब्द एवं साथ-साथ चन्द्रमा: चन्द्रमा रूपी तत्वद्वय द्वारा निरुपित सौम्यमान का अतिक्रमण करके 'व्यभिचार' से वृत्तिमान होकर हो जाता है रावण । प्रणवादि किसी महानाम के जपध्यान में स्व छन्दा, सुषमा, शोभना जो सीता (स्वरूप शक्ति एवं वृत्ति) हैं उन्हे यह रावण हर न सके, इसके लिये अवहित, सावधान रहना पड़ेगा । दण्डकारण्य कुटी में लक्ष्मण की रेखा के सम्बन्ध में विचार करो । रेखा = सौम्यमान मर्यादा ।

यदि सीता अपहृत हो जाती हैं, तब रावण का संहार कर उनका उद्धार करने वाले प्रणव का जो परमरमण, परमप्रतापी रूप है वह है 'राम' । पूर्वोक्त रेणु-अटन आदि स्थल में अटन से रमण पर्यन्त इन चार को वे अपने परम प्रताप से, अपने परम रमण में संगृहीत तथा समाप्त कर देते हैं । तब ये चार हो जाते हैं राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न रूपी परम चतुष्टय । दशरथात्मज पद की भी भावना करो । दशरथ में भी दश हैं किन्तु रथ में रथी की भावना है । अत: जो सर्वाध्यक्ष हैं उनकी अध्यक्षता यहाँ अस्वीकृत नहीं है । सर्वाध्यक्ष प्रणव या महानाम (राम) है, उनके स्वरूप को शुद्ध मान देने वाली हैं सीता । दशरथात्मा हैं उस अध्यक्षता को स्वीकार-अस्वीकरने करने की भूमि । मंथरा-मन्त्रणा के सामयिक व्यतिक्रम का भी विचार करो । गायत्री प्रभृति जप में, सीता राम, राधेश्याम, गौरी या उमाशंकर इत्यादि इष्टबीज एवं महानाय को मान देने वाली जो अध्यक्षता है, उसकी रक्षा करना आवश्यक है । इसीलिए सीताराम दृष्टान्त द्वारा कुछ कहा गया ।

त्रिविध छाया

अब यह प्रणिधान करो कि किस वस्तु का मण्डल परिमण्डल एवं उपमण्डल वेधसम्भवसंकुल हो सकता है और वेधसम्भव या त्रिविध आकृति धारण करता है, यथा छाया—प्रतिच्छाया । छाया को अवस्तु कदापि न समझो (अवस्तु = Immaterial) स्पर्श, प्रभाव, आवेश, आक्रमण तथा संक्रमण रूप से वेधसम्भव सम्पादित हो सकता है । जड़ के क्षेत्र में Cosmic Rays केवल जड़ स्पर्श ही नहीं करती, वह गम्भीर संक्रमण भी करती है । प्राणिदेश में यह जर्मप्लाजम पर्यन्त कैसे संक्रमण करती है, यह जैव उदवर्त्तन का एक मूल प्रश्न है । Mutation होने से क्या होता है ? चातुर्वर्ण के जो निज-निज वर्ण हैं, उनका 'अव' एवं 'उच्च' परिवर्त्तन (बीजगत) कैसे सम्भव होता है ? पातित्या से अथवा प्रकर्ष से ?

जप के मन्त्र, मन्त्रदाता, मन्त्री, मन्त्रोपयोग प्रयोग, विनियोग में उक्त मण्डल त्रयी छायात्रयी का विचार एवं परीक्षण नितान्त प्रासंगिक है । उपकुर्वाण को छोड़कर अपकुर्वाणादि छाया स्पर्श प्रभावादि से अपने मन्त्रादि को बचाते रहते हैं ।

(उपकुर्वाण एवं प्रतिकुर्वाण नहीं बचाते) अपने एवं अपने मण्डलादि के प्रतिकूल जो अरिवेध (मन्यु, ऐनस्. असुर, पाप्मा आदि) हैं उनका सयत्न परिहार करना पड़ता है। साधुसँग, देवालय, गंगादितीर्थ, श्रीगुरुसेवा इत्यादि उपकुर्वाण एवं प्रतिकुर्वाग 'मित्रच्छाया' है। इसका फल है परमपावन संक्रमण, सम्पुटनादि का संघटन। शरीर विग्रह इत्यादि मण्डल सम्बन्ध से नहीं प्रत्युत् परिमण्डल (कायच्छवि) एवं उपमण्डल (कायरश्मि The Body Radiations 'aura' इत्यादि सम्बन्ध से भी अवहित हो जाओ।)

जप में मण्डलभावन कैसे करोगे ?

प्रणव के पञ्च अवस्थानरुप इन मण्डल पंचक की भावना करो—

अस्ति भाति प्रियंच्चेति यदृच्छति च तिष्ठति।

तद्व्योमसुवरों सोम भूवर्भु रोमिति क्रमात् ॥३५अ॥

ओंकार 'अस्ति' रूप से व्योममण्डल है। व्योम का तात्पर्य वह वाह्य आकाश ही नहीं है। 'भाति' रूप से 'स्वरोम्' अथवा 'सुवरोम्'। यह जो सविता स्वर रूप सूर्य है—यह है द्वितीय मण्डल। सविता एवं सुवः की आकृति का परीक्षण करो। प्रियं या प्रीणातिरूपेण ऊँकार ही है सोम। यह है तृतीय मण्डल। तदनन्तर ओंकार का ऋच्छतिरूप 'भुवरोम्'। बहिर्जगत् में इसी भुवरोम् को भुवनमण्डलरूपेण प्राप्त करके जंगम जगत् चलता रहता है। प्राण तथा मानस के देश में भी समस्त चांचल्य में यह ऋच्छति मण्डल ही है। यह है तुरीय। अन्त में अक्ष, ध्रूः तथा बिन्दुरूप से सब कुछ को स्थिति (तिष्ठति) में रखने वाले मण्डल को 'भुरोम्' कहते हैं। गायत्रीशिरः पर दृष्टिपात करो। 'यह' (here-now) रूप में ही सब कुछ ध्रुवाक्ष एवं ध्रुवविन्दु का स्पर्श करता रहता है। किन्तु ऋच्छति मण्डल के किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में विषमावेगविशिष्ट (Conditioning as actual or potential differential field) रहने पर यह ध्रुव मण्डल नहीं रह सकता। उसे The unbounded Eternal Here and Now नहीं मिलता। वाह्य जप में माला के मेरु नक आकर जप समाप्त नहीं होता। उसे मेरु लंघन न करते हुये पुनः धूर्णित होना पड़ता है। अन्तर्जप में मेरु विन्दु की बात विशेष रूप से कही गयी है। यहाँ गायत्री को दृष्टान्त रूपेण लिया गया है किन्तु 'ॐ नमो वासुदेवाय' 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लाभाय स्वाहा', 'ॐ नमः शिवाय' आदि सभी जप में छन्दोमाता गायत्री की यह सुपरीक्षित आकृति को पाने का यत्न करो। 'ह्रीं' प्रभृति एकाक्षर बीज में भी यही है। इससे कहीं भी ग्रस्तादि जप नहीं हो पाता (जप ग्रस्त नहीं होता) !

जग्मिवांस्तस्थिरांश्चेति ध्रुवोपायो द्विरूपकः।

उदये प्रथमं प्राप्य विलयेऽपरमाप्नुहि ॥३६॥

ध्रुव के उपाय या उपादन में जग्मिवान् एवं तस्थिवान् रूप से जप साधन करो। उदय में नादरूप ध्रुव का जग्मिवान् भाव यथायथ प्राप्त करके विन्दु विलय में तस्थिवान् भाव को क्रमशः प्राप्त हो जाओ। 'मेरौ शेते विन्दुलीनः'। यही है अभिसम्पन्न एवं अन्त में अभिनिष्पन्न होने का स्थल।

जप में मुमुक्षु, युञ्जान एवं युक्त रूपी तीन भाव का साधन

आप इत्युदयं प्राप्य युयुक्षु व्याहृतित्रयम्।
आ धीमहि रसज्योतिर्युञ्जानञ्च प्रचोदयात्।
अमृतं विलये लब्ध्वा विन्दौ ब्रह्मेति शैरसम् ॥३७॥

इस बार गायत्रीशिरः (शैरसं) को व्याहरण में प्राप्त कर लो। उदय में आपः, व्याहृतित्रय योग से उदय में ज्योतिरसकाम आप्तुकामा, 'शिवतमा रसतमा' रूप से स्वयं को पवमाना कराकर उर्ध्वगा नादरूपा 'आपः' को प्राप्त हो जाओ। ज्योतिरसधाम से तुम्हारे अपने प्रत्यय में जो विपुल व्यवधान है, वह उत्तीर्ण कैसे होगा? व्याहृतित्रयी का समाश्रय करो युयुक्षु (योजिका) रूप से। किन्तु उस मुकुर (दर्पण) में रसज्योतिः एक वार प्रतिफलित होकर पुनः अपिहित जो हो जायेगी। युंजान हो जाओ, जिससे धी मानों इस युंजान को ही 'भुंजान' करे, ज्योतिर्विशाल रसभुक् हो जाये, इसीलिये 'प्रचोदयात्' प्रचोदित करें। अन्तिम प्रणव द्वारा युंजान से अमृत झरी का अपावरण साधित हो जाये। विन्दुलय में ही 'नित्य-युक्त' होने का चरम साधन है।

ऋतवः षट्चतुर्युगी तिथिर्मासोह्नयः क्षपा।
अयनं चरणं क्रान्तीर्विदधाते रविः शशी।
देशकालादिमानानि ज्योतिश्चक्रधुरन्धरौ ॥३८॥

ऋतु को कैसे समझना होगा—ऋतम् एवं ऋतु

हेमन्तादि षड्ऋतु, कृत आदि युग, तिथि, मास, दिवा, रात्रि, ग्रहनक्षत्रादि का अयन; चरण, क्रान्ति इत्यादि ज्योतिष्कमण्डल के देश कालादिगत् समस्त मान, रवि-शशि रूपी राहस्यिक तत्वयुगल ज्योतिष्क चक्र धुरी का रूप धारण करते एवं विधान का कार्य करते हैं (सूर्यं चन्द्रमासौधाता)। ऐसा नहीं है कि षड्ऋतु आदि की बात को केवल अधिभूत दृष्टि से ही कहा गया है। सूर्य चन्द्र को अधिभूतमात्र ख्याति में लेने पर उनकी जो महीयसी ख्याति है; निखिल सृष्टि रहस्योद्भासिनी ख्याति है, वह ख्याति क्षीण हो जाती है। वे सूर्य विराट नक्षत्रपुंज की विपुल भास्वर महासभा की किसी गति की तृतीय श्रेणी में किंचित स्थान प्राप्त करके हमारी इस धरित्री के निकट महादेदीप्यमान भास्कर हो गये हैं। और चन्द्रमा तो इस धरती का ही एक नीरस-निष्प्रभ उपग्रह है। इस भौतिक दृष्टि का अवलम्बन ले आर्य

दृष्टिगत 'सूर्य चन्द्रमसौधाता' को देखने में प्रवृत्त मत होना। तब तो 'ऋतं सत्यम्' रूपेण स्वयं तपः ब्रह्म के 'आवी' रूप वाले दर्पण में जो आदि बिम्ब है, उस आदि-बिम्ब का प्रतिबिम्ब भी यथासंभव कुण्ठित-गुण्ठितादि होकर हमारे इस अधिभूत दृष्टि दर्पण में आ पड़ेगा ! इसकी सहायता से उन अरुन्धती का दर्शन कर लो।

यह सूर्य, चन्द्र, यह, वह और इनका अन्तरिक्ष, इन सबको अपनी कृपण जड़ीय दृष्टि में 'दिवीव चक्षुराततम्' रूप से प्रस्फुटित करो। इसी कारण ये सब उपासनीय हैं पूजन, स्तवन, जप ध्यान में। उदाहरणस्वरूप यह षड्ऋतु, चतुर्युग आदि को केवल वाह्य सौरमान में (On Solar Scale) नहीं अपितु सर्व जागतिक (Cosmic) पटभूमिका पर समझना होगा। जैसे ऋतु। ब्रह्म का आदिम ऋच्छतिरूप जो 'ऋतम्' है, वह मानो आविर्भाव में आकर भी 'ततोभूयस्त्वम्' को सहज अंगीकृत नहीं करना चाहता। मानों वह कहता है "माहं ब्रह्म निराकुर्याम्"। प्रजापति की जो आदिम सनत्कुमार आदि की कौमारी सृष्टि है, उसमें भी यही है। ब्रह्म ही प्रणवरूपी (अ उ म) होकर सृष्टि में आते हैं। ऋतम् के अन्त में जो 'अम्' है वह जैसे अपनी ब्रह्मविश्रान्ति से उठना नहीं चाहता ! उपाय ? उपाय है उ वर्ण। यह हैं प्राणब्रह्म की रात्रि के गम्भीरान्तः का अवगाही वायुदैवत् रूप। इसके आने पर तभी सब कुछ 'छन्दसा' आवृत्तिमान होता है, स्वयं को उन्मीलन-निमिलनादि के छन्द में रूपायित करके। ऋतम् के 'अम्' स्थल में 'उ' आने से हो गया ऋतु। इसका अर्थ केवल Season नहीं समझो। यह जानो कि सर्वजागतिक छन्दोगत्व संस्था इसी 'ऋतु' में वर्त्तन कर रही है। जप साधना में ऋतुच्छन्द का अनुसरण तुमको ऋतछन्द की अनुवृत्ति में प्रवर्त्तित करेगा।

उत्तरायण तथा दक्षिणायन जप का दृष्टान्त

प्रणव, गायत्री अथवा अन्य किसी भी जप में यथायोग्य ध्यान दो। अयन दो हैं - उत्तर एवं दक्षिण। इन दोनों अयनों की संधि विधायिका दो संक्रान्तियाँ हैं पूर्वकथित दो मेरु। जैसे गायत्री जप में उदय प्रणव उत्तरायण में हुआ। इसे सौरायन या स्वाहायन कहते हैं। दक्षिणायन को चन्द्रायण या स्वधायन भी कह सकते हैं। उदय मेरु में (वरेण्यम्) उदय की पूर्णता का पूर्ण उन्मीलन है। अस्त मेरु में पूर्ण निमीलन-अमास्थल। जब तक जप साधारण रूप से ही चलता रहता है, तब तक उदय एवं अस्त मेरु अथवा उत्तरायण-दक्षिणायन का इसी प्रकार अनुसरण होता है। तदनन्तर 'वामेन दाक्षिण्यम्' अर्थात् दक्षिण हो गया उत्तर, उत्तर हो गया दक्षिण। तब प्रारंभ दक्षिण से किन्तु अन्त उत्तर में। इच्छा-मृत्यु भीष्म शरशय्या पर क्या इसी 'उत्तर' की अपेक्षा तो नहीं कर रहे थे ?

जप में दिवा एवं क्षपा कैसे पलट जाता है ?

उत्तर एवं दक्षिण अयन को पलट लेना ही साधना है। प्रथमतः मानो जप के उदय में शुक्ला गति है। जैसे यही है दिवा, अहः। इसी भावना में तब चलना

पड़ता है क्योंकि तब (वैखरीजप में) वामा गति स्व छन्द में प्रवृत्त नहीं है। कष्ट कल्पना करके, भाव पर जबरदस्ती करके यथार्थतः कुछ भी प्राप्त नहीं होता। पुनः जप के विलय में मानों कृष्णा गति है—'देवस्य वरेण्यं भर्गः' तो किसी अव्यक्त के अस्ताचल में गोपन होने के लिये चल पड़ा। जैसे क्षपा-निशा। किन्तु संयमी (वाक-प्राण-चित्त तथा तेजः आजः एवं भाः को मिलाकर) का जप मध्यमादि भूमि में आरंभ हो और यहीं 'वामेन' 'दाक्षिण्यं',—ब्रह्म में आत्मा में यथार्थ दक्षिण भाव आया। इसी उत्तरायण में वाक् प्राण-चित्त अपने वैखरी तनु का त्याग करके उत्तमाः विरजाः में प्रथमतः सम्पन्न, अन्त में उससे अतीत में निष्पन्न हो जाते हैं।

अहं एवं अहः

माला जप में मेरु का लंघन न करते हुये माला पलटाकर जप करने की जो विधि है, वह क्यों है, इसे इस सूत्र के आलोक में समझने का प्रयत्न करो। फिर भी जो साधिष्ठ-साधन-प्रान्त में आये उसे प्रथम साधना के आरंभ में ही हठपूर्वक लाने को अथवा प्राप्त करने के लिये व्यस्त मत होना। उदय, प्रातः, मध्याह्न इत्यादि कला क्रान्ति में ही जप विक्रमण को चलाते रहो। तत्र सायाह्न के पश्चात् जो 'नक्तम्' है उसमें 'शयीथाः'। यह शयन भी सुस्थिर भाव से चलता रहे। प्रथम में जो विक्रमण है, वह तो 'अहम्' का वृत्तिमान होना है। वाक् प्रदान करता है आदिस्वर 'अ'। प्राण देता है 'ह्'। मन देता है 'म'। अहम् का यह क्रमण प्रथमतः वाक् की अग्नि में विक्रमी हो जाये। तदनन्तर प्राण 'ओजसा उरुक्रमी' बने और अन्त में मन के मधुरस-से हो जाये परिक्रमी। प्रकृत परिक्रमा (पूर्वोक्त नादमेरु-विन्दुमेरुरूपी तीर्थ परिक्रमा) चलने पर अहम् का घोर तनु-तमस कट जाता है। तब वह हो जाता है अहः।

जप में उदय-उन्मेष एवं अवसान-प्रतिभाच्छटा की इसी रूप से भावना करो

ब्रह्माणी, वैष्णवी तथा रौद्री (शांभवी) इन तीन के साथ अन्वय रखते हुये नादपरिक्रमा की इन तीन कलाओं को क्रमशः उपक्रम, उरुक्रम एवं संक्रम कहा जा सकता है। कुछ भी परिभाषा क्यों न करो अहम् का अहः रूपेण संक्रमण अनुभूति के दृष्टिकोण से अतीव स्वाभाविक है। अनुस्वार का एक विन्दु विसर्ग के दो विन्दुओं से अन्वित होकर मूल त्रिकोण हुआ। तत्पश्चात् यह त्रिकोण संवृत होकर शून्यपूर्णांक विन्दु में आकर विश्रान्त हो जाता है। वाक् की अग्नि इस शांभवी त्रिकोण के अग्नि विन्दु में आ जाती है। वह प्राण मन के सूर्य सोम अपर विन्दु द्वय में मिलित होकर अन्योन्य अभेद भावना के समापन में एक विन्दु में ही परिनिष्ठित हो जाती है। अग्नि के दीपन तेजः ने उपलब्धि कर ली कि वह सविता (प्राण) का ओजः

एवं भर्गः है और प्राण के ओजः एवं भर्ग ने यह उपलब्धि प्राप्त की कि वह सोम का रोचिः एवं रस है। 'वरेण्यम्' में इस अभेद समीकरण का आभास प्राप्त होता है। 'धीमहि' में प्रपन्न होकर उस वरेण्य चिज्योति के आभास को अपने धीमुकुर में प्रतिभात कर लो। यह प्रतिभास (प्रतिभात) अंतिम प्रणव की विनिश्चय वृत्ति में अवधारित होकर हो जाये प्रत्यवभास-प्रतिभा।

'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति', वह भाः या भर्गः जब शुद्ध सत्व 'धी' में प्रतिभात होकर सर्वावभासिका हो जाता है, तभी उसे कहते हैं प्रतिभा। इस प्रतिभा में प्रतिष्ठित होकर विलय क्या होगा ? प्रतिभा के इस 'प्रति' का प्रथम परिहार करते हुये होता है 'भान' एवं अन्त में शुद्ध 'भाः' स्वरूप। 'वरेण्यम्' शिखर पर सूर्य चन्द्रमा के जिस मिलन को देखा गया है, उस मिलन का विरह या विच्छेद तुम्हारे इस महीयान प्रातिभ पन्थ में नहीं होगा। जो रसझरी 'वरेण्य' में है, वह झरी 'धीमहि' के ध्यानरस में हो जाये तुम्हारी सरस पत्रमाना सरित्। 'प्रचोदयात्' द्वारा वह सरित हो ऋजुगमना, ध्रुववहना, समृद्धवेगा। विलय प्रणव में वह हो जाये आकुलोच्छ्वासा सिन्धुसकाशा सरित्वरा और विन्दुलय ? 'न सो बंधु सायर न हम तहिं तटिनी'। हे गायत्री जापक तुम्हारे जीवन में ऐसा प्रतिभापेक्षित "भा" विलास और मरमी तन्त्री में ऐसा रसविलास क्या मात्र तुम्हारे एक दीर्घश्वास से उड़ कर केवल कल्पनाविलास ही रह जायेगा ? गायत्री की बातें हो रही है, किन्तु 'ह्रीं' आदि बीज मन्त्र ? इनके भी सत्ता (तत्व), शक्ति (भावव्यञ्जनादि), छन्दः एवं आकृतिरूप चतुष्पाद में जो असामान्य सामर्थ है, उसे इस ग्रंथ में बारम्बार अनेक प्रकार से कहा गया है। सूर्य चन्द्र प्रसंग में इस प्रकार भी भावना करो :—

ह्रीं आदि बीज चतुष्टय का कहाँ क्या उपयोग है ?

तामसं ह्रीमिति द्वारा तथा ऐंमिति राजसम्।
जिगीष सात्विकं क्लीं च श्रीमिति यदछान्दसम्॥
नादविन्दु रविन्दू च भुङ्क्तौ च द्वयं द्वयम्॥३९॥

अपने तामस भाव को काटकर महाशक्ति भाण्डार के अपावरणार्थ क्या करोगे ? 'ह्रीं' रूपी महाशक्ति के उद्बोधन द्वारा 'तामसं जिगीष' तमस को जय करने की इच्छा करो। राजस को उसके विविध अधोग एवं जिह्मग विक्षेप से मुक्त करके उसे ऋजु उर्ध्वग करने के लिये क्या करोगे ? 'ऐं' बीज का समाश्रय लो। यत्-किंचित् (गति-स्थिति) अछान्दस में सुषमा सौष्ठव साधनार्थ 'श्रीं' बीज। 'क्लीं' बीज का आश्रय लेकर स्वधाम में अभिसम्पन्न होने के लिये सत्व की अशुद्धिग्रंथि को एवं स्वभाव में निष्पन्न होने के लिये प्राकृत गुणत्रय वाले सत्व को जय करने की इच्छा करो। प्रत्येक बीज मूर्द्धा में सूर्य सोम नाद विन्दुरूपेण स्थित रहते हैं। ह्रीं तथा ऐं बीज का पालन सोम विशेषतः (भुङ्क्तः) करते हैं। अर्थात् प्रथम दो का

जप करने से ओज: एवं अर्चि: रूपी मात्राद्वय की एवं अंतिम दोनों में रोचि: एवं श्री रूपी मात्राद्वय की मुख्यता रहती है, फिर भी लक्षण पहचानकर अच्छन्दोग स्थान पर श्रीं, अधामग स्थान पर क्लीं, असमर्थ अजागृति स्थल पर ह्रीं और अधोग, विसर्पी, प्रमाथी राजस स्थल पर ऐं महाबीज का समाश्रय लो। यह भी देखो कि गायत्री जप में उदय प्रणव से लेकर व्याहृति की अन्त अवधि तक विशेषत: 'ह्रीं' का अधिकार रहता है। 'धीमहि' पर्यन्त 'ऐं' का अधिकार है। 'प्रचोदयात्' पर्यन्त 'श्रीं' का और विन्दुविलय में 'क्ली' का। इस संगति को सर्वतोभावेन साध लो।

जप में अयन एवं चरण-पुरश्चरण का यथार्थ तात्पर्य

ऋतु के प्रसंग में आकर अयन को समझना पड़ा है। गायत्री एवं अन्य जप में उत्तरायण एवं दक्षिणायन का क्या स्वरूप है और अन्त में वाक्-प्राण-चित्त की साधिष्ठाता में उपनीत होने पर किस प्रकार से उक्त अयनद्वय को पलटा जाता है, इसका प्रणिधान किया जा चुका। इस 'पलटने' से पहले का उलटा हो जाता है सीधा। जो अयन मात्र है (Apparent Motion) उसे चरण (Real Motion) में जो लाता है, वही है पुरश्चरण। क्रम को साथ लेने पर इन दोनों में होती है क्रान्ति। अर्थात् किसी अवच्छेद (Point of intersection, node आदि) के सम्पर्क में आने पर। तीनों मिलाकर आपेक्षिक गति (Relative Motion)। इसे 'इ' या 'गम' धातु देकर बोलो। और ऋतम् का स्वयं जो ऋच्छति रूप है, वही है स्वतन्त्र गति (Absolute Motion)। यह सब आगे कहा जायेगा। यहाँ यह लक्ष्य करो कि गायत्री जप का चलना अयन रूप से प्रारंभ होता है। इसे क्रमश: ऋच्छति के ऋतम् में ले जाना पड़ता है। यह सहज साध्य नहीं है। किन्तु क्रान्ति आदि (शून्यस्पर्शादि) में सतर्क रहकर अयन को चरण करना ही होगा। तब जप की गति स्वीय गति हो जाती है। वह स्वयं ही 'पुरश्चरति'। स्वीय गति के अन्त में सहज स्वतन्त्र गतिरूप में प्राप्त करके ऋतम् को भी सत्य में मिलाना होगा।

जपसूत्रम्

अब चन्द्रमा: सूत्रित हो रहे हैं–

चन्द्रमा वरुणसोमसङ्घातात् ॥

वरुण तथा सोम पूर्वोक्त रीति से संहत होने पर हैं चन्द्रमा।

सूर्य सोम इत्यादि समस्त समीकरणों में क्रम एवं क्रमान्वय

पहले सूर्य को 'मित्राग्नि' आकृति में दिखलाया गया है। 'सूर्याचन्द्रमसी' प्रकरण में सूर्य चन्द्रमा का पारस्परिक अन्वय बहुधा (तत्व एवं चर्या उभय) भाव से विस्तारित हुआ। फिर भी वह प्रयास सिन्धु से कतिपय उपलखण्ड के चयन

का प्रयास मात्र है । इस प्रकरण में स्थल-स्थल पर चन्द्रमाः = सोम है यह समीकरण प्राप्त किया गया, किन्तु यह समीकरण तथा समस्त व्यूढ़ समीकरण किसकी अपेक्षा रखते हैं ? क्रम तथा क्रमान्वय की । क = ख किन्तु क्रमिक शोधन द्वारा क ठीक ठीक क तथा ख ठीक ठीक ख न होने से वास्तविक समीकरण प्राप्त नहीं होता । जैसे तत् एवं त्वम् पदार्थ में । जैसे जल तथा H_2O में । शुद्ध गणित में सांकेतिक Symbolical समीकरणादि होते हैं । वहाँ पर 'क', 'ख', इत्यादि की शुद्धि अथवा तत् + त्व स्वीकृत है । मिश्र अथवा व्यावहारिक गणित में ऐसा नहीं है । गत शताब्दी में क्लार्क मैक्सवेल ने आलोक तथा ताड़ित का समीकरण 'हाँथो हाँथ' नहीं प्राप्त किया था । वर्त्तमान में भी अनेक दृष्टान्त हैं ।

यहाँ पूर्व प्रकरण में सूर्य को सूर्यक्रम की काष्ठा में अथवा तदन्तिक अनेक स्थल में लिया गया है, यही चन्द्रमा के साथ हुआ है । तभी सूर्य है 'सविता' और उसका तेजः है उस आदिदेव का "वरेण्यं भर्गो ज्योतिः" रूप । सविता स्वरूप से कभी-कभी नाद भी है । चन्द्रमा भी इसी प्रकार से वरेण्य रोचिः एवं रस रूपेण चिन्हित हुये हैं । वे इस प्रकार से सोम हैं । वे नाद की दृष्टि से विष्णु हैं । वेद के हंसवती ऋक् हंसः (सूर्य) तथा सोम, दोनों ही ऋतम् सत्य में मिलित तनु रूप से लक्षित होते हैं । गायत्री में 'वरेण्यम्' स्थल में हंस सोम का सम्मिलन अवलोकित हो रहा है । इस 'वरेण्यम्' में एवं वरुण में जो सम्बन्ध है उसका अनुधावन करो । यह भी आगे प्रसंगित होगा ।

नाद उदय मे ह् सौ तथा हौंसः आकृति । अनुस्वार तथा विसर्ग

अब इस कारिका की भावना करो

हसौं हंसो हौंस आमूर्द्ध सोऽहञ्च सोम आलयम् ।
ओमित्यवर्त्तते चक्रं नादेवरुणसोमयोः ॥४०॥

विष्णु से नादोदय रूपी जो आदिम वृत्ति है, वह है हसौः आकृति विशिष्ट । सञ्चितशक्ति (ह्) एवं सिंचित शक्ति (स्) इन दोनों को दो पंखों के समान विस्तारित करके नाद (ॐ) मानो खगेन्द्र के समान वागर्थ प्रत्यय के आकाश में समुदित हो रहा है । तुम्हारा निद्रा से उठने का समय क्या है, इसका चिन्तन करो । जब बीज अंकुर होता है—तब क्या होता है ? यहाँ संचित तथा सिंचित मानो अभी भी परस्परतः आमने सामने रहते हैं । बीज कहता है 'यह मैं अंकुर हो गया' और अंकुर कहता है 'यही है हमारा बीज' ! जागृति कहती है 'इस सुषुप्ति से मैं जागा हूँ' और सुषुप्ति का कथन है कि 'यही है मेरी जागृति' । कोई पक्ष भी आज तक 'संगोपन' नहीं हो सका । महाप्राणवर जो 'ह' है उसके इस प्रकार के संगोपायित धनीभाव (Hidden Mine or reservoir) की सूचना करता है हं । वर्ण तथा

वस्तु मात्र की वृत्ति है संकुचत्-प्रसरत्। विसर्ग द्वारा प्रसरत् तथा अनुस्वार द्वारा संकुचत् विशेषतः होता है। अतः हंसः आकृति में 'ह' स्वयं को संकोच घन कर ले रहा है और 'स' स्वयं को कर रहा है प्रसार प्रवण। 'हं' हो गया रेडियम और 'सः' है उसका रेडियेशन। प्रत्यक्ष सूर्य है इनका प्रकट रूप।

सौरायण अथवा स्वाहायन में जो कुछ चल रहा है, उसका भी इसी हंसः आकृति में व्याकरण होता है। तत्पश्चात् पूर्णता में आकर (आमूर्द्ध) वह स्वयं को (गायत्री तथा वरेण्यम् स्थल में) किस भाव से लक्षित करता है? 'हौं सः'। यहाँ ओंकार स्वयं को संकुचित और सिंचित में विक्षेप प्रसारित (Scattering Effect) होना छोड़ता नहीं। संचित-सिंचित दोनों ही महासमन्वय में संग्रहीत हैं। यही है हमारी पूर्वालोचित नाद पूर्णिमा। इस पौर्णमासी में पूर्ण स्थिति कब संभावित होगी?

जप में दक्षिणाचार-वामाचार-अभिषिक्त,पूर्णाभिषिक्त

अतएव गायत्री जप के अनुवर्त्तन में 'धीमहि' स्थल पर पूर्ण को 'वामेन' वामागति से प्राप्त करके शून्य-पूर्ण में परम समीकरण को साध लो। शून्य को पूर्णतः प्राप्त करने पर (अर्थात् निरंजनी स्थिति न होने पर) पूर्ण कभी ध्रुवपूर्ण नहीं होगा। Pure की प्राप्ति किये बिना Perfect का Perfection ही नहीं है। साथ ही Perfect न हुये बिना Pure भी Pure नहीं होता। अतः 'हंसः' रूप से तुम्हारा दक्षिणाचार सोऽहम् रूप से हो जाये वामाचार। इस आचार में पहले अभिषिक्त तदनन्तर पूर्णाभिषिक्त हो जाओ। अभिषेक किसके द्वारा? सोम द्वारा। इस सोम-रस में या अमृत में पूर्णाभिषेक के लिये 'धियोयोनः प्रचोदयात्।' पूर्णाभिषेक है प्रौढ़ उल्लास की अवस्था। 'सुरा पान करिना आमि, सुधा खाई जय तारा बले' मैं सुरा-पान नहीं करता परन्तु जय तारा बोलकर सुधापान करता हूँ। 'आखि टुल-टुल सारा रात्रदिने, काली नामामृत मदिरा पाने।' तदनन्तर विन्दु ब्रह्म में युगपत् अनवस्थ, पूर्णावस्थ, अनुत्तर एवं पूर्णोत्तर होने के लिये सोम को विलीन कर लो विलय ओंकार (आलयं) में। सोम में 'ह' कार अपना पूर्ण रसायन (अमृतायन) होने देगा, अतः वह 'स्' एवं ओम—इन दो में अपना निःशेष समर्पण कर रहा है। वह कहता है 'गोपायित संचय अब किसके लिये? समस्त प्राण सागर को निःशेष मथ कर अपने अमृतकुंभ को पूर्ण करो! ओम् में जाकर 'स' ने भी अपना अवसान प्राप्त कर लिया। अब और प्रसार-सिंचन किसलिये? अन्त में उच्छिष्ट कहाँ है? वह तो अब पीछे कहीं नहीं है. वह है पुराभाग में, परम शून्य पूर्णता में। सिन्धुबेला में समागता सरिता के समान। अब उसके पीछे लौटने, यहाँ-वहाँ करने तथा रुक जाने की बेला ही नहीं है। यहाँ आकर पूर्णावधूत बन जाओ।

एकमात्रा तथा अर्द्धमात्रा। अर्ध कहने से शक्ति का छेद नहीं है

अब यह देखो कि बीज की सहायता से विश्व में वागर्थ प्रत्ययप्रपंच के उदय, पूर्णोन्मेष तथा विलय की जो मूल शक्तिलेखा (हृल्लेखा) ऊपर अंकित की गई, वह सप्तक्रमीं है। विन्दुरूप से नादरूप का उदय; उसमें 'पुनः' नादरूप का विलय, इन दो आदि एवं अंतिम क्रम के साथ वह संख्या में सात है। इनको तन्त्रगोपित सप्त-विषुव के साथ अन्वय-व्यतिरेक में पा लो। इन सातो के दो 'अर्द्ध' हौंसः रूपी महामूर्द्धनि में सम्मिलित हैं। यदि समग्र शक्तिलेख 'हृल्लेखा' को कहो 'एकमात्रा', तब वह दो अर्धमात्रा पूर्णोदय के इस स्थल में सम्मिलित होती हैं। अर्धमात्रा के इन दोनों विभाग को क्रमशः नाद प्रभवा एवं विन्दु वैभवा कहते हैं। फिर भी वह स्मरण रक्खो कि ऋध्यमाना पूर्ण एवं परमावसना ऋच्छतिरूपेण अर्धमात्रा है स्थिता नित्या एवं अविभाजनीया। जो साक्षात् आद्याशक्तिरूपिणी हैं, उन्हें कहीं भी खण्डित रूप से नहीं रक्खा जा सकता। क्योंकि ऐसा होने पर आद्याशक्ति के स्वभाव में अन्यथाभाव हो जाता है। वे छिन्नमस्तारूपेण स्वयं को छिन्न रूप से प्रदर्शित करने का छल करके यही दिखला रही हैं। 'छेद' से और सूक्ष्म में अविच्छेद है, सूक्ष्म-च्छेद से कारण में और कारणच्छेद से तुरीय एवं उससे अतीत में अविच्छेद है। तभी—

अस्तीति शक्तिसद्भावश्चासद्भावोऽपिनास्तिता
जायते सदसद्भावे शक्तेरशक्यता कुतः॥४१॥

शक्ति का सद्भाव ही अस्तिता है और उसका असद्भाव नास्तिता। अर्थात् 'है' और 'नहीं' इन दोनों शक्ति का सद् एवं असद्भाव। इस असद्भाव को शक्ति की नास्तिता अथवा शून्यता नहीं कहा जा सकता। तत्पश्चात् किंचित होना, बढ़ते जाना, क्षीण होते जाना इत्यादि विविध परिणाम—इनमें है क्या ? इन्हें शक्ति का सद्सद्भाव मानों, क्योंकि शक्ति ब्रह्म में अशक्यता कहाँ है और क्यों होगी ?

वरुणरहस्य

अब यह लक्ष्य करो कि एकमात्र ब्रह्मशक्ति के ये दो अच्छेद्यया अधं तनु (प्रत्येक पुनः सार्द्ध त्रि $3\frac{1}{2}$) जिन्हें नादप्रभावा एवं विन्दुप्रभावा कहा गया है, वे दोनों क्रमशः चन्द्रमासूत्र के वरुण एवं सोम हैं। सोम तो विन्दु प्रभावा में प्रकट है, परन्तु वरुण ? नाद का समीकरण ओंकार, प्राण, आदित्य प्रभृति के साथ किया गया है। यहाँ वरुण कैसे आये ? वास्तव में वरुण ही अदिति (आदित्य-सविता), नाद (स्वर) तथा प्राण इन तीनों के समानाधिकरणता का स्थल है। वरुण शब्द का (वेविषाण) व्यपनशील भाव अदिति रूपी अखण्ड आधार सामग्री का निर्देश दे

रहा है। 'रु' निर्देश देता है स्वर ब्रह्म या नाद का निर्देश और अन्त में जो 'ण' है, वह है प्राण। अथवा जो परम (मूर्धन्य) धाम है उसे यदि 'ण' कहें तब वह धाम 'विवरिषु' (वरण करने की इच्छा) अथवा वरण कराता (ऋ के गुण में अव्) है जो—उस तत्व को वरुण कहते हैं। वरुण है वरेण्यम् वरित कराने वाला तत्व। वरुण वेविषाण, अध्वनीन एवं आप्यायन वृत्ति द्वारा उस क्रम में संक्रमण कर रहा है। 'मैं सब कुछ को परमव्यापन में ले जाऊँगा, सब कुछ का अध्व अथवा मार्ग ऋत् कुशल करूँगा, एवं सबको आप्यायन की पराकाष्ठा (ब्रह्माप्यायन) में चरितार्थ करूँगा।' 'वृण्' एवं वरुण आकृति का सयत्न परीक्षण करो। यथार्थत: जो ज्योतिरस निरतिशयतारूप से परम वरेण्य है उसमें विवरिषु हो (वृण्) वरुण का समाश्रय लेकर। यह सब केवल अध्यात्म साधना की ही बात नहीं है। यह है सर्व-जागतिक (Cosmic) रहस्य। अधिभूत (विज्ञान से) से इसका दृष्टान्त ग्रहण करो। परीक्षण करो।

तडित् शक्ति जड़ परिच्छेद में (इस परिच्छेद को विच्छेद करके अधिभूत में भी देखा नहीं जा सकता) विश्वव्यापिका है, वेविषाणा है। यदि तुम दृश्यादृश्य आलोक ताप आदि आकार में इस वेविषाणा को प्राप्त करना चाहो अर्थात् अपने लिये आप्यायनी रूप से प्राप्त करना चाहो तब क्या आवश्यक होगा ? मध्य के इस अध्व-नीन रूप को सुकौशल से प्राप्त करना होगा। जलीय वाष्प वायुमण्डल में सर्वव्यापी है ; यदि तुम इसे वर्षण करने वाले पर्जन्य के रूप में प्राप्त करना चाहो उस स्थिति में इस आवश्यकीय व + रु + ण आकृति को समर्थ भाव में प्राप्त करना होगा। मध्य 'रु' के दोनों छोर पर है व एवं ण। मध्य का 'रु' दोनों के समर्थ-सार्थक संयोजन को संघटित करता है। यह भी देखो कि 'अ उ म' के साथ इसकी ध्वनिगत ही नहीं प्रत्युत व्यापारगत संगति भी रहती है। गत शती के विज्ञान में ईथर एक विभु (वेविषाण) पदार्थ माना गया था (As plenum) Nature abhors vacnum. यह था उस युग के चिन्तन का मूल स्वीकार्य विन्दु। किन्तु यह अव्याकृत विभु वस्तु के व्याकृत (Differentiated) होने पर परमाणु आदि मूल वस्तु तथा आलोक ताड़ित आदि अपनी मौलिक क्रिया कैसे करेंगे ? करेंगे इस 'रु' को मध्य में रखकर। यहाँ पर यह 'रु' है संख्या संस्थान का कतिपय व्यास समीकरण (Differential Eqnations). वर्तमान में चित्र तो परिवर्तित हो गया है परन्तु वरुण अभी भी अपने स्थान पर 'बहाल' हैं। वरुण तथा विष्णु उपक्रम की पारस्परिक तुलना द्वारा इसे समझ लो। वरुण के वेविषाण में है 'विष्' धातु। विष्णु में भी यही है। वरुण का 'ण' विष्णु के 'ष' से युक्त है। उरुक्रम द्वारा 'रु' वरुण शब्द के मध्य में प्रवृष्ट है। इन सबकी द्योतना किस भावना से करोगे ? उरुक्रम का 'उ' तथा क्रम, यह दोनों वरुण के 'रु' में मिलित हैं। इसकी क्या व्यञ्जना है ?

बहिर्विज्ञान में, गणित अध्यातम में इस जादूकर्म Jugglery के बिना कोई उपाय नहीं है। आचार्यगण ने ऐसा कोई 'कसूर' नहीं किया है। परिहार, प्रत्याहार अध्याहार, अन्वाहार, समाहार इन सब शब्द-अर्थ प्रत्यय का आवश्यकीय आहरण करना होगा। पूर्व में व्यवस्थित अथवा अब व्यवस्थापित किसी फल (Result) के उत्तर सूत्र समीकरण आदि पूर्वोक्त अध्याहारादि के आहरण के अभाव में तो वरुण का यह 'रु' वृत्तिमान नहीं होता। यहाँ सब आभास रूप से वर्णित किया जा रहा है। उरुक्रम के चार वर्णों को अपने 'रु' में संगृहीत करके वरुण कहते हैं 'मैं विष्णु वेविषाण रूप से विश्व के निखिल क्रम को उरु (उदार-अबाध) करने हेतु जो आधार भूमि है उसे बनाये रखता हूँ। स्वयं क्रमिकता (Differentiated Gardedness, Seriality आदि) का वरण न करके विश्व के समस्त क्रम को उसकी क्रमिकता में अबाध रूप से प्राप्त करने का आधार हो जाता हूँ'। जैसे कोई कोई स्पन्द किंवा उर्मि। यह गोचर असीम महाकाश और अकूल महासागर ही उनके अबाध क्रमवितान का अंगीकार (Guarantee) दे सकता है। स्वय क्रमविरही होकर भी आकाश एवं आपः, स्पन्द, उर्मि को यह कह सकते हैं 'तुम स्व छन्द में अपने-अपने क्रम में मेरा अनुसरण करो। यदि अबाधित क्रम बाधित हो जाये, तब वह वाध मेरे लिये नहीं है। जिस आप्यायन में कुछ भी अबाधा नहीं है, उस आप्यायन का ही स्वभाव स्वरूप हूँ मैं—आपः। आकाश, अदिति एवं आपः रूपी त्रितत्व की प्राप्ति मैं अपने में करता हूँ।"

अतः वरुण का जो 'रु' है, वह स्वयं साक्षात् क्रमधर्मावच्छिन्न नहीं है। वह अक्रमी रहकर क्रममात्र सम्भाव्यतावच्छिन्न है। निखिल क्रमसंभव उस आधार से ही आधारित है। वरुण की यह unbounded undifferentiated plenum and Back ground की स्थिति स्मरण योग्य है। सब प्रकार के साधन में (विज्ञान में) इस वेविषाण उपक्रम आधार को (अनाहत नादरूपेण) प्राप्त करना ही होगा, नहीं तो निराधार जपादि कर्मक्रम अपनी अबाध क्रमिकता (unrestricted, gradual Progression) को चलाने तथा खड़ा करने की भूमि नहीं प्राप्त करता। उसका आप्यायन भी नहीं होता। महाकाश की महामुक्तता एवं महासागर की सावलीलता को कुन्ठा कार्यण्यहीन आधार में प्राप्त करने के लिये इन तीनों के सम्मिलित रूप वरुण में प्रपन्न हो जाओ 'शं नो मित्रो वरुणः' मित्र के अन्य रूप से भावित होने पर भी यहाँ इस रूप से भावना करो। "हमारे कल्याण विधान (आप्यायन) के लिये वरुण प्रसन्न होकर हमारे मित्र हो जायें। जैसे असीम नीलाकाश नीचे प्रशान्त महाअम्बुधि के किनारे खड़ा होकर कहता है 'हे अकृपण प्रसाद महान् अकुण्ठ स्नेह विपुल ! तुम दोनों मिलकर हमारी इस यात्रा को परम आप्यायन की परिसीमा को प्राप्त करा दो'। वरुण = आकाश, अदिति, आपः। यह समीकरण वेद में है। जीवन तथा साधन में भी इसे प्राप्त करना होगा।

पहले जिस नादप्रभावा अर्द्धमात्रा का प्रसंग अंकित किया गया है, उसे वरुण के अपावरण में दिखलाया जा चुका है। वरुण के नाम से इसे वरुणार्द्धमात्रा कहते हैं। वरुण इस दृष्टि से है वेविषाण, उरुक्रम के उरुरूप तथा अप्यायन में भूयिष्ठ हैं। अबाध विपुल अध्वनीन (अध्वनि साधु अथवा साधिष्ठ)। तब भी यह विपुल वेविषाण मानो इस आकाश तथा अप के समान बाहर है (An immense plenum of impartial objectivity)। बाद की अर्द्धमात्रा में ये आत्मनीन हो रहे हैं 'सो ऽहम्' एवं आत्माभिसरण में। यह सुविपुल महान् आत्मा ही सोमार्द्ध-मात्रा रूप परम अवबोध को ले आती है। जो अहं 'सः' को खोज रहा है, सोम उसको सन्धान देता है 'स ओम्'। वह 'ओम' बिन्दु में जाकर देखता है कि मुझसे ही समस्त आरम्भ, स्थिति तथा संहार हो रहा है। मुझमें ही शून्य एवं पूर्ण का निर्व्यूढ़ मिलन है। मैं ही आत्मा, अस्ति भाति तथा प्रियम् को एकान्त अभेद में पाने वाला स्थान हूँ। यही है परमाप्यायनी स्थिति। जो विपुल महान् होकर भी प्रथम प्रतीति में बाह्य है, निखिलान्तरात्मा है, Immense objective intimate Subjective तथा अन्त में Ultimate Absolute दृष्टि अथवा धी है, यदि उसके प्रसाद से अन्त में उसे सोमधी कहा जाये, तब इस प्रसंग में सोम को एक नाम दो विबुध। इस स्थिति में पूर्वोक्त अर्द्धमात्रा द्वय का एकमात्रा में मिलन हो जाता है वरुणविबुध सम्मिलन। ये हैं गायत्री के 'वरेणीअम्' में समन्वित सहोदर युगल। माता परावाक्—सुभाषिणी।

पहले 'वरेण्यम्' स्थल में सूर्यसोम का मिलन देखा है उनकी अपनी-अपनी पूर्ण महिम्नि में। यहाँ वरुण सोम (विबुध) का मिलन देखकर विव्रत न होना। जड़ परिच्छेद में अथवा विच्छेद में ही मामूली कर्म करके बुद्धि तो विच्छेद विला-सिनी हो जाती है। जहाँ 'कख' है, वहाँ 'खग' कैसे रह सकता है? किन्तु हम देखते हैं कि महामाया विन्दुवासिनी होकर सब कुछ में ब्रह्मरूपा अनुप्रविष्टा रहती हैं। व्यवहार प्रयोजन में ब्रह्मरूपा को जब, जिस प्रकार से जितना भी क्यों न देखा जाये, उनमें ब्रह्मत्व का अल्पत्व घटित नहीं होता। वरेण्यम् तो उन्मेष = उन्मीलन की पौर्णमासी है। वहाँ पर तत्व सामग्री असंख्येय कला में प्रस्फुटिता है। किन्तु एक-एक वर्ण अक्षर? उनमें इन ब्रह्मरूपा बिन्दुवासिनी को कौन अस्वीकार करेगा?

भान में परम उन्मेष एवं परम समापन

तब भी वर्त्तमान अनुबन्ध के अनुरोध से वरुण सोम मिलन को यहाँ समझ लेना होगा। विचार करो कि एक विपुल वितान या प्रसार का जैसे यह महान् आकाश एवं समुद्र है। वह क्षोभहीन-सीमाहीन छेदहीन भानरूपेण विद्यमान रहता है, किन्तु वह भान अभी भी स्वयं में मानो ध्यान नहीं दे रहा है। अतः इस समय

वह ध्येय भी नहीं है (As immense objectivity) ध्यान भी नहीं है (As fully awake intutional Subjectivity) 'वरेण्यन्' स्थल में ध्येय-ध्याता चने के बीज के दो दानों के समान परस्पर संगत आलिंगित रहते हैं। परस्पर से अलग नहीं होते, किन्तु अलग हुये बिना ध्येय एवं ध्याता परस्पर को तत्तत्रूप से जान ही नहीं सकते, इसीलिए आगे वाले पाद में है 'भर्गो देवस्य धीमहि'। इस प्रकार मानो भान सामग्री हो जाती है आत्मनीन। इससे ही ध्यान मनन का जन्म होता है। 'धी' रूपी नाम का व्यवहार करने से अबतक भान चैतन्य तो था किन्तु धी चैतन्य न आ सका। Alogical या, Logical उसमें निविष्ट था किन्तु निरूपित रूपेण नहीं था। गायत्री के तृतीय पाद में यह अभिव्यक्त 'धी' चेतना स्वयं को धियः रूपेण विशिष्ट (Analytically operative) कर लेती है। अहं, बुद्धि, मनः, चित्त, धियः होकर स्व-स्व अधिकार में वृत्तिमान होते रहते हैं। इनकी अपनी-अपनी आकृति तथा छन्दः प्रयोग विनियोग भूमि में आते हैं।

पहले जिस भान सामग्री में (Experience as undivided whole) अहंता इदन्ता अभिव्यक्त नहीं था, वह प्रथमतः अन्योन्यलिङ्गित (Locked in each others embrace) तत्पश्चात् परस्पराभिमुखीन रूप से अभिव्यक्त होकर अन्त में इदं एवं अहं (धी) का विश्लेषण करने लगी। इस कला को विज्ञान कहा जा सकता है, किन्तु इस विज्ञान में विभ्रंश-विभ्रम, विलुप्ति-विनष्टि की सम्भावना भी उन्मुक्त उद्यत उद्दाम बनी रहती है।

भान की पौर्णमासी में परिपूर्णभान में सविता का जो वरणीय भर्गः है, उस ज्योतिरस का ही ध्यान करो। इस अभिसंकल्प के कारण हमारी बहुशाखा वाली, अव्यवसायात्मिका बुद्धि विज्ञान विभ्रम में जा पड़ती है। आत्मनीन के स्थान पर अनात्मनीन हो रही है। अतः है 'प्रचोदयात्'। अहमादि धी समूह को अपने उसी ज्योतिरस की परम प्रेरणा प्रदान करो। अस्ति एवं भाति की दिशा बदलकर उन्हें निखिल व्यवहारिक प्रेयः एवं श्रेयः के मूल में स्थित नित्य स्वतः सिद्ध प्रेष्ठादपि प्रियम् में सम्मिलित करो। तुम सत्य स्वरूप हो। आत्मा में ही वास्तविक सत्य को प्रतिष्ठित करो। तुम ज्योतिस्वरूप हो अतः आत्मीक संवित्ति में तुम्हारी ज्योति स्वयं को रसज्योतिरूप से प्रत्यक्ष करे। जो पहले विज्ञान मात्र था, वह विज्ञान हो जाये प्रज्ञान। अन्त में वह प्रज्ञान शून्यपूर्ण के एकत्रावस्थान बिन्दु द्वारा हो जाये परम चेतना। समस्त संशय तथा वितर्क को पार कर सकते हो, परन्तु भान पर विजय नहीं मिलती। इसी भान को उसके अपने परम उन्मेष तथा समापन में ले जाओ।

परिपूर्णालोचन कैसे साधित होगा

स्मरण रक्खो कि भान पर विजय ही परम विजय है। आकाश आपः इत्यादि जिन-जिन आकारों में इस समग्र, अखण्ड, निर्व्यूढ़ सामग्री को क्यों न पाना

चाहो, एक मात्र भानभूमि में प्रतिष्ठित हुये बिना यह संभावित नहीं होता । तबतक तटस्थ ही रहना होगा । तबतक मर्शपंचक हानोपादान रहित तत्व को भानपंचक आकार में ही प्राप्त कर सकता है । इन अधिभूतादि समस्त आलोचन की समापना इस निव्यूढ़ परम भानचेतना में करके तभी परिपूर्णालोचन साधित होगा । इस परिपूर्णालोचन का पंचधा वर्णन होगा अधिभूतादि पंचधा ख्यातिख्यापन में (Appreciation of what is presented)

विश्वांकन तथा विश्वनिरंजन

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुदयविलयौ क्रमात् ।
भाने विश्वाञ्जनं कुर्याद् भावे विश्वनिरञ्जनम् ।।४२।।

उदय में अन्वय-विलय-व्यतिरेक क्रम से भान चैतन्य का जो अखण्ड समग्र आधार पट है, उसमें विश्व का अंजन (रूपवर्ण आदि में अंकन) करके पुनः उस भान में ही विश्वनिरंजन का समापन करो । प्रणव, गायत्री, बीज नामादि जप में प्रथमतः भान चेतना में सकलाञ्जन को साध कर अन्त में निरञ्जन समाधान में उपनीत हो जाओ । विशेषतः यहाँ गायत्रीलेख तथा शक्तिलेख (हसौं-हंसः आदि) परीक्षित हुआ है । अधिभूतादि दृष्टिपंचक (fivefold view point) का ग्रहण निव्र्यूढ़ भानदृष्टि से न होने तक प्रपंच और प्रापंचिक के मर्शजाल से 'रिहाई' नहीं होती ।

तीन भूमियों में निरंजन का समापन

न ध्येय न च स ध्याता पूर्णो द्वाविति धीमहि ।
विजानीते प्रजानीते न जानीते चान्तिमें ।।४३।।

पुनश्च, गायत्री अथवा इस 'हौंसः' लेख के अवलम्बन में इस निरंजन को समझने का यत्न करो । उदय से वरेण्यम् पर्यन्त भान चेतना में ध्येय एवं ध्याता तथा इन दोनों में से कोई भी व्यक्त नहीं है । वह है उदासीन अखण्ड विपुल भान मात्र । वह भान 'धीमहि' पाद में आकर पूर्ण ध्येय (वरेण्यं भर्गों देवस्य) हो जाता है और वही पूर्ण ध्येय वस्तु सम्पर्क से ध्याता हो जाता है । यही है भूमिअन्वय की पूर्णता की भूमि (महासमन्वय) । तदनन्तर है व्यतिरेक । अपूर्ण कला की, अंश की, परिच्छेद की एक-एक उर्मि को पुकार कर कहो—'तुम्हारा उदय कहां है, स्थिति कहाँ है, गति कहां है, क्या नहीं जानना है इन्हें ?, इन्हें जानना ही होगा । 'विजानीत' । अशेष-विशेष में अजानी अबूझ महाकुहेलिका में जानो समझो । बाहर के समस्त विभ्रम को चेतना के सम्भ्रम (Appreciation) में लाकर जानों समझो । समस्त वहिर्विभ्रम को अन्तःसभ्रम में जो apparent objective मात्र है, उसे (Positive Experience की मर्यादा में लाने के लिये) विजानीत, जानो । इस कर्म

में धीमहि की जो धी है उसे होना होगा धियः। स्वभावतः जो Intution था, वह हो गया Intellect, किन्तु बाह्य विभ्रम को आन्तर संभ्रम में लाने के लिये वह तो साथ ही साथ सभ्रान्त नहीं होता! इसीलिए 'विजानीत' के पश्चात् है 'प्रजानीत' प्रज्ञान। और अन्त में? जो परम चेतना है, वहाँ "यही तो यह जानते थे" रूपी जानना रहता ही नहीं। तभी तो है 'न जानीते'।

अब 'ध्येय भी नहीं है ध्याता भी नहीं है' इस निर्द्वन्दस्थ विपुल भान को यदि कहो वरुण और जो प्रज्ञान से ज्ञान प्राप्त करके जात है उसे यदि कहो सोम तब लक्ष्य करो कि दोनों का संघात त्रिधा है आदि, मध्य एवं अन्तिम (उत्तर) रूप से। आदि = धीमहि, मध्य = धियः, उत्तर = स ओम्। इसी तीन संघात या संहतिरूप को यथाक्रमेण चन्द्रमस्, चन्द्र एवं चन्द्रमा कहो। 'वरेण्य भर्गस्' जो धीमहि में प्रतिभात होता है, वह है 'चन्द्रमस्'। सोम स्थापन करते हैं चन्द्रमा का और चन्द्र? उर्मि की उपमा से इसे समझ लो।

उर्मयो याश्च संच्छिन्नाः संकीर्णाश्च परस्परम्।
इन्दुच्छ्वासेन ता यान्ति कामकलाक्रमान्वयम् ॥४४॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
मनः स्पर्शाश्च मात्राणभुंक्ते कामकलाक्रमैः ॥४५॥
प्राणवाचौ मनोमात्र शक्तिस्पर्शौ कलाक्रमौ।
सोमवरुणसङ्घातादणून्यपि महान्ति च ॥४६॥

चन्द्र है सर्वजागतिक तत्व

समुद्र वक्ष पर जो उर्मिसमूह है, वह वाताम्बुवेग के कारण परस्परतः संच्छिन्न तथा संकीर्ण हो जाती है। किन्तु इन्दु (चन्द्र) के आकर्षण मे सागर का जो समुच्छ्वास है, वह इस विशुद्ध विषमा उर्मिमाला को उनके स्व छन्द (काम) की कला (aspect) के सुषम क्रम (Wave length) में स्थापित करता है। धरित्री की सत्ता तथा संस्था में जो स्व छन्द का कलाक्रम है, उसे यही चन्द्रमण्डल स्थापित रखता है। यदि चन्द्रमण्डल सम्यक् स्वाधिकार में नहीं रहता, तब पृथ्वी की सत्ता-शक्ति छन्दः—आकृति में व्यतिक्रम घटित हो जाता। सागर का उच्छ्वास इसका बलवत्तर प्रमाण है। किन्तु पृथ्वी की जड़ीय प्राणिक एवं आध्यात्मिक समग्र सत्ता एवं संस्था के ऊपर इस चन्द्रमण्डल की महिमा का विचार करो। विज्ञान एवं प्रज्ञान इन उभय दृष्टि से विचार करो। जपादि में तिथि तत्वादि की एकान्त प्रसज्यमानता का प्रणिधान करो। इसे कारिका के 'कामकलाक्रमान्वयं का विच्छेद समझो। चद्र मात्र चन्द्रमण्डल ही नहीं है। यह है सर्व जागतिक तत्व।

मनः तथा चन्द्रतत्व का सादृश्य

इसीलिये श्रुति का उद्धरण देकर कहा गया है 'एतस्माज्जायते' इत्यादि। वही मूल वस्तु मानों प्रथमतः प्राणरूपेण 'जात' हुई है। यह Biology वाला प्राण नहीं है। प्राणब्रह्म एक ओर तो मनः एवं इन्द्रियवर्ग है, दूसरी ओर भूतभौतिक प्रपंच। यदि इन्द्रिय को मात्रा मानों तब यह भूतभौतिक मात्रा का स्पर्श (Exite) कर रहा है। अतएव हो रहा है मात्रास्पर्श। पूर्वोक्त उर्मि दृष्टान्त के अनुसार ये सब परस्पर को संच्छिन्न कर रहे हैं। तभी मात्रास्पर्श के देश में सदैव संघर्ष तथा कोलाहल है। मूलतः स्पर्श है उर्मि अथवा स्पन्द रूप। किन्तु कौन इनकी स्वाभीष्ट कला को स्व छन्दक्रम में बचाकर सजायेगा? बाहर (objectively) जो स्पन्द है, वह मात्रा (इन्द्रिय) सम्पर्क में आकर हो जाता है स्पर्श (Sence Impact)। इस स्पर्श को किसी नूतन अध्यात्म-स्पर्श में रखकर 'मर्श' बना लेना होगा। Sence Impact रूपेण जो objective है उसे Sensation या feeling रूपेण Subjective करना होगा। यह दो कर्म करता है मनः। अतएव मनस्तत्व एवं चन्द्रतत्व का सादृश्य प्रणिधान योग्य है।

चन्द्रादि तत्व को देखने के लिये अधिभूतादि दृष्टिक्रम

यदि कहो मन तो आन्तर पदार्थ एवं व्यष्टि पदार्थ (Inner and Individual) और चन्द्र बाह्य एवं व्यष्टि पदार्थ है, तब यह ठीक बात नहीं है। आन्तर एवं व्यष्टि रूपेण विराट समष्टि मन का एक विशेष उद्भूत जप है और चन्द्रतत्व के अनुसार यह मात्र चन्द्रमण्डल नहीं है। जैसे सूर्यतत्व-वह सूर्य मात्र नहीं है। पुनः उस अधिभूतादि दृष्टि तथा उपसंहार में निर्व्यूढ़ भान दृष्टि की बात याद करो। अधिभूत भी चन्द्र—The moon नहीं है। यह स्मरण रखना। वहाँ चन्द्र = विश्वोर्मि समूह को कामकलाक्रमी कराने का तत्व। जैसे इस पृथ्वी के सम्पर्क में उपकुर्वाण यह उपग्रह चन्द्र। अधिभूत में आकर सबकुछ जड़ीय आकार में स्वयं को दिखलाने लगता है। जैसे यह चन्द्र। यह यहाँ जड़ है परन्तु अधिदेव में यह हो जाता है द्योतन-देवन रूप। आविरूप से आदिदेव वरुण उसे पाशमुक्त करें। तदनन्तर अध्यात्म। यह विपुलवितान-इसमें जाने कितनी महीयसी द्योतना, देवना हैं। उसे आत्मलीन करो। 'यही तो है भीतर, अन्तर में मुझमें'। इस स्थिति में वरुण सोम में मिलित हो जाते हैं। इसका पर्यवासान है परम चेतना में 'आत्मा ही सबकुछ है'। अतः अधिभूत एवं अध्यात्म के सन्धिसेतु हैं अधिदेव।

एक ही तत्व (Basic Principle) अधिभूत में वेविषाण रहने पर भी स्वयं को एक विशिष्ट मूर्त्त परिच्छेद में जब प्रकट करता है, तब उसे देखा 'यह चन्द्र' The moon. यह है सत्वादि चतुष्ठय का संकोच रूप। इसे देखकर तब अरुन्धती

का दर्शन करो। अधिदेव में काम-कला-क्रम विश्वत: द्योतनकारी देवनो शक्ति (देवता) हो गई। तब मानो किसी ने प्रश्न किया 'विश्व की निखिल प्रवृत्ति के मूल में जो काम है, समस्त परिणति के साथ जड़ित जो कला एवं क्रम है, उनकी द्योतना तथा देवना (Manifestation in measure) का आधार क्या है ? वह भी है चन्द्र। इस चन्द्र को 'यह' कहकर स्थूल बताते हुए चुप न रहना। अधिभूत में भी उसे इस प्रकार से देखना संकीर्ण परिच्छिन्न दृष्टि है।

विशेषतः अध्यात्मभूमि का उन्मेष-विश्लेषण

अधिदेव में 'इन्द्रियाणि' (मात्रा), उनकी मूल प्रवृत्ति (काम) एवं उसका अधिकार विक्रम तथा शक्तिक्रम द्योतन में आ रहा है। इन्द्रिय=देवता, किन्तु अध्यात्म में ?

आत्मनीनं स आत्मन्वी चात्मारामः स आत्मराट्।
आत्मस्वरूप इत्येवमध्यात्ममधिकुर्वते ॥४७॥

अध्यात्म आत्मा को इन कई प्रकार से तथा पाद से अधिकार में लाता है। प्रथम है आत्मनीन। यह सृष्टि के समस्त में जड़ाणु तक में काम (As Basic urge, Elan vital) रूप से वृत्तिमान रहता है। अग्निषोमीय निखिल की यह मूल सोम-मात्रा है। यह जब स्वयं में लौटकर स्वयं की प्राप्ति करता है, तब हो जाता है आत्मन्वी या आत्मवान्। काम ने स्वयं को जाना कामरूप में। कामरूप में काम की (क्लीं बीज की) स्वरूप संवित्ति होती है। तब यह हो जाते हैं कामाख्या। जिनकी शक्तिख्याति है काम ब्रह्मरूपेण। जो Impulse था वह हो गया Desire, Aspiration, yearing. अब मन: या मानस तत्व को आवीरूपेण देखा। यह मानस अब स्वयं को अवमानस, मानस, महामानस एवं अतिमानस रूप चतुष्पाद में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति में आत्मराट्, आत्माराम एवं आत्मस्वरूप के भाव अधिकृत होते हैं। अधिभूत में जो थी Inherent Activity or Mass Action वह अधिदेव के माध्यम से अध्यात्म में आकर हो गई Instinct, Intelligence, Intellect, Intution, Vision. 'धी' के अतिमानस रूप को यदि कहो 'धीमहि' तब अतिमानस को अन्वयव्यतिरेक साधन में प्राप्त करने के लिये 'धी' को होना पड़ेगा 'धियः'। यदि अतिमानस के देवता हैं सवितादेव तथा उनका वरणीय भर्गः, तब पूर्वोक्त चन्द्रमस्, चन्द्रमा एवं चन्द्र का दैवतरूप मानस की किस-किस भूमि में है, इसका चिन्तन करो। अवमानस (Subconscious Mind) को जो अधिकृत करे वही है चन्द्रमा। इस समीकरण की विशेषत: भावना करो।

किम्बहुना मानसादि किसी पाद को केवल व्यष्टिपरिच्छेद (In individual Cross-Section) में नहीं लाना। जैसे प्रत्येक को सोम ने जिस प्रकार की

धारा प्रदान की है, उसे आत्मनीनादि भाव दिया है (Introspective Attitude etc.) उसी प्रकार प्रत्येक को Normal Mind को भी वरुण ने प्रदान किया है वेविषाण अध्वनीन रूप । प्रत्येक है व्यापक एवं व्यापन धर्मी । विशेष-विशेष भावों के 'केन्द्रीण' होने पर भी वे एक अखण्ड वरुण मानस में (Mind plenum or Continuum) शक्ति तथा व्यापार का लेनदेन करते रहते हैं । तभी तो कहा है प्रचोदयात् । अतिमानस को चन्द्र दैवत भाव से उर्ध्व में रखना ही ठीक होता है । क्योंकि इस भूमि में कामतः संकल्पपूर्वक कलाक्रमान्वय की अपेक्षा चरितार्थता में आ जाती है, आपूर्यमाणता हो जाती है परिपूर्णता । यही है महामानस भूमि की पूर्णता । महान् में भी कला-क्रम का उद्देश्य रहता है । महामानस का अतिक्रमण करके कोई भी अतिमानस नहीं होता । अतः चन्द्रमस्' हो गया महामानस एवं अतिमानस का 'सन्धि' देवता । मानों 'भर्गस्' से 'चन्द्रमस्' निःसृत हो रहा है । निःसृत हो रहा है दैवतरूपेण मानस के और तीन पाद विन्यास हेतु । अन्त में विन्दुलीनता में जो परम चेतना है, उसे परिसीमा में अतिमानस न कहकर कहो उन्मनी ! 'धीमहि' में वरेण्यं भर्गः प्राप्त किया । प्रचोदित 'धियः' द्वारा साधित करते हुये उस भर्गः को अतिमानस पर्यन्त अन्वय में प्राप्त किया । अन्तः में निरंजन में, उन्मनी में उसे परम उपरम प्राप्त करने देना होता है ।

तामसं राजसं बीजं भृज्यते भर्गसा यदि ।
सगुणं सात्विकञ्चापि निस्त्रैगुण्यं निरञ्जने ॥४८॥

यदि भर्ग तामस संस्कार के बीज, राजस संस्कार बीज एवं त्रिगुण के एक गुण सत्व के बीज को ही भूंज देता है, तब यह जानों कि परम निरंजन में त्रैगुण्य के अधिकार में जो गुणत्रय है, उन्हें भी निरंजन करने पर तत्वतः निःस्त्रैगुण्य स्थिति होती है ।

वरुण सोम के साथ मिलित होने के लिये उद्यत होने पर तीन चन्द्रमा एवं संधि को ग्रहण करके चार 'मानस' हुये । (४ मानस=अवमानस-मानस-महामानस एवं अतिमानस) किन्तु परम निरंजन में आकर क्या हुआ ? वरुण, सोम (विवुध) के एकान्त अभेद-समन्वय में आगये और साथ-साथ यह चन्द्रमा त्रितय भी (अधिभूतादि समस्त ग्रामों में) सूर्याग्नि के साथ अभिन्न ज्योतिरस में अभिनिष्पन्न हो गये । इसका भी अनुसरण करो कि—

अनुक्रमेण सोमत्वं वरुणत्वमुरुक्रमात् ।
तनुक्रमेण चन्द्रत्वं नादविन्दु तनोति तत् ॥४९॥

सोम अनुक्रम में (सूक्ष्मतर भाव में) विन्दु को ही चाहते हैं। वरुण उरुक्रम (वेविषाण, विष्णु) होकर क्या चाहते हैं ? नाद ! और चन्द्र तनुक्रम में (तनु

विस्तारे) नाद विन्दु दोनों को। अतएव ह्रीं आदि बीजमन्त्र के शीर्षस्थ चन्द्र, विन्दु धारण द्वारा बीज शक्ति का साक्षात् विन्दु पर्यन्त वितान करेंगे, इसका आश्वास दे रहे हैं। और 'ई' कार आदि जो स्वर हैं, वे चन्द्रविन्दु को मूर्द्धा पर धारण करके उन्हें भी नाद के उरुक्रम में संवर्द्धित करते जा रहे हैं। प्रणवादि व्याहरण करके चन्द्र का तनु अथवा तनोति क्रम समझ लो। बीज में चन्द्र इसी अर्द्धमात्रा के तनु हैं।

तनुशब्द की व्यञ्जना-चन्द्र शब्द का विश्लेषण

किम्बहुना 'तनु' का तात्पर्य ह्रस्व-क्षुद्र मत समझो। तनु=सूक्ष्म तनोति रूप। चन्द्र=मनः को इसी तनुरूप ही देखो। तनु से सूक्ष्म का तात्पर्य ग्रहण तो किया, किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि यह 'तन्' शब्द सूक्ष्म होने पर भी दोनों ओर दो प्रकार का है "अणुतनुते तथा उरुतनोति" परस्मै तथा आत्मने पद का विचार करो। बीज का दृष्टान्त ग्रहण करो। किन्तु मनन मात्र से ही इस प्रकार द्विमुखी तनुते तथा तनोति आकारद्वय की प्राप्ति होती है : एक तो समस्त में सबकुछ में अणु (Last limit or term) का अन्वेषण करता है, दूसरा करता है विभु का अन्वेषण (Final Summing up)। चंद्र शब्दाकृति में भी यही बात है। चं (चञ्चल्यते—यदि चलता है—as event) ने उसे एक बार 'द' रूप में किसी देश कालादि संस्था विन्दु में स्थित करा कर देखा। फिर उसे 'र' किन्तु चलिष्णु, वेविषाण रूप से भी देखा। As a point or Centre of Rest energy-intensification, and as a field or frame of expansive movement. इन दोनों में से किसी का भी मनन द्वारा परिहार नहीं होता। चाह कर भी नहीं। सागर की साध है मैं निर्झर हो जाऊँ, निर्झर की साध है मैं सागर हो जाऊँ। इस नादविन्दु मिथुन में ब्रह्म ही है, तभी ऐसी साध होती है।

अन्न, मन, चन्द्रमा

और यदि तनु को काया कहें तब देखो कि वरुण एवं सोम दोनों ही काया परिग्रह में कुण्ठित हैं। उनके संघात में जो चन्द्रमा है, वह काय विशिष्ट हो रहा है। चन्द्रमा से ही निखिल की काया में कान्ति है। वह कामकला है अतएव कान्ति है। भानु सब कुछ को देते हैं भाति, छटा, दीप्ति। मन है चन्द्र अतः मन है सूक्ष्म काया युक्त। तनुते तथा तनोति इन दो रूप से। मनःकाय में पृथुता आने पर वह चाक्षुष, नयनगोचर हो जाता है। अन्न के अपिष्ठ अंश से मनः काया का पोषण भी होता है। अतः सत्ता-शक्ति-छन्दः एवं आकृति इनके विषय में अन्न तथा मन के मध्य कोई एकान्त वैजात्य परिच्छेद (जैसे पश्चिम में Cartesion Philosophy

करती है) लाना उचित नहीं है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'। अन्न-मनः इत्यादि कि विवेचना फिर होगी।

कामकला अनुक्रम तथा व्यतिक्रम में कैसी है ? व्यतिक्रम में क्या करना होगा ?

समस्त प्रकार की काया को (मनः काया को भी) रूप एवं आकर प्राप्ति होती है अग्नितत्व से। सूर्यतत्व देता है ओजः दीप्ति तथा तेजः। सोमतत्व (चन्द्र चन्द्रमा रूप में) देता है काम-कान्ति-भाव-रस। सोम तथा सौम्य। मनः काया का भी इस त्रितय द्वारा त्रिधा संगठन तथा भरण अवश्य होता है। व्यष्टि मन-काय (Individual Mind Body) अपनी प्रारब्ध वासना तथा जगतिकाम (Basic Desire to be incarnated into a particular type or kind of Being) द्वारा अवश्य गठित होता है किन्तु समष्टि मनः ही (हिरण्यगर्भ) आधार बिभर्त्ता तथा नियन्ता रहते हैं। अतः मनःकाय पुरुरूप तथा बहुशीलवृत्त होने पर भी इस आधार के विभर्त्ता तथा नियन्ता हिरण्यगर्भ के प्रति प्रपन्न होकर स्वयं को दिव्य हिरण्यकला रूप में प्रस्फुटित कर सकता है। जो मनः अन्नकाम तथा भोगलोलुप है, वह हो जाये हिरण्य या ओजः काम। तथा परिणाम में हो जाये वरेण्य विवरिषु ज्योतिरसकाम। मनः एवं चन्द्रमा ने कामकला के मूल उत्स को 'प्रवृत्तिः पुराणी' रूप से प्राप्त किया है परन्तु साधारण जातिकाम अन्नकाम मनः इस कामकला को कैसे प्राप्त करे ? मनोज-मनसिज कामरूप से। चन्द्रमा भी इस मनसिज के हाथ में कन्दर्पधनुः तथा पांचशर प्रदान कर देते हैं। तभी 'पिया मुख चन्दा' ! 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' यही है जगत् प्रवृत्ति। सनत्कुमार आदि ने इस जगत् प्रवृति में प्रवृत्त नहीं होना चाहा, उन्होंने वरण किया हिरण्यवरेण्य का। किन्तु यह कामकामी मन ! कामकला प्रसक्त जो मनः है उसे साधो कामकला क्रमान्वय में। सृष्टि स्थिति की आदिम शक्ति कला है कामकला। ये हैं कामाख्या।

इस कामकला को कौन नष्ट करेगा ? सिसृक्षा-रिरंसादिरूपेण ये स्वयं हैं ब्रह्ममयी। यदि यह कामकला विश्व की तथा तुम्हारी वासना एवं ऐषणा से हो जाती हैं 'कामकेली', तब 'क्लीं' बीज का यथार्थ आश्रय लेकर केलि हो जाये काला (कृष्ण) या काली। अपनी कामकला को वरेण्य-व्यतिक्रम में प्रकट मत होने दो। इसे प्रस्फुटित होने दो उसी हिरण्य-वरेण्य अनुक्रम में। रिरंसालोलुप को बना दो रास-रस-लोल ! लोलुपता को बदल दो लौल्य मे (रसिक भागवतों के लिये जो सहजधर्म है, उसमें)। मन का अभी का जो तनुक्रम है उसे अनुक्रम एवं उरुक्रम (रस तथा रास) में ले चलो। रस अणु है ? ज्ञानी, योगी भी अपने-अपने भाव के अनुसार कामकलाक्रम को समझते एवं साधते हैं। जैसे तत् पदार्थ है आप्तकाम पूर्ण-

काम। त्वं पदार्थ है कलाकाम। 'असि' पद के द्वारा (शोषण क्रम द्वारा) इसके अभेद का समीकरण होता है। योग में 'युयुक्षु' कला तुम ही हो (मनः)। वही है युक्ततम कला। तुम युञ्जान हो जाओ। यही क्रमविक्रम है जपादि साधना। जप में यही विक्रम है अभ्यारोह। विज्ञान में भी यही है। किसी उर्मि अथवा उर्मिश्रेणी में किसी अभीष्ट (काम) wavelength, frequency को सम्यक् रूपेण कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? यही तो है मूल समस्या। मनोदैवत् चन्द्रमा को बना लो गुरु। काम-कला-क्रम में सौम्य कान्ति संचार करने वाला चन्द्रमा का 'जोड़ीदार' और कौन है ? वही 'एक चन्द्र'। बार बार कहा गया है कि चन्द्रमा को 'यह चांद' समझ कर विमना मत हो जाओ। चन्द्रमा को उसकी अपनी मर्यादा (मान) में लाये बिना मनः अपने सहज कामकलाक्रम से विच्युत हो जाता है। मन के साक्षात् करण स्नायुमण्डल पर चन्द्रमा का विशेष आधिपत्य (Lunar Influence) रहता है। चन्द्र को चन्द्रमा समझकर वैमनस्य काटो और सुमना=सौम्यमनः हो जाओ। वैमन्य=पागल होना Dementia आदि।

प्राकृत काम के उद्वर्त्तन में (Sublimation)
जपशक्ति का प्रभाव, जप का दृष्टान्त

क्लीं क्रीं बीज में विशेषतः कामकला स्वयं को क्रमपरिणयी सीमा में ले आती है। ओजः प्रभृति दिव्य शक्तियों के महासंचय का जो भण्डार है, उसके अपावरण को (Direct Availability) यदि कहो हिरण्य, तब हिरण्य बीज की भावना 'ह्रीं' द्वारा करो। इस बीज को आधार बनाकर उक्त परिसीमा को पाने के लिये अणुबन्धानुरोध से अन्य तीन बीजों को साधना होगा यथा ऐं (अध्वन्य) श्रीं (शर्म्मण्य) क्लीं (धामन्य अथवा आत्मन्य) इन हिरण्यादि चतुष्टय का पाद चतुष्टय है 'वरेण्यम्'। ओंकार स्वयं वरण करता है इस वरेण्यम्' का। प्रत्येक का चन्द्रमा एक ओर (उदय में) नाद के उरुक्रम में दूसरी ओर विन्दु (विलय) के अनुक्रम में सौम्यमान रखता है। यदि काम सौम्यमान में न रहकर यौन रिरंसादि मान में जाना चाहता है, तब शशिशेखर शिव को कृशाणुकपाल रुद्ररूप से प्राप्त करना होगा। तभी यह कहा गया है—

हिरण्यं गर्भितं ह्रीं वै तालव्याध्वन्यमैमिति।
श्रीं शर्म्मण्यं वरेण्यञ्चौ क्रमेते सोमशेखरः॥५०॥
असौम्यं मा क्रमीरध्व ततः सोमः कृशानुदृक्।
(सोमः कालाग्नि दृक् ततः)
मा दहीन्माऽपि कामाग्निः सोमाग्निर्माऽपि
मा मुचेत्॥५१॥

गर्भित जो हिरण्य है; उस हिरण्य को हिरण्यरेतस् करके अधोध्वग के प्राणन् को उर्ध्वध्वग् करके छन्दः की श्रीहीन वृत्ति को शर्मण्य बनाकर तथा प्राण की निखिल प्रवृत्ति को वरेण्यविवरिषु बनाकर सोमशेखर शंकर ह्रीं, ऐं, श्री ॐ बीज-चतुष्टय रूपी चतुष्पाद में 'क्रमविक्रम' कर रहे हैं (यहाँ 'क्लीं' रूपी पञ्चम पाद गुह्य है। यह पाद पूर्वोक्त पादचतुष्टय के समाहार में आत्मन्य धामन्य जो है, इसी-लिये) उनका तो क्रमविक्रम है, किन्तु तुम्हारा? क्रमानुक्रम। तुम्हारे क्रमानुक्रम में तुम्हारा क्रम असौम्य न हो जाये, इसीलिए सोमशेखर सोम (स उ म) कालाग्निदृक् हो जाते हैं। ॐ के आकार में जो अग्निमात्रा है, उसमें अभिनिवेश होते ही सोम हो जाते हैं कालाग्नि। बन्हिसखा 'ऊ' इस कालग्नि को 'समन्तात्' विच्छुरित करते हैं। अतएव असौम्य परिस्थिति में क्या करना होगा? तुषाग्नि का परिहार करो वज्राग्नि के द्वारा। काम या मदन की अग्नि तुम्हारा दहन न कर सके इसलिये सोम-शेखर की यह जो सोमाग्नि हैं, उसमें प्रपन्न होकर कहो 'जातवेदसे सुनवाव सोमम्'—हे जातवेदाः अग्नि (वेदसार ॐ से उत्पन्न जो दिव्य अग्नि हैं) तुम मेरा त्याग न करना (माऽपि मा मुचेत्) कामाग्नि दहन में अग्नि हैं कृष्णवर्त्मा घूमयान-चारी। वह इस 'चलती चक्की' से मुक्त नहीं होने देता। किन्तु हे सोमदेवता की अग्नि! तुम परम द्योतनी इष्टयाग के पुरोहित एवं 'रत्नधातम् हो। हिरण्यादि रत्न का आधान करने वालों में तुम ही श्रेष्ठ हो। अतएव मैं तुम्हारा ही वरण करता हूँ'।

किम्बहुता, केवल भावनुगा प्रार्थना ही नहीं, अपितु अपने प्रणवादि जपकर्म में भी किसी प्रकार मृदु अथच क्रूर विसर्पी विदाही अग्नि (जैसे काम) का उपसर्ग अनूभूत होने पर सोमशायित जो दिव्य अग्नि है, उस अग्नि को उद्बुद्ध तथा उच्छ्व-सित करो ('अ' 'उ' मात्रा द्वारा)। इस सौम्य अथच महोग्र अग्नि में प्रथमतः असौम्य मनोमनसिज का स्वाहायन तदनन्तर उस 'जातवेसे' सोम (बिन्दुविलयी नाद) का सवन करो। यह है 'स्वधा ध्रुवा' में अयन या गति। यह जातवेदा अग्नि अब कृष्णवर्त्मा नहीं हैं और उनकी गति भी घूमायन में नहीं है। वह हो जाते हैं शुक्लवर्त्मा और घूमायन हो जाता है अर्चिरादि मार्ग। तभी देवगण स्वाहा मुख से हव्य तथा पितृगण स्वधा मुख से कव्य प्राप्त कर तृप्त हो जाते हैं। विभेद ही समीकरण बन जाता है अतः—

जपे वेद वर्त्मनी द्वे अहः क्षपेति भावने।
एकायने स्वधास्वाहा पितृदेवौ सहाशनौ ॥५२॥

जप से ही कृष्णा-शुक्लागति एवं वर्त्मद्वय को जानो। जप से जानो अहः एवं क्षपा (रात्रि) रूपी भावनद्वय को। इससे ही विदित होगा कि स्वाहा स्वधा रूपी

अयन द्वय अन्त में मिलकर एक हो जाते हैं। यही बतलाता है कि देव तथा पितृगण पृथक नहीं हैं, परन्तु सहयोग से ही वे अपना अशन (अन्न) प्राप्त करते हुए तृप्त हो जाते हैं।

अकाराग्निर्मकारेण कृष्णं धूमायते मृदु।
उर्जितः सन्नुकारेण स धूमो ह्यर्चिरायते ॥५३॥

ओम् कहकर जप कर रहे हो। अकाराग्नि कृष्णवर्त्मा होकर मृदु धूमसमाकुल हो रहा है। 'उ' से इस अग्नि को उर्जित करो तब देखोगे कि कृष्ण हो गया शुक्ल और धूम है अर्चिव। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' के व्याहरण अनुस्मरण से कृष्ण-धूमादि रूप-वर्ण-गतिच्छन्दः आदि सबका परिवर्तन कर लो और अन्त में ब्राह्मी-स्थिति का का लाभ करो। अभी से ही 'वामेन' अनुक्रमी न हो सकने पर मृत्युकाल में (उत्क्रमण में) व्यतिक्रम को (व्यतिक्रमी रहते हुये) 'तद्दामपरमं' की परिक्रमा का फल कैसे प्राप्त करा सकोगे? अतः 'जेई नाम सेई कृष्ण निष्ठा करि भज'। निष्ठा कहाँ तक? यह कृष्ण नाम तुममे और तुम कृष्ण नाम में कब 'नितरा' स्थित होगे? 'जिनके मन में राम बसे' इत्यादि भजन का मर्म चिन्तन करो।

ॐ कारादि जप में गति कहाँ तक होना उचित है?

त्रिनग्नीं त्र्यक्षरे विद्धि स्वरे सौरे न सोमतः।
मेरौ विद्धि नाचिकेतं यमः संयम्यते यतः ॥५४॥

तीन अग्नियों को प्रणवादि बीज के त्र्यक्षर मे यथाक्रमेण स्वराग्नि, सौराग्नि तथा सोमाग्नि रूप से प्रथमतः जानों। तत्पश्चात् इन अग्नित्रय में समाहित होकर मेरु में (जहाँ सोमार्द्ध-अर्धमात्रा, नादविन्दु को तथा पूर्वोक्त तीन अग्नि को संधि समन्वय में करती है) श्रुति विश्रुत उस नाचिकेत अग्नि की प्राप्ति करो, जिस अग्नि द्वारा स्वयं यम का भी संयमन हो जाता है। अतः भुवनचक्र का नाभिभेद होने पर परम अनपाय पदवी में पद्यमानता संभावित हो जाती है। इस परम मे पद्यमानता को व्याहरण अनुस्मरण में भी साधकर शुक्ला विरजाः उत्क्रान्ति में निश्चिन्त होना होगा।

प्रभवति न चेन्नादः पराय सोमविन्दवे।
धूमेन पुनरावृत्तिर्गत्वा गत्वा स्पृगन्तिमम् ॥५५॥

ॐ कार तो जप रहे हो। स्पृगन्ति का जो मकार है, यदि उसमें जाकर नाद को समुदित न देखो, यदि वरेण्य (परा) में जो सोमविन्दु है उसमें लय सम्मिलन में समुदित नाद में पारग न हो पाओ (न चेत् प्रभवति), तब बारंबार 'म' कार में जाकर (रजःस्तमः द्वारा ग्रस्त सोममात्रा में) धूमयान की पुनरावृत्ति की चक्की में घूमना होगा। और यदि उससे उत्क्रान्ति घटित हो जाये तब अपुनर्भव कहाँ है?

यदि कहो—अपुनर्भव न हो, तुम्हारे पादाम्बुज में मतिरति बनी रहे, वह भी मिलेगा इसी परम विन्दुवासिनी महामाया योगमाया की ही कृपा से ।

'स्पृगन्तिमें'—के स्पर्श के पार जाना ही होगा

स्पृगन्तिमे जपान्तश्चेदजपान्तेऽन्तकं व्रज ।
हंस हौंस इति ध्माते सोमोऽन्तकान्तकं स्वयम् ॥५६॥

प्रणव आदि जो कुछ भी व्याहरण अनुस्मरण करते हो उनमें यदि अन्तिम स्पर्शवर्ण (म) में तुम्हारे जप का अन्त होता है तथा यदि केवल मात्रास्पर्श आदि में ही तुम्हारी भावना का अन्त हो जाता है, उस स्थिति में जब तुम्हारा अजपान्त अर्थात् अजपा का अन्त होगा, तब कहाँ जाओगे ? अन्तकम्—यमालय । वहाँ है पाप पुण्य विचार-फल, है सुख दुःख का भोग । यही हो रहा है बारंबार । किन्तु अजपा का जो हंसः है उसे यदि समर्थभाव से तथा छन्द में ॐ कार गर्भित हौंसः को वाक्-प्राण-मनः के त्रिपुर शंख को ध्वनित करके बाहर कर सको, तब उस स्थिति में सोम स्वयं ही अन्तक के भी अन्तक होकर प्रकट हो जायेंगे । प्रयाण काल में विलम्बित कृच्छ्रछन्द में जो अजपा (श्वास) चलती है, उसमें मानों ह् एवं स् परस्परतः विदा ले लेते हैं (इस शरीर से) । तब 'ह' उस काया के बीज विन्दु से और स् उस काया व्यापार के नाद (विसर्ग) से (अर्थात् अपने-अपने अनुस्वार-विसर्ग के निरुपित तत्कायानुपात से from the Basic fund and function Body ratio से) च्युत हो जाना चाहता है । उस समय 'ह्' चला जाता है सजातीय शक्तिसंचय सामान्य में । 'स्' जाता है सजातीय शक्तिसिंचन सामान्य में । विश्व में सर्वत्र अजपाशेष का यही रूप है । (मृत्यु रूप) । यह शिशिरकण—यह पुष्पकलिका, इनका विचार करो ।

उत्क्रान्ति का अर्थ है किसी निरूपित काय सम्बन्धी जो मूल ह्सौ है उसके अनुपात की मेरुक्रान्ति Crossing the point of the critical stability or status quo ratio. जल कब वाष्प या बर्फ हो जाता है ? हंस सूत्र में देखा गया है कि हंसः (अजपा) एक मूल सर्वजागतिक वृत्ति आकृति (Basic Function Pattern) है । अणु विराट कहीं भी हंस की ऋच्छति का निषेध नहीं है । अनुस्वार विसर्ग के व्यापारिक अनुपात वैचित्र्य से ही सर्वत्र गति-स्थिति परिणति का वैचित्र्य है । हमारे व्यापार में वाक्-प्राण मनः तीनों ही स्वभाव से अथवा परवश भाव से इसी अजपा को जपते रहते हैं । अग्नि, आदित्य चन्द्रमा यथाक्रम में । अग्नि = वाक्, आदित्य = प्राण, चन्द्रमा = मन । वाक् की ध्वन्याकृति विशेषतः है हंसः, प्राण की विशेषतः प्राणापान, मन की युक्त-अयुक्त । इन तीनों युग्मक का अनुपात (Functional Ratio) ध्रुव नहीं है परिणामी accelerating, variable है । अतः यह

व्यास संख्यान में (Differential Calculus आदि में) आता है। समास संख्यान भी। अनुपात क्रमान्वय में (Ratio Series में) ऐसे कई स्थल हैं जिन्हें मेरु कहा जा सकता है। मेरु में आकर अनुपात का जो विप्लवी परिवर्त्तन घटित होता है, उसे Mutation, Emergence आदि (प्राण के क्षेत्र में) कहा जाता है।

मेरुविप्लव

मेरु विप्लव मृदु-मध्य-अधिमात्र आकार में होता है। कोयला का हीरा बन जाना अधिमात्र विप्लव है, किन्तु जल का बरफ होना है मृदु विप्लव। अध्यात्मभूमि में दीक्षा द्वारा दीक्षित के जीवन में इन त्रिविध मेरु क्रान्ति के निमित्त विप्लव परिलक्षित होता है। साधारण जीवन में कौमार-यौवन-जरा को मृदु-मध्य रूप मेरु क्रान्ति कहते हैं, किन्तु उत्क्रान्ति की तुलना है अधिमात्र से। कौमारादि मे हसौ रूपी मूल शाक्त मिथुन (The Basic vital economy factors) अपने अनुस्वार-विसर्ग अनुपात (Basic fuuctional Ratio) को एक-एक मेरु में उपनीत होते देखता अवश्य है, किन्तु उसके परिणामस्वरूप उनके उस कायागत संघात (a given organism relation की) सम्बन्ध की अप्रतियोगिता अथवा विशेष विपर्यय घटित नहीं होता।

मृत्यु अवसर पर यह अप्रतियोगिता (उन-उन संघातों के अवच्छेदक सम्बन्ध की) उक्त संघात के अनुक्रम के व्यतिक्रम में घटित होने लगती है। संघात का स्थूल भाग व्यक्त हो जाता है। यह प्रयोजनीय वर्णन फिर किया जायेगा। यहाँ प्रश्न है कि 'ह्‌सौ' युगल जिस समय अपने किसी निर्दिष्ट संहति साधक अजपा अनुपात (अनुस्वार-विसर्ग) से च्युत होता रहता है, तब उसे पुनः परम अभ्युदय एवं उपरम वाले वरेण्यं छन्दः में ग्रथित करने का उपाय क्या है? 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' कैसे साधित होता है? उपाय एक है ह्‌सौ को ओंकार से समुद्धृत तथा समाहृत करो = 'हौंसः'। क्लीं आदि बीज, काली, कृष्ण, गोविन्द, राम आदि नाम, सभी इस ह्‌सौ को हौंसः के मृत्युंजय सत्य शिव सुन्दर धाम में समुन्नीत कराने के ही लिये हैं। जीवन में जो कुछ भी साधना है वह इस ह्‌सौ की चरम मेरुक्रान्ति को परम श्रेयः प्राप्ति कराने के लिये ही है। पहले गायत्री वर्णना में जो शक्तिलेख प्रदर्शित हुआ है उसमें हमारे साधारण जपविमुख अजपा के मृत्यु क्रान्ति कुशल उत्तरण वाले सौम्य छन्दः को प्रकट किया गया है। इसी छन्द में छन्दोमाता स्वयं स्वधाम की अमृतधारा का दोहन करती हैं देवताओं के लिये। देवगण (जैसे अध्यात्म का 'धियोनः') अजपा के पूर्वोक्त अनुपात-विपाक में पतित होकर मृत्यु क्रन्ति द्वारा अतिक्रान्तकृत तथा अतिक्रान्तदृक् नहीं हैं।

अजपा में मृत्युयान तथा अमृतयान—डमरु तथा विषाण (सींग)

अजपाया जीवदुःखं प्रयाणे यमयातना ।
त्र्यम्बकं परिणिता चेन् मृत्यौ सा न मुमुर्षति ॥५७॥

सोमार्द्धशेखर त्र्यम्बक (त्र्यक्षर ओंकार) साक्षात् अमृत रूप तथा मृत्युंजय हैं। उनका भजन करके जीव तथा सर्वभूतों की जो अजपा है वह जीवदशा में दुख (तापत्रय) और प्रयाण काल में यमयातना दे रही है। यदि यह अजपा त्र्यंम्बक के साथ परिणिता हो जाये, तब वह साक्षात् मृत्युंजय की अर्द्धांगिनी होकर मृत्यु से भी मरने की इच्छा नहीं करती। तब वह अपने अमृत स्वरूप में ही आहुति देकर कहती है "ॐ विशोको विमृन्युर्भूयासं स्वाहा"।

हमिति डमरुः प्राणौ स इति विषाणकः ।
मृत्युञ्जयं महाकालं मुमूर्षुः किं दिदृक्षसे ॥५८॥

महाकाल अणु महान् विश्वभुवन में सर्वत्र नटराज नृत्यरूप में विराजित रहते हैं। इनके नटन का विराम नहीं है। अतः सब भूतों में ही अजपा का कालजप चलता रहता है। Death is eternal ring-dance in all Creation. महाकाल के दोनों हाँथों में क्रमशः डमरू और सींग है। यह क्या है ? विश्वभूत में जो सर्वदा अहरहः अजपा चल रहा है उसका हं=डमरू, सः=विषाण है। जो 'सर्वलोक क्षय-कृत् प्रवृद्ध' काल है उस काल के ताल मान का निरन्तर भरण एवं प्रपूरण करते है डमरू-विषाण। हे मरण महाग्रासपान्थ मुमूर्षु ! क्या तुम देखने की इच्छा नहीं करोगे (दिद्रक्ष से); उस डमरू-विषाण धारी महाकाल नटराज के महामृत्युंजय त्र्यम्बक रूप को ? तुम्हारे अजपा का जो हंसः हंसः हंसः है क्या उस मृत्युच्छन्द का 'हौंसः' अमृतछन्द में अभ्यारोहण नहीं कराओगे ?

अजपा में हंसः एवं हौंसः आकृति-अजात पक्ष पक्षिशावक,की उपमा

अजात पक्षा इव मातरं खगाः
क्षुधातुरा व्यालभियार्त्त मानसाः ।
भजेम मातुर्निजपक्षधूननैः
परा गिरं तां दिवमारुरुक्षवः ॥५९॥
न पेपीयसे चेन् महोत्सवासवं
मरीमृज्यसे नो मलं मदालसम् ।
नरीनृत्यसे नो जपे तमोनुदां ।
पनीपत्यसे तर्हि भूविलुण्ठितः ॥६०॥
(पनीपत्यसे मा च भूरलुण्ठितः)

प्रकृत अजपा में जो जीवन धारण है उस जीवन के सम्बन्ध में भागवत की एक मरमी उपमा द्वारा कहा जा रहा है (श्लोक का प्रथम चरण भागवत का है) । बिना पंख वाला विहगशावक मां को कैसे पुकारता है ? क्षुधा तथा सर्पभय से आर्त्त होकर ? क्षुधा तृष्णा तो मां मिटा ही देती है किन्तु व्यालभय ? शिशु का तो अभी अपने समर्थ पंखों का उद्‌भव नहीं हुआ है । इसीलिये मां उसे अपने पंखों के आधूनन द्वारा आकाश में ले जाकर किसी निरापद अभिनव नीड़ में रख देती है । प्राकृत अजपा में पातित जीव भी निरन्तर क्षुधातुर एवं कालव्याल के भय से भीत है । वह असहाय निरूपाय केवल चाहता है उस उर्ध्व उदार शंकाहीन अजाने विपुल की ओर अभिमुखीन (दिवमारुरुक्षव:) होना ! इस अजाना विपुल में क्या उसे निश्चिन्त विराम आश्रय और अदीन अकुण्ठ अन्नरस मिलेगा ?

कौन जाने ? प्राकृत अजपा के जो पक्षपुट (हंस:) हैं, वे तो अजात (बिना उगे) अनुद्‌भिन्न हैं । क्योंकि उसने तो क्षुधा तृष्णा-व्याल समाकुल इस भंगुर स्थिति में निरूपाय बन्धन में बाँधकर रक्खा है । उपाय ? परावाक् जो ओंकार है, महानाम शक्ति उसका ही माता के समान आश्रय लो । प्राकृत अजपा को कर लो ओंकार-म्हानाम से पुटित । हंस: हो जाये हौंस: । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम्हें हौंस: जपना होगा । तुम्हारे अपने अजपा की जो 'अजात पक्षाकृति' है उसे 'दिवमारुरुक्षु' द्यु दीप्तिमयी हौंस: आकृति में उत्तोलित करना होगा । यदि निष्ठाप्रपन्न होकर इसे साधित कर लो, तब यही महानाम शक्ति ही अजातपक्ष विहगशावक की माता के समान तुम्हें 'तमस: परस्तात्' ज्योति धर्म की दीप्ति तथा रोचि: से निश्चित रूप से अभिसम्पन्न करेगी । तुम अपने अजातपक्ष पुट से असहाय आर्त्त व्यर्थ प्रयास 'हैरान' ही तो हो रहे हो, किन्तु माता (परावाक्-महानाम) प्रपन्ना एवं प्रसन्ना होकर तुम्हारे इस अन्ध विफल प्रयास को अपने पंखों के आधूनन से (निजपक्षधूननै:) परमरसोज्वल सफलता की ओर ले जायेगी ।

तुम्हारे लिये महात्रास रूपी जो यह प्राकृत अजपा हैं उसे क्या महानामरस-निबिड़ महोत्सव रूपेण जीवन में प्राप्त नहीं करोगे ? और महोत्सव में जो 'आसव' प्रतिवेशन है, क्या उसका बारम्बार पान नहीं करोगे (न पेपीयसे चेत्) ? यह आसव क्या है ? निखिल 'आसव'; प्राण सागर के मन्थन से जो सोम, जो सुधाकर सुधा समुदित होती है, वही है ! हौंस: आकृति में एवं छन्द में जप करो । इस परम आसव का पुन: पुन: पान करो । जागतिक प्राकृत आसव पान से मदालस्य रूपी मद वर्धित होता है, किन्तु इस आसव का पान करने से प्राकृत मद मोह निमित्तक अलसित मन का बारम्बार मार्जन क्षालन होने लगता है । मल का क्षालन होने से जैसे एक ओर मदालस मल हटता जाता है; उसी प्रकार इस जीवन के अलसित स्थल में

उल्लसितादि भाव आयेगा। उसी प्रकार दूसरी दिशा में ज्योतिर्धाम की अर्गला अपावृत होगी, हट जायेगी। जो ज्योति विशाल तमोपहारी (तमोनुदा) है, उन्हें विजय वैजयन्ती प्राप्त होगी। तब तुम अपने महोत्सव के आसव को लेकर चल पड़ो इस अलसित तमसा के पार आलोक पुलक के उत्सव में। उस परम विजय उत्सव में क्या तुम बारम्बार रासभासानुग नृत्य नहीं करोगे? (इसे राजयोगी, लययोगी आदि अपने-अपने भावानुरूप समझ लें)।

किन्तु तुम्हारी प्राकृत अजपा मदिरा यदि महानामाश्रय की इन समस्त दिव्य भूमियों में तुम्हें न ले जाये, तब? तब प्राकृत जागतिक 'पियक्कड़' की तरह भूविलुण्ठित होकर गिरते-पड़ते रहो। बारबार! (पनीपत्यसे तर्हि)। इस भूविलुण्ठित तत्व का विचार करो। 'भू' रजात विसर्गयुक्त हो कर हो गया आदिम व्याहृति। किन्तु विसर्ग रहित होने पर हो गया मात्र यह भूमण्डल। (अर्थात् जब भू में रेफ विसर्ग लगा तब वह भूर्भुवः रूप व्याहृति है अन्यथा भूमण्डल का 'भू')। इससे क्या प्रकट होता है? पुनर्भव-पुनः जन्म और जन्म होगा इस भूत भौतिक मण्डल में ही। इसी भूत-भौतिक में भूत ग्रस्त होकर राजहंसी हिरण्यगर्भ हो गये तालाब के हंस। वह क्या प्रसव करता है? प्राकृत अजपा का वही क्लेश-कर्म-विपाक आशय। लुण्ठित का अर्थ मात्र लोट पड़ना नहीं है। और यदि वह प्रभु के पादपकंजरागरज पर लोटता रहे तब क्या करोगे? इस अजपा यन्त्र से जो नामासव का अमृत स्त्रवित हो रहा है, उस अमृतपानोल्लास परिसीमा में जाओ और उस परिसीमा में 'पनीपत्यसे मा च भूवलुण्ठितः' पुनः पुनः अपने परम बंधु के चरण कमल की रज पर गिरो एवं देखो कि उसमें तुम्हारी समग्र सत्ता भी लोटपोट करे (मा च भूवलुण्ठितः)। तुम्हारा सब कुछ वहाँ लोट पड़े। अलुण्ठित. बिना लोटा हुआ कुछ भी न रहे

इस समन्वय में लय साधकों के 'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा' इत्यादि को भी समझ लो। श्रीचण्डी के महिषासुर युद्ध प्रसंगोक्त 'मधु यावत् पिवाम्यहम्' एवं 'पपौ च मानमुत्तमम्' का सन्धान वर्त्तमान प्रसंग में करो। देखता हूँ कि अजपा ही असुर विद्ध, असुराधत्त हो रहा है। अजपा हमारे वाक् प्राण तथा धी के संघात स्वभाव को स्व च्छन्द मे अथवा उससे अतिरिक्त भाव में निरूपित करते हुये प्रतीत हो रहा है। अजपा ही कह देता है कि तुम सुर में हो अथवा असुर में अतः सुरासुर के समर को अजपा द्वारा ही समझना होगा। इस भाव से समझने पर देवी महात्म्य समझ में आ सकेगा। जैसे ब्रह्मा के योगनिन्द्रास्तब में 'आ' करण को ठीक भाव से आयत्त करके अजपा में नाद आदि के सम्बन्ध में अपास्तभाव को अपनीत करना होगा। 'नमो देव्यै' इत्यादि नारायणी सूक्त में 'ऐं' बीज को अजपा का समुद्धार करने में सचेतन होकर जपना होगा "नमस्तस्यै" इत्यादि रूप में।

देवी का महात्मत्रय

अजपापक्ष में देवी के तीन महात्म्य हैं। अजपा के (हं तथा सः इन दोनों के) अनुस्वार विसर्ग अनुपातगत त्रिविध आसुर दौरात्म्य का अमोघ निवारण करने के तीन परम कौशल। विश्व में (वाह्य एवं आन्तर) संचित-सिचित सुषम सम्पर्क (Harmonic Relation) होने पर अभ्युदय-निःश्रेयस के स्व छन्दगत अध्वक्रम के संस्थापक। संचित-सिचित के सुषम सम्पर्क का व्यतिक्रम घटित होते ही पूर्वोक्त स्व च्छन्द अध्वक्रम के क्रमण में आसुर दौरात्म्य आ जाता है। अपने शरीर के Vital Metabolism, Thyroid इत्यादि gland Secretion, heart, lever, kidney इत्यादि Vital orgain के क्रियाक्रम, इन सबमें अजपा को 'प्रकृतेर्वशात्' कहते देखो। प्रकृति = स्वभाव। और उन सब आसुर दौरात्म्य को समझते ही त्रैलोक्य एवं अखिल (त्रैलोक्यस्याखिलस्य) की जो ईश्वरी हैं, उनके माहात्म्य में प्रपन्न हो जाओ। उस प्रपत्ति की साधारण आकृति है हौंसः (मृत्युंजय मंन्त्रादि में उसे व्यक्त स्फोट रूप से देखा जाता है)।

प्रणव, गुरुदत्त बीज, महानाम का सम्पुट देकर अपने अजपा को यथार्थ अजपा बना दो। आगे अजपासूत्र में यह सविशेष रूप से देखोगे कि जो 'अज' अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा का पालन करे, वह है अजपा। अथवा स्वयं स्वयं 'अज' जन्मरहित होकर इस सृष्टि के आदि से ही निखिल 'जात' (जन्में) का पालन करे वह है अजपा। जिस किसी ने भी जन्म लिया उसकी अपनी स्थिति है अजपा में ही। उसका अजपा स्फुरित हुआ, तब वह भी स्फुरत्ता को प्राप्त हो सका। पहले कहा जा चुका है कि अजपा का अनुपात है अग्निषोमीय अनुपात। इस अनुपात का अधिकार सर्वत्र सृष्टि पर है। भौतिक विज्ञान भी अपने स्वाधिकार में इसी अजपानुपात (Basic Energy economy) को लेकर महाव्यापृत है। उसका यह विज्ञान व्यापार है ह्रीं बीज के प्रशासन में। प्राणविद्या = ऐं बीज के प्रशासन में। अध्यात्म विद्या — क्लीं बीज के प्रशासन में। श्रीं बीज शर्मण्य रूपेण सर्वत्र शर्मसौष्ठव की रक्षा करता है। प्रशासन अथात् विश्व व्यापिका अजपा को प्राकृत आसुर शासन से प्रकृत सुरशासन की ओर प्रवर्त्तित करना और रखना 'यदा यद्रा बाधा दानवोत्था भविष्यति'।

साम्य, सौम्य, सौषम्य-तिलक

सोमात् साम्यञ्च सौम्यञ्च
सौषम्यञ्चापि सर्वतः।
प्रसीदति न वै सोम ऋते तिलकधारणात् ॥ ६१ ॥

विश्व में सर्वत्र सोम से ही साम्य सौम्य एवं सौषम्य की मित्रछान्दसी आकृति आती है। इन तीन को प्राण-मनः एवं वाक् के क्षेत्र में विशेषतः देखो। अर्थात्

प्राणवृत्ति समूह को (जैसे प्राण एवं अपान) साम्य में, चित्त वृत्तियों को सौम्य में एवं वाग्वृत्तियों को सौषम्य में लाओ सोम के प्रसाद से। तुम्हारा यह जो वाक्-मनः-प्राणमय संघात कलेवर है उसकी अजपा आयतन रूपेण भावना करते हुये, इस कलेवर पर तिलक धारण न करने से तो सोम प्रसन्न नहीं होते। (अजपा में अकार=वाक्, ज=मन, पा=प्राण)। शरीर पर तिलक धारण करना सम्प्रदायों के साधन अंग के रूप में माना गया है। इस व्यवस्था में निष्ठापूर्वक रहो। किन्तु इस अजपा में प्रणव, गुरुदत्त बीज या नाम को तो जपना ही होगा। इस अजपा में तिलक धारण पर विचार करो। प्रथमतः वाक्–मनः-प्राण संघात वृत्ति की (Rasultant Congruent functioning की) अजपा के साथ अभेद भावना की गई : तदनन्तर इस अजपा को अपने इष्टनाम या बीज के अक्षर तनु के साथ अभेद सम्बन्ध में रक्खा गया। अन्त में बीजाक्षर तनु में 'चन्द्रविन्दु' समारोपण करते हुये (अर्धमात्रा को जागृत करके) तिलकधारण किया। वर्णरूपेण जो चन्द्रविन्दु है, स्फोटवाक् में जो नादविन्दु है, प्राण में जो सार्द्ध त्रिमात्रा है; मन में वह है पूर्वकथिता पौर्णमासी और अमा, पूर्ण उन्मीलन-निमीलन। इन सकल कलाओं में अपने तिलक को ज्योतिरस श्रृंगार से समुज्वल होकर प्रकट होने दो।

चन्द्रमास्ते शिखासूत्रे चन्द्रस्तेऽम्लानमालिकाम्।
चन्द्रमा तिलकं तुभ्यं सोमो दधातु रञ्जनम्॥ ६२॥

सोमराजा (रंजक) को तीन मित्रछांदसी आकृति (चन्द्रमस्-चन्द्र तथा चन्द्रमा) में देखा जा चुका। इनमें चन्द्रमस् तुम्हारे अजपा तनु में सर्वप्रथम शिखासूत्ररूप रंजन का विधान करते हैं। चन्द्रमस् मे वरुण सोम सम्मिलित रूप से सविता के हिरण्यरेतस् एवं 'भर्गस्' इन दोनों का आदोहन करते है। मान्त्री दीक्षा के माध्यम से हमारे अजपातनु में यह असाधारणी वृत्ति घटित होती है। शिखा-सूत्र में है यही असाधारणी गोचर वृत्तिता। दीक्षा के अनन्तर है चर्या अथवा चरण। चन्द्र इसी जपचर्या को अम्लान माला के रूप में ग्रथित करें। तुम्हारी जपोल्लास-विलासवल्ली से एक-एक जपाक्षर पुष्पपारिजात का चयन करके तुम्हारा मन रूप माली उन्हे मरमी सूत्र से गूंथते हुये अजपातनु को ज्योतिरस के श्रृंगार से समुज्वल करे। चरिष्णु-आचरिष्णु, पुरश्चरिष्णु मन ही है चन्द्र।

तदनन्तर चन्द्रमा पूर्वोक्त तिलक को अनवद्य सुन्दर करके लगायें। यही व्यापार है साक्षात् योगिनीहृदय। इस हृदय के उदय से अर्धमात्रा, योगमाया इत्यादि रूप से महायोगिनी की निखिल योगदाशक्ति प्रसन्ना हो जाती है। सोमराजा दीक्षा-चर्या तथा योग द्वारा तुम्हारे इस सर्वतोभद्रभञ्जन अजपा तनु को सर्वतः श्रीरंजन-राग से अनुरंजित करें। अजपा प्रसंग को यहां इस प्रकार से समझो—अ=दीक्षा,

शिखासूत्र; जप = चर्या, माला, आ = योग अथवा चर्या परिसीमातिलक धारण विजयमंगल धारण। जो हैं भद्रभंजन के श्रीरंजन, वे त्रिचन्द्रमा मूर्त्ति सोम हम पर प्रसन्न हों!

त्रिविध रंजन

यह भी विचार करो कि शिखादिरंजन (त्रिविध) द्वारा अजपा तनु में महाशक्तिसम्पात् मन्त्रोद्धार एवं मन्त्रचैतन्य सूचित होता है। इसमें शिखा विशेषत: मूर्धन्यधाम (मूर्धज्योतिद्योतनी शक्ति) की ओर सूत्र विशेषत: कुशलाध्वक्रम में अन्वय (सुपथा एवं क्षेमंकरीशक्ति) की सूचना देता है। प्रथम का प्रभाव है द्विदल-कमल तथा उससे ऊपर और द्वितीय तो सुषुम्ना मार्ग को प्रभावित करता है। स्थूल देह में Brain Centres, Spinal Column तथा Nervous System यथाक्रमेण शिखा सूत्र के अधिकार में आते हैं। माला Association System तथा तिलक Control System पर प्रभाव विस्तारित करता है। फिर भी इन्हें केवल वाह्यिक मत समझो।

इड़ा नाड़ीं यदीड्या ते जपादिस्वस्तिकर्मसु।
विदधातु मृड़ानी ते प्रकामं वामतश्चरम्॥ ६३॥

इड़ा या सोम नाड़ी में जपादि स्वस्तिकर्म (अभिचारादि क्रूर कर्म नहीं) करने के कारण यदि वह सोम नाड़ी (वामा) ही तुम्हारी अभीप्सिता (ईड्या) है, तब निखिल अजपायन्त्र मन्त्रेश्वरी जो मृड़ानी (शिखा) हैं, उनमें प्रपन्न हो जाओ, जिससे वे प्रसन्ना होकर (पिंगला प्रवाह काल में भी) तुम्हारी अभिलाषा के अनुरूप (प्रकामं) इस वामा को प्राप्त करा दें। तुम्हारे 'प्रकामं वामतश्चरणे' को मृड़ानी सिद्ध मनोरथ करें। इस प्रकार 'वामेन' स्वस्ति-शान्ति कर्म में यथार्थ दाक्षिण्य आता है।

मास तथा तिथि

वरेण्यं विवरिषोर्मश्च भर्गो विवरिषोश्च स:।
सोमश्च पूर्णिमा माऽमा चन्द्रमाश्चापि चन्द्रमा।
मासतिथि च कल्प्येते ताभ्यां चन्द्रश्च कल्पनम्॥ ६४॥

गायत्री मन्त्र के वरेण्यम् का वरण करने के लिये इच्छुक होकर वरुण ने उसमें से 'म' का आहरण किया एवं भर्गस् का वरण करने के लिये इच्छुक होकर उससे क्या आहरण किया? 'स' का। इस समाहृत वर्णद्वय को लेकर वरुण समन्वित हो गये सोम में। फलत: चन्द्रमस्, चन्द्रमा:। अच्छा क्या वरुण सोम समन्वित होकर ही परितृप्त हो गये? ना, वे सोमपा हुये (पूर्व वर्णित सूत्रों से इन सबका अध्यात्मिक अर्थ समझो।)। अब मानो सोम वरुण से कह रहे हैं "मेरे एक पूर्ण

उन्मीलन एवं पूर्ण निमीलन का मेरु (स्थल) है। उस पूर्णिमा एवं अमा मेरुद्वय में तुम मुझे परिपूर्ण 'मान' में पा सकोगे। अन्यत्र पाओगे कलारूप में।" वरुण कहते हैं 'वही हो'।

सोमपा वरुण ने पूर्णिमा एवं अमा से 'मा' का आहरण किया। फल है चन्द्रमा। किन्तु तब भी तो इसके उदय-विलय का क्रम रहेगा ही। अतः वरुण तथा सोम दोनों ने मिलकर यथोपयोग कलाक्रम की कल्पना किया। फलतः चन्द्रमस् से 'मास' (चान्द्रमास) तथा चन्द्रमा से तिथियाँ कल्पित हुई। इस प्रकार का जो कल्पन है उसे ही 'चन्द्र' जानो (चन्द्रमस्-चन्द्रमा नहीं)। पौराणिक कथाओं में प्रहेलिका के रूप से तत्वों का वर्णन किया गया है, किन्तु अध्यात्म दृष्टि के अनुसार इन सब प्रहेलिकाओं में भी आन्तर आलोक की रश्मि पहले ही कुछ-कुछ व्यक्त होने लगती है। प्रकारान्तर से दृष्टि भी चार प्रकार की है—तात्विकी, शाक्ती, छान्दसी एवं प्रापंचिकी। इन सब दृष्टियों से वर्त्तमान सूत्र कारिका निरूपित वरुण-सोम संघात को चन्द्रमाः इत्यादि रूप में तथा मास तिथि आदि रूप में अनुधावन करके अपने साधन में उनके परम उपयोग को साध लो।

मास तत्व में विशेषतः वेविषाण एवं अध्वनीनरूपेण सोम का रंजन एवं आत्मनीन रूप से समाश्रयण करो। 'मास' में विशेषतः ध्यान रखना जिससे उस वरेण्य का 'म' और भर्गस् का 'स' तुम्हारी अग्रगति को वेविषाण अध्व (Broadening-widening path of Light and Joy) से विक्षिप्त न करे (मा + अस् विक्षेप में)। जड़ क्षेत्र में orbital Motion इत्यादि स्थान पर eccentric angular momentum इत्यादि न होकर इसी मा + अस् आकृति को धारण कर लेता है। और तिथितत्व में देखो कि जिस 'तल' अथवा कलाक्रम में तुम चलते हो (ति) वह मानो उस रूप में a passing phase मात्र न हो जाये। उसे दृढ़ करो, आविष्ट करो, स्थिर करो (थि)। जो आ रहा है उसे मात्र fluid या केवल मात्र discursive करके रखने से वह निरन्तर होने वाले भग्न करने वाले 'भांगनविलास' द्वारा किस सत्य प्रतिष्ठापन की भित्ति को स्थापित कर सकेगा? अतएव ति + थि आकृति में अवहित हो जाओ। 'त' को जो स्थिर करे Consolidate करे, एवं बाद में अग्रजा हो जाये, वह है 'थि'। मानो 'थ' कहता है 'ऐसे डूबते मत जाओ, रुको'। स्थिर हो जाओ, शक्त हो जाओ, समृद्ध बनो और हो जाओ (सोम) अमृत के अभियान में अदीन-पराजयहीन। इस प्रकार गंभीर में जाकर मास-तिथि का विचार करते हुये तुम्हारे परम श्रेयः का मार्ग अध्वगी एवं आत्मन्वी हो!

दृष्टान्त-एकादशी

जैसे एकादशी तिथि। अब इस गायत्री व्याहरण-अनुस्मरण का दृष्टान्त लो। इस दृष्टान्त में सब कुछ का अन्त दृष्ट होता है। इस दृष्टान्त में क्रान्तदर्शी, कवि

हो जाओ। गायत्री के उदय प्रणव की चार मात्रा तथा व्याहृतित्रय की चार मात्रा = ८ मात्रायें होती हैं। 'तत्सवितुः' की २ मात्रा। यह हुआ दश। एकादश क्या है 'वरेण्यम्' का 'वरे'। वरण करता हूँ 'विवरिषु'। 'वरेण्यम्' विवरिषु भाव में ही एकादशी को प्राप्त करना होगा। यह है शुक्ला एकादशी। कृष्णा एकादशी प्राप्त होती है विलयप्रणव की दो मात्रा विन्दु मेरु के अभिमुखीन चलने पर। यहाँ पर नाद के उरु रूप को विशेषतः तनुरूपेण प्राप्त करना होगा। विन्दुलय में अणु। यदि पूर्वालोचना दृष्टि से 'वरेण्यम्' के 'णी·अम्' में पूर्णिमा को प्राप्त करना चाहो; उस स्थिति में समग्र शक्ति लेख को त्रिशत् मात्रा में करो। जैसे उदय = ६, व्याहृति-त्रय = ४। इस स्थिति में 'तत्सवितुः' पाद के सम्मुखीन हो रहे हैं एकादशी में; यह भावना करो। विन्दु मेरु की दो मात्रा; सब मिलाकर ३०।

मास-तिथि, राशि नक्षत्रादि का क्या इस प्रकार से मात्र प्रणव, गायत्री इत्यादि में ही व्यंजना एवं विनियोग प्राप्त करना होगा? नां, मात्र इस प्रकार से नहीं। अन्य व्यञ्जनायें भी हैं। तब भी जपादि साधना को स्वगत एवं आन्तर अनु-बन्ध में प्राप्त किये बिना, वे सब बाह्य विजातीय ही रह जाते हैं। मानो सब कुछ तो पर, अनात्मीय गोष्ठी में रहकर हमारे परवश परिवेश की रचना करते हैं, कभी साधक तो कभी बाधक! उनकी 'वाह्य' परितुष्टि करके (स्वस्त्ययन-ग्रहशान्ति आदि से) कब अपने सर्वतोभद्रस्ववश परिवेश को जीवन में प्राप्त कर सकूँगा? आत्मनिरत-आत्मन्वी होकर सब कुछ को आत्मवश्य-आत्मनीन किये बिना तो 'निहितमचलं निश्चितपदम्' नहीं मिलता। अतएव निखिल वाह्य को आन्तर उद्दी-पन आप्यायन में समाहृत करो एवं निखिल भवप्रत्यय की पूर्णाहुति 'आत्मप्रत्ययैक-सारम्' में प्रदान कर निश्चिन्त हो जाओ।

संख्यानिगड़

देखो कि गायत्री आदि जप के समय मात्रादि संख्यान में संख्याशंका में अटक न जाओ। प्राण ब्रह्म (वही हिरण्यगर्भा राजहंसी) स्वयं अकुण्ठ स्व छन्द की भंगिमा में पाद-मात्रा-कला विन्यास करते चल रहे हैं। तुम उन्हें संख्या-संख्यान में अवश्यमेव प्राप्त करो। किन्तु उनके स्व छन्दविलास विदग्ध चरणों में किसी निश्चिन्त संख्या की 'निगड़' बेड़ी मत पहनाओ। अर्थात् उदय·विलय एक बार ४-४ मात्रा हुआ, पुनः ६ या ८ मात्रा होने लगा; यह कैसी व्यवस्था है यह सोचकर अव्यवस्थित नहीं होना। व्याहरण की छान्दसी मात्रा के साथ संगीत की ताल मात्रागत तुलना करके समझ लेना अच्छा होगा। जैसे आठ मात्रा वाली किसी ताल को द्रुत-विलम्बित-मध्य सभी प्रकार से प्राप्त किया जाता है। सात मात्रा; दश मात्रा, बारह मात्रा इत्यादि करके छन्दः को बदलकर भी ले सकते हैं। प्रथमतः व्याहरण में विन्दु मेरु के स्थल पर दो मात्रा के काल में 'शयीथाः' अवश्य करना पड़ता है, किन्तु विन्दु-

लीनता जितनी ही गाढ़ होती जायेगी उतनी ही यह दो मात्रा बढ़ते हुये ४-६-८ इत्यादि हो सकती है। किन्तु व्याहरण का समग्र लेख किसी भी क्रम से कुलेख नहीं होता। वह सर्वदा 'सुलेखा' रहता है। unharmonic नहीं होता। सुलेखा होने पर क्या कुलेखा है, यह गायत्री के मुख्यतः चार संधिस्थल एवं छ पूर्ण शून्य स्थल सम्बन्धित 'सौम्य' भाव द्वारा निरूपित करो।

मकर संक्रान्ति, इत्यादि अध्यात्मिक रूप से

(इसके पूर्व का प्रसंग पृष्ठ ६९–७० पर है)

अब ओंकार रूपी सीता तथा स्वरूप शक्ति आकृति रूपा सीता मिलन में प्राप्त हुईं। पुनःश्च त्रिवेणी में पुर्णकुंभ स्नान का इस प्रकार से समापन करके इष्ट के जपध्यान में प्रवृत्त हो जाओ—

त्रिवेणीं मकरे गच्छेत् पौर्णमास्याञ्च मुण्डयेत्।
अमायाम्भेसि स्नायाद् विन्दते विन्दुमाधवम् ॥९१॥

मकर में त्रिवेणी जाओ। पौर्णमासी को मुण्डन कराओ। अमावस्या को संगम स्नान करो। इन तीन कर्मों से क्या मिलता है ? विन्दुमाधव !

मकरयोग में वाक् प्राण-चित्त इन तीनों को समझ लो। इन तीनों में शुक्ला गति (अर्चिरादि की) का उपक्रम होने पर होता है मकर संक्रमण। जैसे श्वास दक्षिण नासिका से वाम (चन्द्र नाड़ी) में जा रहा है। यदि दक्षिण से वाम में श्वास जा रहा है, तब 'वामेन-दाक्षिण्यं' एवं उस प्रकार वाम श्वास नाड़ी में संक्रमण होने पर 'मकर' का तुम्हारे अभीष्ट अध्व में वायु संक्रमण होने पर यह मकरयोग प्राप्त हुआ। यह समझो। सुषुम्णावर्त्म में हृदय-भ्रूमध्यादि अभीप्सित स्थल में यह योग प्राप्त होता है A Decisive switch over a pointed re-orientation. वाह्य-प्रकृति के ही समान अन्तःप्रकृति में किसी अभिनव उन्मेष-विकास आदि के लिये इस मकरयोग की प्रतीक्षा करो। पतन-ध्वंस आदि स्थल में भी व्यतीपात योग आदि हैं। इन सब स्थान पर सतर्क रहना चाहिये। समष्टि एवं व्यष्टि जीवन में शरीर की व्याधि और मन की आधि विशेषतः लक्षणीय है। वाक् के दृष्टिकोण से भी 'मकर' की उपेक्षा नहीं करना चाहिये।

जैसे वैखरी जप आदि किसी स्थल पर अथवा स्थिति में मध्यमा में आ जाता है, अब जप स्वतः स्फूर्त नाद धारा में आ जाता है। पक्षान्तर से दूसरी ओर व्यतिपातादि भी है। जैसे अउम। 'म' में अन्तिम स्पर्श (By jerk) रुक जा रहा है। किन्तु यदि 'म' स्वयं को शेष न होने देकर स्वयं को नाद-विन्दु-कला रूपी त्रिवेणी में गुणित (evolve-work out) कर दे रहा है, तब है म+क

(त्रिगुण) = मकर। ब्रह्म कमण्डलु से 'कलिता' सुरसरि हरजटा जाल में विन्दु में विन्दुलीना तथा नादवाहिनी होकर 'मकरासना' मकर पर आसीना जो है। इसका विचार करो। 'म' से (ओम्, राम, ह्रीम् इत्यादि में स्थित 'म' से) कहो—'तुम शेष नहीं होना'। स्वयं को गुणित करो (क्र के गुण में 'कर') चित्त को भी ध्यानालोक भावरस द्वारा क्षिप्त, विक्षिप्तादि वृत्तियों से हटाते हुये 'संयम' में ले जाना होगा। यही है मकर आकृति। जहां कह रहा है 'यह शेष है' वहां 'क' अभिनव व्यंजन मुख प्रकट कर रहा है। 'ऋ' उसे ऊर्ध्व या मूर्धन्य संवेग दे रहा है ऊपर उठो। इस प्रकार ऋ गुणित होकर कह रहा है 'और भी ऊपर उठो, जब तक मूर्धन्यधाम अधिगत न हो जाये।' मकरयोग से शुक्ला, उर्ध्वगा 'माधी' आकृति को अवश्य प्राप्त करोगे।

विन्दुमाधव

मकर का 'क्र' (अभिनव ऊर्ध्वगा शुक्ला अभिव्यक्ति) यदि यथाक्रम से गुणित होता रहे तो वह प्रथमतः पौर्णमासी और अन्त में 'अमा' है। इन दोनों का पहले वर्णन किया जा चुका है जैसे गायत्री दृष्टान्त में एक बीज का वर्णन। जब बीज अंकुरायित होता है, तभी है मकरयोग (जैसे उदय प्रणव में)। जब वह पौधे के रूप में पुष्पित हुआ तब है उसकी पौर्णमासी। पुनः फल एवं बीजरूपता है उसकी 'अमा'। इस परिणति चक्र की भावना करो। मकर आदि एक बार नहीं, पुनः पुनः आते हैं। जैसे शिशिर के अन्त में वसन्तानिल द्वारा पादपों में मुकुलोद्गम में पुनः 'मकर'। परन्तु इस परिणति चक्र का परमविराम कहाँ है ? तभी कारिका के अन्त में कहा गया 'विन्दते विन्दुमाधवम्'। बारम्बार विन्दु स्पर्श अथवा विन्दु विश्राम और साक्षात् विन्दुमाधव समाश्रय। यह दो भेद हैं। विन्दुमाधव समाश्रय में तुम्हारे द्वारा आचरित जपचक्र लीन हो जाता है विन्दुमाधव के सुदर्शन में। सुदर्शन का दर्शन पाने के लिये इन तीनों योगों में पूर्णकुंभ में निष्णात हो जाओ। माधव शब्द में मा+धव रूपी विभाजन द्वारा 'जो कभी त्याग न करे' (धू) यह अर्थ आता है। 'मा' निषेधे। अथवा मा = हमें, जो 'धव' (स्वामी) होकर ग्रहण कर लेते हैं। अनार्थ या अनाथा नहीं रखते।

वर्ण रसायन एवं रूप रसायन

अच्छा, मकर-माधव इत्यादि शब्दों द्वारा 'प्राणरसायण' प्रभृति व्याकरण अभिधान के प्रकरणों का इतःस्ततः यत्किंचित् वर्णन करने से कैसे काम बनेगा ? इस अव्याप्ति का उत्तर आगे दिया गया है। प्राण की गति, भाव की गति तथा वाक् की गति, इन तीनों को समर्थ संगम में प्राप्त करने के लिये ही शब्द है। साधारण व्याकरण विधि एवं कोष का लक्ष्य गन्तव्य इतनी दूरी तक नहीं है कि उससे इस

समर्थ संगम को तत्वतः प्राप्त किया जा सके। विज्ञान में आभिधानिक भाषा की तो अप्रतुलता नहीं है, फिर भी रहस्य परिभाषा, नाम, फारमूला क्यों हैं ? साधारण नमक को नमक न कहकर Nacl क्यों कहा गया ? जो प्राण-भाव-वाक् को परिपूर्ण समर्थ व्यंजना में लाये, वह है शब्द का यथार्थ 'वर्णरसायन'। वेदतन्त्रादि समस्त रहस्य विज्ञानों में इस प्रकार का रसायन तत्वतः एवं कार्यतः अंगीकृत एवं अनुसृत है। ॐ, ह्रीं इत्यादि क्या किसी साधारण व्याकरण विधि में आते हैं ? जैसा वर्ण के बारे में है, वैसा ही है रूप आदि के सम्बन्ध में। रुपादि को भी समर्थ संगम में निष्णात होने देने पर वे साधारण संकेत (Symbol Sign) नहीं रह जाते। वे हो जाते हैं प्रतीक-विग्रह-यन्त्र। संगीत में ताल-सुर एवं भावरस समर्थ संगम में कैसे प्राप्त होते हैं ? आलाप में। आलाप में ताल आदि पृथक् नहीं रह जाते। अथच, शुद्ध आलाप में ही राग यथार्थतः रूपायित है। जैसे गायत्री आदि में है, उसी प्रकार से आलाप में भी स्वरब्रह्म रूप ओंकार को नाद-विन्दु-कला रूपी त्रिवेणी में युक्त एवं मुक्त करके प्रदर्शित करना पड़ता है।

जो नाद विन्दु का कलयन मुमुचान और मुक्त, युंजान एवं युक्त रूपी चतुः-पाद में करता है, नित्य युक्त नाद विन्दु (सामरस्य) को परस्पर मुमुचान अथच परस्परतः युंजान मिथुन रूप से छन्द-स्वर तथा भाव-रस में लीलायित करता है, उसे कहते हैं 'कला'। ध्रुपद संगीत में आस्थायी प्रभृति चतुःपाद में यह मुमुचान, मुक्त, युंजान, युक्त रूपी चतुःपाद उदाहृत होना आवश्यक है। व्याहरण में भी इन चारो को प्राप्त करो। जैसे गायत्री व्याहरण की यदि मृदंग वादन के साथ तुलना की जाये, तब वरेण्यम्' स्थल में मृदंग के "दक्षिण" में पूर्ण मुक्त आघात, और 'प्रचोद-यात्' की जगह मृदंग के 'वाम' में पूर्ण युक्त आघात देना होगा। इस आघात के कारण विलय ओंकार गम्भीर स्पन्दन में अन्तर्मुख तथा सूक्ष्म होते-होते विन्दु में लीन अथवा विन्दु से युक्त हो जाता है। वीणा के आलापन में भी नाद-विन्दु-कला को इन चार भाग (मुमुचानादि) में दिखलाने से आलापन तो पूर्ण एवं समर्थ हो जाता हैं। बीच-बीच में 'आ' 'ई' 'ऋ' इत्यादि एक-एक दीर्घ स्वर को ऐसे एक सुषम रणणी (In Harmonic resonance) स्पन्दवितान में लाना पड़ता है, जिसमें मुमुचान-युंजान रूपी दो कलायें सहयोग में (In unison) चलती हैं। 'ई' प्रभृति दीर्घस्वरो के इस प्रकार के सहयोगी स्पन्द वितान को कहो सेतु। नादविन्दु का सेतु।

मूल मातृका

'मार्ग' संगीत की साधना एवं सिद्धि के साथ गायत्री साधना तथा सिद्धि का साजात्य है (साजात्य Close Affimity)। दोनों का ही मातृका आकृति (Mo-

ther Pattern or Matrix) है ॐ । समग्र निसर्ग अपने उदय, स्थिति, विचित्र उन्मेष एवं विलय में इस मातृका आकृति में आहित (Laid-as differentiated and integrated) रहता है । प्रणव ही सब कुछ को (पादमात्रा आदि में) विन्दु अणिमा एवं नाद महिमा में आकलित-सम्बलित करते हुये विद्यमान रहता है । अतः ओंकार साधन ही मूल तथा परम साधन है । ओंकाररूपा वाक् 'साम्ना' उद्गीथ होकर रहता है । जैसे संगीत में किसी राग की जो शुद्ध आकृति है, वह आलाप में आतता एवं उर्जिता होती है । शुद्ध आकृति के 'व्यत्यय' (पूर्वोक्त पंच अपन्हव) में ऐसा नहीं होता । ओंकार की जो स्वतःसिद्ध तथा स्वतः शुद्ध परमाकृति है उसमें अपूर्व अध्वगत्व, छन्दोगत्व एवं धामगत्व विद्यमान रहता है । वह परमाकृति आदि-मध्य-अन्त-सर्वत्रग होने के कारण अतुलनीय है । इस अतुलनीय 'स्वे महिम्नि' से च्युति (अपन्हव) उद्गीथ में ही नहीं, रागालाप में भी वारण करने योग्य है । उद्गीथ कदापि उद्गीत मात्र ही नहीं होगा, आलाप भी कदापि नित्य स्फोट स्वरूप से अपलोप स्थिति में पतित नहीं होगा (यदि च्युति न हो तब) ।

चार रसायन

यहां राग आलाप को स्वर में तथा रेखा में (स्वर लिपि में) जिस प्रकार से दिखलाया गया है, उसी प्रकार मौलिक ओंकार प्रभृति में भी दिखलाया जा सकता है । इससे ही प्राण रसायन का उद्भव है । प्राणः' शब्द को मुख्य अर्थ में (एतस्मा ज्जायेत प्राणः) लेने पर प्राण रसायन चतुर्विध है—वर्ण रसायन, रूप रसायन, छन्दो रसायन एवं भाव रसायन । इनको कुछ तो विवेचित किया गया; और विवेचना अन्यत्र की जायेगी । प्रथमतः है Basic Sound element picture. जैसे पूर्वोक्त मकर इत्यादि । तदनन्तर Basic graph (इसके लिये उपयुक्त Coordinates का विचार कर लेना होगा) । जैसे गायत्री लेख आदि । यह है द्वितीय । तृतीय Representation of relevant Basic Harmony Function. जैसे सुषम उर्मिगुच्छ आदि । चतुर्थ है मूल व्यंजनाकृति (रहस्य या उपनिषद्) Basic Significance picture- जैसे उदयादि में मूल सम्बन्धी भाव गति, परिणति । गायत्री की छः कलायें है, उनमें से एक-एक में कौन निगूढ़ भाव स्वतः अभिव्यक्त हो रहा है ? कल्पित-जल्पित भाव से दबे रहने पर यह स्फुरित नहीं होगा । उपरोक्त चारों के अतिरिक्त सोमरसायन नामक एक और भी है । पंच 'वातिक ग्रस्त' इससे मिल जाते हैं पंच रसायन में । व्यंजना द्विविध है भामती एवं मधुमती । तात्पर्य यह है कि भाव की महिमा प्रकट हो जाने पर आस्वाद में कितना माधुर्य मिलेगा, इन्हें विचार कर देखो ।

भामती-मधुमती

भामती एवं मधुमती रूपी द्विविध व्यंजनायें और भी सुन्दर एवं सत्य होकर फलित हों, इसके लिये चन्द्रमाः हमारे व्यावहारिक पंच रसायनों को पंच अपन्हव से मुक्त करें।

भामत्यै चन्द्रमा भातु मधुमत्यै च चन्द्रमा।
भाले च हृदये मुञ्च मृषाऽन्धशुष्क कल्पनम् ॥९२॥

व्यंजना में जो भामती छटा है, उसके लिये 'चन्द्रमाः' भाल में अपनी भाति को समुज्वल रक्खें। स्वच्छउज्वल रक्खें! और मधुमति- रससन्दोहरूपा जो आस्वादनी वृत्ति है, उसके लिये हृदय में अपनी विमल कौमुदी माधुरी का विकिरण करें। एक ओर है अन्ध मूढ़ कल्पना, दूसरी ओर है शुष्क वितर्क-मरुमरीचिका तुल्या कल्पना। इन दोनों के ही मृषा मिथ्या ज्ञान से मुक्त करो।

पूर्वोक्त पंच रसायन में प्रवृत्त होकर तुम्हारी रसशाला में द्विविधा मिथ्या कल्पना प्रवेश न कर सकें। मृषा कल्पना विसम्वादिनी है, सत्य का संवाद नहीं देती। वह विसम्बाद का पोषण करती है। जो सत्यसंवादिनी कल्पना है, वह योग-माया की सहचरी है। कर्मयोग ज्ञानयोग में भी। तत्व विज्ञान तथा प्रयोग विज्ञान क्या कल्पना के बिना चल सकते हैं? किन्तु भामती एवं मधुमती (जैसे गायत्री, मधुमती ऋक्) के आनुगत्य में तथा परिचर्चा में कल्पना नियुक्त रहे।

भाल, हृदय प्रभृति की व्यंजना

भाल तथा हृदय को मात्र स्थानिक (Local Regional) मत समझो (अर्थात् इन्हें शरीरस्थ स्थान ही मत समझो) भाः + ल आकृति का परीक्षण करो। भाः = भाति = ज्योति। ल = लीन होने का स्थल। लीन अर्थात् लोप होना नहीं (जैसे विन्दुलीन)। ल = केन्द्र स्थित होना, घनीभूत होना। अथवा ल = पृथ्वी-तत्व। जो सुषुम्ना वर्त्म की उर्ध्व सन्धि में या मेरु (भाल) में रहकर अधस्तन पृथ्वी तत्व का आपूरण अपनी रश्मि द्वारा करता है वही है, भाल। यहाँ है गुरु-ग्राम! जब सुषुम्ना जप आदि क्रिया के फलस्वरूप शक्त्याहित (Charged) होती है, तब उस Charge को ज्योति (प्रकाश आदि) में समृद्ध करता है भाल। वाणी या वाक् को समृद्ध करता है विशुद्ध (चक्र)। रस को समृद्ध करता है हृदय। तेजः को समृद्ध करती है नाभि। सावलीलता समृद्ध करता हैं सर्वाधिष्ठान। साधिष्ठ स्थापित करती है पृथ्वी। साधिष्ठ स्थापना 'लं' या पृथ्वी तत्व में अवश्य होगी, किन्तु सुषुम्ना उन्मेष के उपक्रम में 'मूल' जो 'भू' है, वह परिलक्षित होता है 'भूकम्पन' आकार में। A sudden Surcharge of 'Released' energy. ऊपर वर्णित केन्द्र समूह की अध्यक्षता विशेषतः आवश्यक होती है। भाल एवं हृदय की अध्यक्षता सबसे

अधिक आवश्यक होती है । यह भूकम्पन स्वाधिष्ठान शक्ति से सावलील होकर पहले कृच्छ (Spasmodic) रूप छोड़ देता है । वह नाभि में अर-नेमि के साथ केन्द्रस्थ हो जाता है । किन्तु ऊपर से प्राण-वाक् एवं धी रूपी त्रितय (अर्थात् हृदय-कण्ठ तथा भाल) का परिभावन, परिभाषण एवं पर्यवेक्षण न मिलने पर नाभि स्थित तेजः शक्ति का रस, स्वर एवं ज्योतिः आकार में उद्वर्त्तन (Sublimation) घटित नहीं होता । सुषुम्ना में जो Charging है, उसकी ४ प्रकार से भावना करो ।

सुषुम्ना में Charging

Top charge, Bottom charge, central coarge, Peripharal Charge. अंतिम चार्ज में कोई केन्द्र अभी भी सजाग-सक्रिय नहीं हुआ है, मात्र किसी किसी स्थल पर कभी-कभी कम्पन आदि का अनुभव हो रहा है । इनके अतिरिक्त एक और 'असाधारण' शक्ति पातन या जागृति है । उसे कहते हैं Super charging. इसमें समग्र सुषुम्ना उद्‌बुद्ध उच्छ्‌सित हो जाती है । इसका उपक्रम मूलाधार में अथवा द्विदल में अथवा दोनों में युगपत् हो सकता है । जप में उदय विलय में विशेषतः उक्त उपक्रम को प्राप्त करना होता है । शंखावृत्ति की आकृति में लेने पर उदय में विन्दु (Basic point of the spiral Axis) से शंखावृत्त गति प्रारम्भ होकर वह दक्षिण से वाम क्रम से उपर की ओर आतत (Expanded) एवं उर्जित (uplifted) होती चलती है । यदि ऐसी किसी भूमि की भावना की जाये जहाँ जाकर गति अक्ष (axis of movement की) द्राघिमा सर्वाधिक है और उसके साथ गति की आतति Extensivity भी सर्वाधिक है, तब वह भूमि ही है पूर्णोदय या गरिष्ठोदय (Maximum manifestation) की भूमि । उदय वहां पर्यन्त चलकर 'मेरु' को प्राप्त होगा । तब होती है विलय की बारी । वह बारी प्रारम्भ होकर उर्जित एवं आतत शंखावृत्त है (Spairal as fully evolved and manifested) । वह क्रमशः वैपरीत्यता (in the opposite 'sence') अक्ष की द्राघिमा एवं व्याप्ति की आतति को ह्रस्व करते-करते सम्पुटित होकर (as enfolded, in volved) विन्दु मे ही प्रत्यावृत हो जाती है । ये दोनों ओंकार के दो रूप हैं । समष्टि एवं व्यष्टि, सब कुछ उदय-विलय ओंकार के इन दो रूपों को ही लेकर चल रहे हैं ।

यहो ही रहा है विश्व सृष्टि एवं प्रलय में । अतएव जो उद्भव परममूल से हैं, उसको परममूल में समावृत्त होने देने के लिये प्रणव की शुद्ध आकृति का समाश्रय लेना चाहिये । करने से क्या होता है ? भुवन या संसृति की गति का जो संवेग (momentum) है, उसे काटते हुये सहज एवं त्वरित रूप से परममूल को प्राप्त किया जा सकता है । जैसे कोई equation या system of equations किसी-

किसी Family of curves का निरूपक है। यहाँ उक्त Equation के Terms को यदि किसी 'शुद्ध' Value को प्राप्त कराया जाये, तब Curves आदि भी साथ ही साथ सुषम-सुगम हो जाते हैं। उदय-विलय क्रम में ओंकार साधना करके संसृति चक्र के नियामक Equation को यथार्थ शुद्धि साम्य में लाना ही यथार्थ साधना है। फलस्वरूप अवांछित जटिल कुटिल eccentricities का परिहार हो जाता है। प्रत्येक Curve को कहा जाता है—यह तुम्हारी शुद्ध सुषम सरल आकृति है। तुम इसी में रहो, च्युत न हो जाओ। च्युत होने से स्वभाव में लौटना सहज नहीं है !

'केन्द्रीण' होना-विन्दु धारणम्

यदि समष्टि-व्यष्टि, अणुमहान् निखिल विश्व इसी प्रकार से ओंकार से समुद्भूत है, समाश्रित एवं समाहृत होकर विद्यमान है, तब वह मूल मातृकाकृति (प्राण ब्रह्मरूपी वाक्) हमारे प्रत्यय में सदा प्रकट एवं शुद्ध प्रकट क्यों नहीं हैं ? जो ओंकार रूप में परावाक् है, वह पश्यन्ति तथा मध्यमारूपी दुस्तर व्यवधान बीच में रखते हुये हमारे इस वैखरीकण्ठ एवं कर्ण में इस प्रकार कुण्ठितादि आकृति में कैसे आ रही हैं ? जो परा में निरतिशय है, जो पश्यन्ति में शुद्ध समर्थ है, मध्यमा मे नित्य स्फोट रूपेण होने पर भी अव्यक्त है, वह वैखरी कण्ठ में इतना कुण्ठाकृपण क्यों हो जाती है ? और उस कुण्ठादि को कैसे काटा जाये ?

जैसे हमारे ये नेत्र। आलोक रश्मि के इस रेटिना पर पड़ने से रूप वर्ण आदि का प्रत्यय होता है। किन्तु दृष्टियन्त्र में कहीं रश्मि समूह के केन्द्रीण (focussed) होने का उपयोग भी होना चाहिये। नहीं तो अव्यवस्थित रूप से फैले (Irregularly Scattered) स्पन्द 'Chaos' की सृष्टि करते हैं, वे कोई विस्पष्ट रूप ज्ञान नहीं देते। ताड़ितादि अन्य-अन्य स्पन्दों के भी सन्दर्भ में यही है। शब्द में भी यही ! प्राण चित्तादि स्पन्दों में इस केन्द्रीणता को आना चाहिये। अन्यथा वर्षा के समय सागर के वक्ष पर उन्मत्त उर्मि संघात के समान अव्यवस्था आ जायेगी। अणु-विराट विश्व में! अन्तर में भी विक्षुब्ध सागर की मत्त कल्लोल ही अधिक श्रुतिगोचर होती है ! तभी केन्द्रीणता विन्दु में प्रायशः अवस्थान नहीं होता। परम केन्द्रीणता का स्थान है ओंकार का वही विन्दु। The Metaphysical Perfect point. प्रणवादि जप में सर्वत्र, सभी अवस्थाओं में इसी परम केन्द्रीण स्थान (The point of perfect focussing) को प्राप्त करने के लिये 'विन्दुधारण' का अभ्यास करो।

यथा रूपे तथा शब्दे स्पन्दे केन्द्रीणतां गते।
अव्याजविघ्नसंस्थानमथातो विन्दुधारणम् ॥९३॥

केन्द्रीण संस्थान होने पर स्पन्द का व्याज (वैरूप्य) एवं विघ्न (वैगुण्य) नहीं होता। उस स्थिति में उन्मत्त-उर्मि महाकल्लोल है—ओम्। (जैसे सिन्धौविन्दु-दशक में)। अतएव उदय विलय क्रम में विन्दुधारण में यत्नपूर्वक प्रवृत्त हो जाओ। Chaos of discoardance को Music of Celestial Spheres में लाने में एकमात्र विन्दु ही समर्थ है। अध्यात्म क्षेत्र में भी विचार करो। विन्दु के अतिरिक्त और कौन रेणु-अटन-रटन-रणन को 'रेणुरमण' कर सकेगा ! तभी देवता ने भाल पर शशिकला रूपी विन्दुधारण किया है।

ओंकार तथा रामनाम

किन्तु इस प्रकार शुद्ध समर्थ भाव से ओंकार साधन करना तो महावीरों की साधना है। महावीर हैं वायुनन्दन हनुमान। ॐ है वायुदैवत्। अतः प्रणव के 'उ' का आश्रय लेकर विन्दु मेरु में जो उदय विलय साधन है उसे शुद्ध समर्थ आकृति में लाने के लिये जिस आदर्श का उपयोग होता है वह वायुनन्दन हनुमान में ही है। वे 'उ' को लेकर समुद्र उल्लंघन में समर्थ हैं। समुद्र है उदयमेरु से लेकर विलय मेरु पर्यन्त विस्तृत। अधम-मध्यम आदि स्थिति के साधारण साधकों के उत्तरण के लिये क्या चाहिये ? सेतुबन्धन। यह भी श्रीमद्हनुमान गुरुरूप से प्रकट होकर कानों में राम नाम सुना कर कर रहे हैं। किस प्रकार से ? अउम के 'उ' को 'आ' करके। (राम के 'आ' रूप से) 'उ' है अर्जित रूप। 'आ' है आतत रूप। 'उ' से सागर तथा गिरि लंघन। और 'आ' उत्तुंग गिरिशिखर अथवा दुस्तर सागर को तुम्हारी साध्यसाधना के 'तल' में ही आतत करके रख लेता है। तभी 'पंगुं लंघयते गिरिम्'। यह ओंकार साधन का विकल्प नहीं है। राम नाम तो ओंकार साधना का अनुकल्प है। 'अनु' सुनकर निष्ठा मत हार जाना। मधु के अभाव में यह गुड़ की बात नहीं है। यदि शुद्ध मधु सहन नहीं होता, तब मधु को लो 'मधुर' करके। अ उ म यदि हो जाता है र+आ+म, तब तुम्हारे हमारे लिये क्या होता है ? सेतु बन्धन आदि होने पर सीता मां का उद्धार होता हैं। इन श्लोकद्वय की भावना करो—

अरण्येमथित ह्याग्नि रक्षोभ्यो रक्षति स्वरात्।
मारुतेर्रजितं मार्गमातस्तनोति सेतुना ॥ ९४ ॥
अन्तकस्य स्पृशे राति सोमार्द्धधारिणो मुखात्।
लोकाभिराम ओंकारस्तारको रामनामतः ॥ ९५ ॥

अ तथा र

यद्यपि ओंकार का आदि वर्ण अग्नि है, किन्तु अरणिद्वय से आहित अग्नि की तरह वह अव्यक्त (unmanifiest) है। वाक् का दैवत है अग्नि। वाक् मे आदि

एवं सर्वव्यंजनाश्रय जो 'आ' है उसमें अग्नि अवश्यमेव अधिष्ठित है। अरणि द्वय का मन्थन करने पर वह अग्नि को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार आन्तर याग में भी अरणिद्वय की भावना उपयुक्त रूप से करो। जैसे 'आत्मानमरणि कृत्वा'। मंथन से उत्पन्न अग्नि विशेषत: 'र' वर्ण द्वारा प्राणन् में व्यक्त है। अर्थात् मथन द्वारा 'अ' हो गया 'र'। अब उसमें बाह्य किंवा जप ध्यानादि आन्तर योग होगा। किन्तु बाधा अन्तराय की सृष्टि करते है राक्षस (रक्षस् से जात)। इन राक्षसों से कौन रक्षा करता है? राम अपने आदि वर्ण 'र' द्वारा (स्वरात्] रक्षा करते हैं। प्रणव का 'अ' मंथन द्वारा 'र' अवश्य हो गया, किन्तु उस 'र' की राक्षसों से रक्षा होती है राम नाम के 'र' कार द्वारा। यही है प्रणव के 'अ कार' का राम नाम के 'र' के रूप रक्षा रसायन।

मारुति मार्ग

तदनन्तर 'उ'। यह ओंकार के मध्य में रहकर वायुकुमार मारुति द्वारा उर्जित मार्ग (व्योम) का निर्देश कर रहा है। मारुतिनन्दन सागर का उल्लंघन करते हुये इसी उर्जित मार्ग का प्रदर्शन कर रहे हैं। यह है महावीर साधन। प्रणवादि जप में 'उ' को समर्थ शुद्ध उर्जित रूप में प्रस्फुटित करके उत्तीर्ण करना मानो गौरीशंकर शिखर को पार करने के समान है। जो पंगु है उसके लिये क्या उपाय है? अत: 'उ' को 'आ' करके साधन के व्याप्ति वितान को साधित करना होगा। 'उ' तथा 'आ' स्वर का उच्चारण करके इस सुगमता साधन का परीक्षण करो। साथ ही 'इ' 'ऋ' स्वर का परीक्षण प्राणन आकृति में करो। 'उ' तथा 'इ' (या ई) में से 'उ' में वेधमुख्यता है और 'इ' में है लम्बमुख्यता। Vertically उठाते अथवा नीचे लाने में 'इ'; और Parabola इत्यादि Curve आकृति में 'उ'। तभी wave pattern मे 'उ' मुख्यता है। इनकी तुलना में 'आ' है planar function अथच वह सुगम वितान में सीमा तक ले जा सकता है, यदि ब्रह्म आनिराकृत रहे, यदि ब्रह्मकृपा अथवा ब्रह्ममयी की दया उनके 'आ' द्वारा हमारे प्राण के आकरण का आपूरण आदि करे। इस लिये 'आ' स्वर साधन में अनिराकृत इष्ट ब्रह्म में समर्पण योग को रखना चाहिये। यह भाव रहे कि प्राण के कर्त्ता तुम पार करो। यह होने पर दुस्तर सागर को पार करने का, उत्तरण का जो मार्ग है, मारुतिमार्ग है, वह हो जाता है सुगम सेतु। केवल अगणित वानर सेना ही नहीं, प्रत्युत् तुच्छ जीवजन्तु भी इस सेतु का आश्रय लेकर पार चले जाने से वंचित नहीं रहते।

अन्तक का अंतिम स्पर्श

अन्त में है 'म' रूपी अन्तिम स्पर्श वर्ण। यह अन्तिम स्पर्श तो अन्तक (यम) के स्पर्श की कथा कह रहा है। किन्तु अन्तक का भी जो अंतिम स्पर्श है उसकी

कथा ? प्रणव के 'म' में सोम है। नादविन्दुकला अर्थात् सोमार्द्ध (सोम की नाद कला तथा विन्दुकला में ऋध्यमान मात्रा) को भाल पर धारण करके त्र्यम्ब्रक हो गये महामृत्युंजय। जो मृत्यु से मुक्त करते हैं और अमृत से युक्त करते हैं। काशीधाम में सोमार्द्धधारा (शिव) के मुख से तारकब्रह्म 'राम' का नाम सुनकर अन्तक के स्पर्श का अन्त हो जाता है। तुममे भी नित्यकाशीधाम विद्यमान है। कहा है, विशेष-विशेष अनुबन्ध द्वारा चिन्तन करो। जैसे 'हंस' योग में 'ह' एवं 'स' यह दोनों वरुणा असि, नाद या ओकार रूपा गंगा में जहाँ मिल रहे हैं और नादगंगा भी प्रवाहिता होकर जहाँ विन्दु की ओर अभिमुखीन होकर उत्तर वाहिनी हो रही हैं, वह है काशी।

यदि नाद केवल बहता ही रहे, तब उसकी है दक्षिणागति। यदि वह जिस विन्दु से उदित है, उसकी ही ओर वापस लौटने लगे, तब उसकी गति है उत्तरागति। जैसे एक Curve. जिस Point of origin से उद्भव होता है, उसे छोड़ कर यदि चलता ही रहे, तब इस परिभाषा के अनुसार उसकी गति है दक्षिणा। किन्तु अपने Origin की ओर लौटने से है 'उत्तरा'। इसी प्रकार पुनः 'तत्वमसि' इत्यादि द्वारा काशीधाम का संधान करो। 'त्वं' तथा 'असि' को यदि वरुणा एवं असि कहो तब 'तत्' रूप परम में जो साधिष्ठा लक्षणा है, वही है उत्तरवाहिनी गंगा। लक्षणा (तत्वमस्यादिलक्ष्यम्) अन्यमुखीन होने से ऐसा नहीं होगा। इसी प्रकार विभिन्न प्रसंगों से काशीधाम की भावना स्वयं में करो। जपध्यान में 'राम-राम', ॐ राम, जयराम श्रीराम जय-जय राम इत्यादि मंत्रों से काशीश्वर सोमार्द्धधारी शिव स्वयं प्रकट होकर इस मंत्र को तारकब्रह्म नाम रूप से तुम्हें सुनायें। उस श्रवण से क्या होगा ? "शमन दमन रावण राजा, रावण दमन राम। शयन भवन नाहय गमन, जो लय रामेर नाम"। अन्तक का स्पर्श अंतिम वर्ण 'म' भी 'राम नाम' में साक्षात् अमृत स्पर्श बन जाता है। इस प्रकार महावीर साधन (रूपी ओंकार साधन) राम नाम रूप से 'लोकाभिराम' हो रहा है। अर्थात् सभी लोकों में, सभी अवस्थाओ मे अतीव अभिराम परम रसायन 'लोकभिरामं श्रीरामं भूयो-भूयो नमाम्यहम्'।

'अ' रूपेते अग्नि अरणीते,
योग तरे 'र' रूपेते करिले मन्थन।
ब्राह्मसेते आसे याग कलुषिते,
'र' कारेर ब्रह्मशरे करिले वारण॥
उच्छ्वसित ए भीषण पारावार,
महावीर 'उ' कारते करे उल्लंघन।
व्योममार्गं मारुतीर ऊरजित,
('आ' कारेते) आतत सुगम करे सेतूर बंधन॥

अन्तकेर निज अन्तिम परश,
त्रियम्बक मुखे 'म' ए कर दान।
लोक अभिराम करिले ओंकार,
सर्व प्राण रसायन 'राम राम' नाम ॥

'राम' नाम

यह भी लक्ष्य रखना होगा कि 'राम' नाम में आलोच्य चन्द्रमाः एवं चन्द्रमा रूपी तत्वद्वय किस प्रकार से निषेवननिरत रहते हैं। 'र' रूप में जातवेदाः एवं रक्षोघ्न अग्नि की परिचर्या का जो परमतत्व है (इस उद्देश्य से ॐ रामः मन्त्र विशेषतः आश्रयणीय है) तथा मृत्यु के पार स्थित जो अमृत है, उसमें निष्णात होने के लिये (अर्थात् रेणुरमण लोकाभिराम रूप में स्थित होने के लिये) है चन्द्रमा। 'नमो रामाय रामचन्द्राय'। इस उद्देश्य से 'सीताराम' तथा 'सीयाराम' इन मन्त्र-द्वय को लो। इस प्रसंग में मन्त्र, न्यास, गायत्री, कवच आवश्यक है। ये सब हैं महानाम के ही अपने आकलन। कल्पित आरोपित परिहरणीय मत मान बैठना। कूर्म के समान नाम या बीज ही इन सब 'अंगों' का स्वयं से ही 'आकलन' करते हैं। अनुबन्ध के उपसंहार में अपने से ही पुनः 'संकलन' या संग्रह करते हैं। उप-हार के पहले संहार नहीं होता। जैसे 'ऊँकार'। ब्रह्म की आदिमा वाक् (परा)। ब्रह्म स्वयं ही इसके ऋषि हैं। अग्नि रूप से इसके देवता हैं। गायत्रीरूप से छन्द एवं कर्मरूप से विनियोग भी वे स्वयं ही हैं। ब्रह्म इस चतुष्टय का स्वयं ही आकलन करते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त और है कौन जो यह करेगा ?

सीताराम

प्रसंगतः 'सीताराम' तथा 'सीयाराम' ये नाम तृतीय खण्ड में कथंचित अव-लोकित हुये हैं। 'त' तथा 'या' इन वर्णों पर ध्यान दो। 'त' में सेतु अवश्य है किन्तु 'य' में भक्तावतार महावीर ('यं' अथवा वायुबीज) साक्षात् सहायक हो रहे हैं जीव को भव समुद्र पार कराने हेतु ! पुनश्च 'सीयाराम' इस नाम में 'सीताराम' हृदय में ('य' के स्थान में क्योंकि अनाहत चक्र ही वायु 'य' का स्थान है) जा बैठे हैं (जिनके हृदय में राम बसे)। और सीताराम नाम में अयोनिसंभवा सीता पृथ्वी पुत्री के रूप में आविर्भूत होकर लीला के अन्त में पुनः पाताल में प्रवेश करती हैं। किन्तु 'य' में वे है उदय विलय रहिता चिरपूर्णा बिन्दुरूपा। अतः विन्दु-लीनता का जो साधन है, उसके लिये 'सीयाराम' नाम का अपूर्व उपयोग है। जप कर देखो। प्रणव की आकृति इसमें पूर्णतः अनिराकृत अवारित है। इस प्रकार से अन्य अन्य भाव में भी 'भाव रसायन' करके कृतार्थ हो जाओ।

तदनन्तर 'मा' नाम लो।

'म' इति सर्वं स्पर्शाना 'म' इति च स्वरान्त्ययो।
'आ' इति चालयो व्याप्तिः सीमा ब्रह्ममयीति 'मा'॥ ९६॥

'म' अक्षर से सर्व स्पर्श लो (जो कुछ स्पर्श करता है या स्पृष्ट होता है)। 'अ' अक्षर से 'स्वर' तथा अन्त्य'। केवल वर्ण के ही दृष्टिकोण से नहीं। इन दोनों को लक्षणा में सब कुछ का उदय एवं विलय समझो। जैसे कोई स्पन्द-उर्मि। इस सम्बन्ध में तीन मूल प्रश्न हैं (१) उदय या आरंभ, (२) स्पर्श पूर्ण के पास तथा शून्य के पास, या विकास, (३) विलय या अन्त। इन तीनों का 'आलय' क्या है ? इन तीनों की व्याप्ति कहाँ है ? और इन तीनों की परिसीमा कहाँ है ? समष्टि व्यष्टि-निखिल विश्व के दृष्टिकोण से इन तीनों का उत्तर है 'मा' ब्रह्ममयी।

षड़ूर्मि

वाक्, प्राण, मन को ओंकार के अपने साधिष्ट रूप में 'मा' कहकर सम्बोधन करो। 'मा' 'मा' 'मा' नाम जप करने से सन्तान की इस आकृति त्रय (तीन मूल प्रश्न जो ऊपर अंकित हैं) को 'मा' अपने क्रोड़ में खीच लेती हैं तथा इन्हें विलीन कर देती हैं। वह आकृतित्रय संक्षेपतः इस प्रकार है—कौन किसके निज आलय में है ? कहाँ कितनी दूर जाना होगा ? कहाँ तक जाकर वापस अपने आलय में पुनः लौटूंगा ? स्पन्द किंवा उर्मि मात्र के ये तीन प्रश्न हैं। जीव पतित हुआ है इसी षड़ूर्मि में। इस षड़ूर्मि को काटने के लिये 'एकोर्मि' रूप ओंकार, मा, राम, हरि प्रभृति नाम का आश्रय लिया जाता है। गायत्री छन्द में क्या होता है ? बाधक एवं घातक जो षड़ूर्मि है, वह 'अमृताय' 'ज्योतिरसाय' रूप षड़ूर्मि में बदल जाती है। इसमें छ पूर्ण एवं छ शून्य स्थल हैं। विन्दु में पूर्ण तथा शून्य एक साथ हैं। भूत का तथा काल का 'छक्का' छुड़ाने के लिये 'अमृतस्य धारां दुहाना' इस अपूर्व अमृतायन का छक्का बनाना होगा। यदि षड़ूर्मि को प्रकारान्तरेण जायते, अस्ति, वर्द्धते प्रभृति षट्परिणाम मानों तब गायत्री की छ अमृतोर्मि के द्वारा इन छ का आप्यायन-अमृतायन करो। अर्थात् उदय ओंकार में 'जायते' व्याहृतित्रय में 'अस्ति' इत्यादि। अन्त में 'म्रियते' का वारण करने के लिये विलय ओंकार में विन्दु समाश्रय। उर्मि समूह के मारण स्पर्श को 'जीवन' स्पर्श में कैसे बदला जाये, यही तो समस्या है।

इसलिये नीचे की कारिका की भावना अवहित चित्त से करो—

पूर्णे शून्ये ह्युभयत इह स्पर्श मात्रं दधानौ,
कान्ति शान्ति किमुदयतयार्बूमिपाके दधाते।
आलीयेरन् यदि जनिलयस्थानसिद्धौ लहर्यौ,
विन्दौ सिन्धुर्भवति युगपच्छून्यपूर्णः समाप्तः॥९७॥

विश्व उर्मिपाके असहाय पतित तोमार,
अविश्रान्त चले तोलापाड़ा।
जीवनेर शून्ये पूर्णे शुधु चकित परेश,
कोन कान्ति कोन शान्ति दिले साड़ा ?
जीवनमरण, दिवायाम, निद्राजागरणे,
केवा पूर्ण बल, केवा तरपित ?
लहर चूड़ाय उठिते ना उठिते पतन,
सानु कोले शोयामात्र विताड़ित !
ए अशेष लहरीर दोला यदि हय शेष,
उदय विलय आलय सागरे।
यत अल्प, यतेक भंगुर यदि हय स्थिर,
अखंड विपुल आपन आधारे।
तबे जे नो, सेई स्थिर शान्तभूमि सवाकार,
एकाधारे चिर पूर्ण शून्य हय।
पूर्ण ओ परम, शेषटि निःशेष एकठाई,
विन्दु तेई यदि सिन्धु समापय।

षण्डोर्मि तथा धातोर्मि

जपध्यान आदि साधना में एक-एक वर्ण रूप भावादि ये एक-एक खण्डोर्मि तथा धातोर्मि रहने देने से कार्य नहीं होगा। प्रथमतः उनको एक अखण्ड नाद सिन्धु की सुषम लहरी भंगिमा में प्राप्त करना होगा। अन्त में उस नाद सिन्धु को भी विन्दु में लाकर उसका पूर्ण शून्य समापन करना होगा। इसलिये प्रणवादर्श में (एवं गायत्री छन्द में) 'मा' रूपी एकाक्षर महामन्त्र का साधन करो। 'गायत्री छन्दः' कहने का तात्पर्य यह है कि विन्दु से सुषम-समर्थ आकृति में जिसका उदय है और उसी में सुषम समाप्त आकृति में विलय भी है। जैसे चन्द्रमाः तथा चन्द्रमा। इस आकृति में कितनी पादमात्रायें रहती है, यह सामान्य प्रश्न न होकर विशेष प्रश्न है।

'मा' नाम तथा गायत्री

महामाया सूत्र में अंकित है कि 'मा' नाम में प्रणव की सब मात्रायें समाहित हैं।

अकारोकारमकाराश्च नादविन्दुकला अपि।
षडूर्मिशमने षण्णां 'मा' इति नामभावनम् ।।९८।।

अ, उ, म नाद विन्दु-कला, इन छ की भावनी जो महामाया है, उनका साक्षात् जो नाम 'मा' है, वह क्या करता है ? पूर्वोक्त षड्र्मि को नाद के सुषम-विनात में करके पुनः विन्दु में, सुषम सम्पादन में ले जाता है। अतः षड्र्मि का शमन हो जाता है। ब्रह्म का स्वाभाविक नाम है 'ओम'। ब्रह्ममयी का स्वाभाविक नाम है 'मा'। इस एकाक्षर महामन्त्र की ऋषि हैं स्वयं महामाया, वे ही इसकी देवता हैं। परमाम्बिका। छन्दः, गायत्री, विनियोग भी वे ही हैं। सर्वशमन सर्व सम्पूरण। इस मंत्र की गायत्री की भावना इस प्रकार से की जा सकती है—

ॐ मा महामायायै विद्महे विन्दुवासिन्यै।
धीमहि तन्न परमाम्बिका प्रचोदयात् ॥९९॥

इस प्रकार गायत्री जप में विद्महे स्थल पर चन्द्रमाः एवं धीमहि स्थल पर चन्द्रमा प्रसन्न हो जायें। 'भाति' के स्वच्छ समुज्वल न होने पर 'विद्महे' नहीं होता। और भावरस के शान्त प्रगाढ़ हुये बिना 'धीमहि' नहीं होता।

उदरं नान्नपाने वा नासिक्यौ विभृतोऽनिलौ।
ध्यानं एव विभर्त्येकः समानोदानसङ्गतौ ॥१००॥

यह जो उदर है, इसमें अन्नपान को 'भर्त्ती' मत करो। नासिका में जो प्राणापान वायुद्वय (अनिलौ) हैं उन्हें भी 'भर्त्ती' मत करो। भर्त्ती का अर्थ है पूर्त्ति। तब किससे भर्त्ती-पूर्त्ति होती है ? होती है समान एवं उदान की संगति से। वितान एवं सन्धि (मेरु) का उभयस्वरूप जो व्यान है, वह अकेले ही इनकी भर्त्ती-पूर्त्ति कर सकता है। जप में व्यान की दो आकृतियाँ हैं नाद एवं विन्दु। दोनों की मेरुसंस्था रहती है। उदय एवं विलय में पूर्ण स्थल में उदान का तथा शून्य स्थान में समान का सम्यक् संगति में रहना आवश्यक है। उदान नाद के शिखर प्रभृति में पूर्ण स्पर्श को सम्यक् रूप से करेगा और समान करायेगा 'सानु' प्रभृति में शून्य स्पर्श। दोनों के कर्मसमापन में विन्दु संस्पर्श।

प्राण, ब्रह्म का आदिम व्याकरण है

श्रुति ने ब्रह्म को 'प्राणस्य प्राण' कहा है। वह ब्रह्मरूप प्राण स्वयं का पंचधा दशधा-आकृति में व्याकरण करता है। उसका आदिम व्याकरण है प्रणव। प्रणव का छन्दः है गायत्री। पंचधा-दशधा इत्यादि बहुः होने के लिये 'छन्दसां माता' गायत्री भी छन्दांसि हो जाती हैं। किन्तु ब्रह्मव्याकरण का मूलसूत्र जस का तस रह जाता है। अर्थात् जो व्याप्त होता है, वह ब्रह्म को 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजव्ययम्, रूप से ही रखे रहता है। 'अच्युत'-अव्यय-अक्षर रूप से ही उसे पाया जाता है। प्राण की पंचधा व्याकृति में ब्रह्म व्यान रूप से उसी भाव में रहते हैं। इसीलिये प्राणन् वृत्ति में व्यान का वितान (नाद) एवं सन्धि (विन्दु) इन दो भावों का

अभाव होता ही नहीं। इस बार यह याद रखते हुये 'मा' के इस ब्रह्ममयी नाम की भावना एवं साधना करो। 'मा' नाम में 'म' तथा 'आ' इन अक्षरद्वय का आश्रय लो इस भावना के लिये !

प्रश्न एवं उत्तर

जैसे गीता के आठवे अध्याय में अर्जुन ने जो सात प्रश्न किये हैं, उनका उत्तर श्री भगवान् ने तीन श्लोकों में दिया है। उत्तर तीन प्रकार का होता है—

(१) व्यौत्पत्तिक

(२) उपपत्तिक

(३) सांसिद्धिक

श्रीभगवान पहले व्यौत्पत्तिक (इन तीन श्लोकों में) उत्तर देकर तदनंतर 'ओमेकाक्षरं ब्रह्म' कहते हुये औपपत्तिक उत्तर देते हैं। औपपत्तिक का अर्थ है जिसमें उपपत्ति प्रमाण (actual verification) होता है। सांसिधिक को आत्मप्रत्यय में स्वयं ही पाना होता है। जैसे ब्रह्मसंस्पर्श सुख प्राप्त होता है विन्दुलीनता में। वहाँ विन्दु को 'पर' मानो तब उदय-विलय आदि समस्त लेख है 'अवर'। 'परावर' दृष्ट होने पर ही श्रुति की यह फलश्रुति चरितार्थ होती है 'भिद्यते हृदयग्रंथिः' इत्यादि। 'मा' नाम को भी इसी तीन दृष्टि से देखो।

मातुर्मेति क्षरितमनिशं भालसोमोमृतं य—
दातः सान्द्रोरसि समुदिता स्नेहवृण् मेघमाला।
आन्ध्ये शश्वच्चिरमरुभुवि प्रोषिताभ्यां युवाभ्यां,
का भीर्मेत्यक्षरकरुणया चातकोहे चकोर ॥ १०१ ॥

पहले जिन व्यौत्पत्तिकादि तीन प्रकार की अर्थभावना का वर्णन किया गया है उनमें व्यौत्पत्तिक में यौगिकरूढ़ आदि अर्थविचार करना पड़ता है। इस विचार में श्रवण मनन मुख्यता है। इससे विसम्बाद झलकता है, संशय दूरीभूत नहीं होता। अतः इस प्रकार के विचार को प्राणरसायन में 'शाखापल्लवपरिहारी' करने के लिये मूलाश्रयी बनाओ। मूल में गति होने पर भावना हो जाती है औपपत्ति की। इसमें है निदिध्यासन मुख्यता। अ-उ-म को ब्रह्मा-विष्णु महेश्वर इत्यादि कितनी ही कल्पनायें विव्रत थी। इस बार अकारादि वाक्त्रिवेणी किसी निर्विकल्पक स्व-भाव में जाकर सम्मिलित समन्वित हो रही है, उसका अनुकरण करो। अन्त में सांसिद्धिकी में साक्षात्कार मुख्यता है। इस बार 'मा' नाम से इस तीन भावनाओं की नित्य भावना करो। मा का (मातुः) 'मा' रूपी महानाम पहले महामाया सूत्रादि में कहा जा चुका है और वन्दित हो चुका है। अब यहाँ इस प्रकार से देखो 'मा' = म + आ—ये दो अक्षर। 'म' क्या देता है ? सदारक्षित जो भालस्थ सोमामृत है

उसे देता है। इस अमृत का क्षय नहीं है, तभी है अक्षर। और 'आ' से क्या प्राप्त होता है (आतः) ? मा की हमारे हृदय में नित्य-समुदित स्नेहवृट् जो सान्द्र मेघमाल है, वह चिरस्नेह-रस-सम्भारा मेघमाल प्राप्त होती है। सान्द्रा शब्द पर भी ध्यान दो।

भाल तथा हृदय

अच्छा, इस सदारक्षित भालसोमामृत का और इस चिरवर्षी हृदयमेघ का क्या प्रयोजन ? वह चकोर और चातक की बातें याद तो है न ? चकोर निर्वासित (प्रायित) है एक चिरतमसा की अन्धकारमयी भूमि में, यहाँ एक बार भी खण्ड शशिकला उसके भाग्य से उदित नहीं होती। और चातक प्रवासी हो गया है ऐसी एक सतत मरुभूमि में जहाँ किसी दिन भी 'तातल सैकत' का एक वारिकणा भी नहीं बरसता ! किन्तु हे चिर प्राणरस विधुर चकोर और चातक ! तुमको (युवाभ्यां) क्या भय ? जब तक 'मा' नाम के महाक्षरयुगल करुणा से विगलित होकर एक साथ 'क्षरितमनिशं' सोमामृत एवं सान्द्रसमुदिता स्नेहवृट् मेघमाला नहीं हो जाते ! यहाँ भी 'भाल' तथा 'उरसि' शब्दद्वय पर ध्यान दो। ललाटरश्मि अथवा प्रतिभा यद्यपि व्यौत्पत्तिकादि अर्थ विचार में विशारदी अवश्य है किन्तु परावाक् में निगूढ़ जो ज्योतिरस है, उसका साक्षात्कार प्राप्त होता है वाक् की 'अक्षरकरुणा' भालसोमामृत तथा हृदय मेघमाला के विगलित होने पर। अन्यथा जो चकोर चाहता है 'स्निग्धसिंचन' उसके भाग्य में आता है 'शुष्कदहन' ! और जो चातक चाहता है 'सावन का आझोर वर्षण' उसके भाग्य में आता है केवल 'भादों का गुरु गर्जन ! इसलिये नाम की अक्षर करुणा के विगलित हुये बिना कैसे चलेगा ?

चन्द्रमाः चन्द्रमा आदित्य

न हि पश्यन्तीं चन्द्रमसोऽप्रसादतः।
न मध्यमा मध्यमेति चन्द्रमा नोदितो यदि।
न परापारीणः कश्चिदादित्यहृदयं बिना ॥ १०२ ॥

ज्योतिष्मती वृत्ति से जब तक चन्द्रमाः प्रसन्न नहीं हो जाते, तब तक वे 'पश्यन्ति' दृष्टि में नहीं आते। चन्द्रमाः प्रसाद के उपक्रम में ललाटादि स्थल में तारकादिरूपेण जो ज्योतिः परिलक्षित होती है वह प्रथमतः उतनी शुभ्रोज्वल नहीं होती स्थिर (Steady) भी नहीं होती, होती है किंचित् रक्त-पीताभ एवं विकल्पित (Twinkling)। इससे ज्ञात होता है कि तमसा आवरण तथा रजसा का विक्षेपण (Screening and Scattering Momenta) अभी भी अल्पाधिक प्रचुर है। यहाँ कण्ठ तथा श्रवण में भी मानो ध्वनि आवृत (गुंठित कुंठित) है, विक्षिप्त (लुंठित Distracted) प्रकाश प्राप्त करती है। ध्वनि कटी कटी (as Jerking)

एवं असम (uneven) भाव से प्राप्त होती है। इन सबसे छुटकारा पाकर ऊपर उठने के लिये भालस्थ चन्द्रमसी कला को प्रसन्न करना होगा।

जो मध्यमा नित्य स्फोट या अनाहता वाणी का स्थान है, स्वयं सेतुरूपा होकर जो वैखरी से पश्यन्ति परा में ले जाती है, उस मध्यमा में तब तक गति नहीं आती जब तक तुम्हारे हृदय में चन्द्रमा (रोचिष्मती वृत्ति में) उदित नहीं होता। जपादि साधन में रुचिरस ग्रंथि को उन्मुक्त हुये बिना मध्यमा के अमानवीय सेतु का सन्धान ही नहीं मिलता। 'गुरु रहें भाल में, इष्ट रहें हृदय में' दोनों में है अचिन्त्य भेदाभेद।

अन्त में यह स्मरण रखना होगा कि जो चन्द्रमाः जिस सुदर्शन चक्र का 'अर' हैं और चन्द्रमा जिसकी नेमि है, उस चक्र की नाभि है आदित्य। आदित्यहृदययोग द्वारा इस निखिल नाभि का भेद करके 'परा' में पारीण होना होगा।

यह जो परिदृश्यमान चन्द्र है, वह हमारे मामूली मन का प्रतीक है। इस चन्द्र के समान इस मामूली मन का भी चक्र आवर्त्तित होता रहता है—विषय से संस्कार में; संस्कार से पुनः विषय में। सनत् कुमारादि इस 'चक्र' के सम्बन्ध में 'अतितितीर्षव' होकर ब्रह्मा से प्रश्न करते हैं। ब्रह्मा तब स्वयं 'कर्मधीः' (चक्र में पातित) रहने के कारण उत्तर देने में अपारग रह गये। अर्थात् परापारीण नहीं हो सके। तभी श्री भगवान् ने 'हंस' रूप से आविर्भाव द्वारा उपदेश किया 'अपूर्व हंस-गीता' का।

गुरुधाम-इष्टधाम

पहले जिस गुरुधाम तथा इष्टधाम को पृथक् रूप से कहा गया एवं उसके अचिन्त्यभेदाभेद को इंगित किया गया, उस धाम तत्व को अभेद समीकरण में प्रदर्शित करने का स्थल है आदित्वहृदय—'सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्' उपलब्धि !

ओंकार तथा 'मा' मध्यमा धूः

महामाया परमावाक् रूप से ओंकार एवं मा रूपी एकाक्षर महानाम हो जाती हैं। वे ही वैखरी प्रभृति चतुष्पात् वाक् की मध्यमा एवं मध्यमाणी (मध्य + मा) होकर मध्यमा हो जाती है। तभी वे समस्त वाक् के हृदय में स्थित हैं एवं अक्षरूपा हैं। वैखरी आदि वाक् की पटलेखा की भावना करो। यह समग्र पट या चित्रलेखा मध्यमारूप Axis पर जड़ित है। जैसे कैमरे की रील पर छवि जड़ित रहती है। धूः अथवा अक्ष को दो प्रकार से घुमाया जा सकता है। एक प्रकार से घुमाने पर यह स्थूल वैखरी चित्रलेखा वैखरी दृष्टि एवं श्रुति में झलकने लगती है (व्यक्ता)। इसको दूसरी ओर (आवृता चक्षुः) घुमाने से है पश्यन्ति (परिपश्यन्ति

धीराः)। पश्यन्ती दृष्टि एवं श्रुति प्रभृति के उन्मेष हेतु यह 'परिपश्यन्ति' भूमि प्राप्त करना होगा। किन्तु मध्यमा ही रहती है धूः या मध्य अक्ष रूप।

और, वैखरी में स्थूल व्यक्त है। मध्यमा में सूक्ष्म सम्पुटित है, पश्यन्ति में 'परिप्रदर्शित' जो विचित्र पट है, उसके आधार रूप में क्या वर्त्तमान है? परा। परा के आधार में, मध्यमा के धूराश्रय में, स्थूल सूक्ष्म आदि समस्त चित्र कभी तो उदित है, कभी अस्तमित है। परापारीण होने पर ही पारमार्थिक सत्य प्राप्त होता है। पश्यन्ति में व्यावहारिक के चरम प्रान्तपर्यन्त यह सत्य झलकने लगता है। वैखरी में जो छवि प्राप्त होती है, वह इनकी तुलना में प्रातिभासिक (apparent) है। व्यवहार्य (Pragmatic) और अव्यवहार्य (Absolute) का भेद पश्यन्ति परा में जाने पर ही यथार्थ रूप से ज्ञात होता है। पश्यन्ति में भी अणु, वि, परि, इन उपसर्गों के साथ मुख्यतः तीन भूमि हैं।

इस बार आगे की बातें नीचे अंकित दो श्लोकों के चिन्तन द्वारा स्मरण करो—

मध्यमायां धूरि व्यक्ता पटलेखेव वैखरी।
धूरि चावर्त्तमानायां पश्यन्तीं परिपश्यते ॥१०३॥
आवृत्य वैखरीचक्षुः पश्यन्तीदृक् प्रपश्यति।
सर्दत्र सर्वलेखानामाधारश्चालयः परा ॥१०४॥

श्लोकों का अनेक भाव पहले ही कुछ न कुछ प्रकाशित किया जा चुका है। मन्त्र का सहज एवं सहग यन्त्र। विशेषतः यन्त्र के दृष्टिकोण से परा पारीणादि की इस प्रकार भावना करो।

यन्त्रम्

महामाया परब्रह्मपारीणा या परात्परा।
तुर्या स्वकलनी शक्तिः सा परा विन्दुवासिनी ॥१०५॥
विन्दुनादकलाभिश्च त्रिकोणावर्त्तसम्भवैः।
ऋज्वी च सुषमा व्यक्त्यै पश्यन्ती परिपश्यति ॥१०६॥
मध्यमा धूस्तथाक्षश्च सर्वेषु हृदयस्थिता।
ऋजु सर्वमृजुत्वेऽस्याः सर्वं समं समत्व च ॥१०७॥
कालादिकञ्चुकैरस्या वैषम्यं प्रतिभासते।
विखरा जायते वाक् च यन्त्रादि चैति जिक्षताम् ॥१०८॥

साक्षात् परब्रह्म जो महामाया है, वे सर्वस्वरूपा, सर्वेषि सर्वशक्ति समन्वित होकर भी सर्वपारीणा है, अतः उन्हें कहते हैं परात्परा। वे तुर्यातीता हैं। ये अचिन्त्या,

स्वकलनी शक्ति रूपा (आद्याकला) होकर विन्दु में विन्दुवासिनी होकर होती हैं परा, इस प्रकार वे तुर्यातीता परापारीणा होकर भी होती है तुर्या और परा ।

ऋजु एवं सुषम

अखण्ड अव्यय आधार रूपा भागवती शक्ति आत्मकलन द्वारा विन्दु तथा विन्दुवासिनी न होती तब तो मंत्र, यंत्र, तंत्र, किसी की भी सूचना संभावना नहीं रह सकती थी । विश्व अभिव्यक्ति का बीज है विन्दु । अभिव्यक्ति का मौलिक एवं 'आकालिक' रूप दो क्रम है ऋजु तथा सुषम । एक के बाद दूसरा नहीं है, किन्तु एक का सम्पूरण है दूसरे से । जैसे किसी शोभन चित्र की ऋजुरेखा का मौलिक नक्शा । नक्शा = Basic or ground plan, किन्तु चित्र को पूर्णांग बनाने के लिये सुगम वक्ररेखा (Symmetry Curves) एवं वर्णरंजन भी करना होगा । संगीत में किसी राग की शुद्ध आकृति दिखलाने के लिये कतिपय स्वरविन्यास ऋजु-रेखा संकेत से दिखलाना प्रशस्त है किन्तु आलापन में मूर्च्छनादि प्रकटन में सुषम वक्ररेखा विन्यास का होना आवश्यक है । सुरच्छन्द का जो ढ़ाचा है, वह निसंदिग्ध रूप से मौलिक है, किन्तु उसमें अंग सौष्टव एवं प्राणरसायन के लिये क्या आवश्यक है, यह भी याद रखना होगा । इसलिये सृष्टि में कल्याणशोभना अभिव्यक्ति के लिये ऋजु सुषम का सरल-बंकिम (टेढ़े) का हार्दिक मिलन घटित होना चाहिये । इसे घटित कराते ही परा हो जाती हैं पश्यन्ति । मौलिक विन्दु स्वयं को विन्दु नाद कला में कलन करके जिस प्रकार ऋजु गोष्ठी में त्रिभुज आदि यन्त्ररूप धारण करता है, उसी प्रकार वह बंकिम गोष्ठी में आवर्त्त (Rotation, Circling dance) अंगीकृत करके उर्मिवृत्तादि सुषम आकृति धारण करता है । निखिल सृष्टि सुरछन्द में एक महामहिममय संगीत अथवा रेखावर्णाली में एक महामनोज्ञ अनवद्य चित्ररूप विन्दु ने ही धारण किया है । महामाया पश्यन्ती रूप में इसी परिपूर्णं अनवद्य विमोहन सुन्दर को नित्य पौर्णमासी में 'परिपश्यति' देखती हैं ।

ध्रुवाक्ष

किन्तु ध्रुवाक्ष अथवा ध्रू: तो चाहिये ही । ऋजु अथवा सुषमबंकिम को स्वयं को प्रस्फुरित करने, दिखलाई देने के लिये इन्हीं दोनों का समाश्रय वांछित रहता है । त्रिभुज, वृत्त जो कुछ भी क्यो न हो, उसे यही चाहिये । इसी धुर रूप से वे हैं मध्यमा । पहले मध्यमा की सेतुरूप से भावना की गई । इस बार और भी गहन में जाओ । यह मध्यमा सब कुछ के हृदय में अवस्थिता हैं । 'हृदय' के लक्षण को पुनः याद करो । जो अकालिक नित्य है, वह गतिरूप प्राप्त करके काल में उतरकर किसका आश्रय लेता है, यह विचार करो । इस 'ध्रू.' का । अतः मध्यमा के माध्यम से पुनः उस अकालिक नित्य में वापस जाना होगा । जपध्यानादि का लक्ष्य भी यही

है। जैसे चक्र की गति की ऋजुता एवं क्षमता धुर की ऋजुता एवं क्षमता पर आश्रित है, यही विश्व में सर्वत्र होता है; यह स्मरण रक्खो।

कञ्चुक

किन्तु हमारे 'गोचर' में तो वैषम्य प्रतिभासित हो रहा है। यह प्रतिभास या appearance मात्र है, तभी तो हो रहा है। और इसमें ही सब कुछ पातित है। धूः या अक्ष को जो अनृजु और विषम करता है, उसको साधारण नाम दो कंचुक। कंचुक का मूल समाचार......'न जानाति कश्चित्'। किन्तु मूल का निदान किसी के द्वारा न जाननें पर भी इस कंचुक की कारस्तानी से परा, पश्यन्ति एवं मध्यमा-रूप जो शुद्धा नित्यावाक् है, वह वाक् विषय विपाक में पड़कर हो जाती है विखरा और शुद्ध अनवद्य यन्त्रादि भी जिक्षता, अविलता तथा पंगुता को प्राप्त हो जाते हैं। यह विषम परिणति है आभासिक। ऋजु एवं सुषम को मिटाकर विषमा एवं जिक्षगा नहीं किया जाता अपितु जैसे तिमिर आदि रोग में अथवा वक्र शीशे में दृष्टि द्वारा सम्यक् रूप से देखा नहीं जा सकता। अथच दिखलाई पड़ता है वस्तुतः 'बेजा' अभिमान। विज्ञान-प्रज्ञान पद-पद पर दोष पकड़ाता है परन्तु क्या विषम विभ्रमविलास अपगत होता है ? मन्त्रसाधन के दृष्टिकोण से यह उपाय—

लक्ष्मीबीजेन सौषम्यं वाग्भवेन चार्जवम्।
ध्रौव्यञ्च धामगामित्वं पालय चार्द्धमात्रया ॥१०९॥

सुषमता के लिये विशेष करके लक्ष्मीबीज (श्रीं) ऋजुता (आर्जव) के लिये वागभव् बीज का आश्रय लो। और समस्त बीजों से अर्धमात्रा की जागृति का साधन करके परापारीणा जो गति है, उस गति के ध्रुवत्व एवं धामगत्व का परिपालन करो। अर्द्धमात्रा के प्रसारिता न होने पर कोई भी गति सामयिक रूप से काल के अनुकूल रूप से ऋजु एवं सुषम होने पर ध्रुव एवं धामग नहीं होती। कंचुक के चंगुल से मुक्ति नहीं मिलती। मन्त्र के साथ उपयोगी यन्त्र एवं तन्त्र का भी साधन करना होगा। त्रिवज्र या त्रिशूल संहति के बिना त्रिपुर मथनी शक्ति संजात नहीं होती। यन्त्रतत्व के सम्बन्ध में विशेषतः इस खण्ड के परिशिष्ट में प्रदत्त एक अंग्रेजी Note कुछ दुरुह होने पर भी आलोचना योग्य है।

कंचुका विमोचन

परायै सवितुर्भर्गः पश्यन्त्यै पूर्ण चन्द्रमा।
चन्द्रमा मध्यमायै च वैखर्यै चन्द्र ऋच्छतु ॥११०॥

परा में गति प्राप्त हेतु सविता का वही वरेण्यभर्गः स्वयं प्रवर्तित हो। पश्यन्ति के लिए वह ज्योतिः परिपूर्णा चान्द्रमसी प्रभा (सम्मिलित भर्गः एवं रोचिस) रूप प्रकाशित हो। जैसे प्रखर तपन किरणों से धरित्री का निखिल वस्तु समूह

प्रकाशित तो होता है, किन्तु विराट विश्व (नीहारिका तथा नक्षत्रपुञ्ज) अप्रकाशित रहता है। विमल पौर्णमासी की छटा में वह विराट विश्व भी प्रकाशित हो उठता है। स्थूल रूप से कहा गया है, किन्तु इसे और डूबकर खोजना होगा। नाभिनिष्ट केन्द्रीण ज्योति और विचित्र आधार समूह में प्रतिफलित ज्योतिः (The fact of nuclear Radition and the fact of reflection and resonance) इन दोनों का भेद एवं व्यंजना याद रखना होगा। विश्व के निखिल आधार के केन्द्रीण ज्योति का पूर्ण प्रतिफलन एवं अनुरणन उपलब्ध किये विना पश्यन्ति सम्भावित नहीं होती।

उदाहणार्थ घूरतत्व

जैसे क-ख दो पदार्थ हैं। 'क' को देखता हूँ सब्जरंग का 'ख' को लाल रंग का। दोनों वस्तुओं से आलोक किस भाव से प्रतिफलित हो रहा है, उसी पर निर्भर करता है उसका रंग। उनके अपरापर धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है—प्रतिफलन वैशिष्ठ्य। कौन स्पन्द क्रिया उसे प्रभावित करेगी किस प्रकार से करेगी उसका सन्धान नहीं देती, यह देखो। यह सन्धान स्थूल सूक्ष्म नाना पर्याय में होता है। हमारे साधारण बोध में जहां कोई सन्धान नहीं मिलता, विज्ञान तथा योगज ज्ञान वहाँ सन्धान देता है। विशेष संधान जहाँ नहीं है, जहाँ कोई जबाब नहीं है, वहाँ बोध भी नहीं है। किन्तु प्रश्न पूर्ण एवं यथार्थ का संकेत स्थल क्या कहीं है? वरुण तथा सोम का संघात होने से चद्रमस हुआ वह आदर्श स्थल या संस्था। 'मस' इन अक्षर द्वय में अनुरूप व्यंजना है। अतः चान्द्रमसी दृष्टि ही है पश्यन्ती। निखिल पदार्थ की नाभि संस्थान विशारदी होने से यही है सावित्री या सौरी दृष्टि। इस दृष्टि में भुवनचक्र की नाभि तथा अरसमूह नाभि में ही 'सर्मपिता' है। प्रतिरणन प्रतिच्छवि से दृष्टि स्वयं को हटाकर सवितृमण्डल मध्यवर्त्तिनी हुई है। परा में पश्यन्ति का विलोम नहीं है, परन्तु पश्यन्ति की पराकाष्ठा है। उसके आगे परापारीणा। अग्रे अर्थात् परे।

विसर्ग रहित चन्द्रमा अथवा चन्द्रमन् है घूर अथवा अक्ष सूचक। अतः मध्यमा। विशेषतः यह घूर तत्व गहन खोज द्वारा समझ में आने वाली वस्तु है। तब भी स्थूल भाव से पहले समझ लो। हमारी यह पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। यह अक्ष भी उसके गतिवर्त्म (orbit) के हिसाब से किंचित् कोणाकृति में न्यस्त है। पृथ्वी की प्राकृतिक संस्था (Natural economy) के निमित्त यह आवश्यक है। इस विशेष घूर संस्था के संरक्षण (Orientation of Axis) में उपग्रह चन्द्र का कितना प्रभाव है अथवा नहीं है, यह चिन्तनीय है। Dynamics का problem मात्र नहीं है। अणु के विश्व में एक एलेक्ट्रान के हट जाने से अथवा जुड़

जाने से कैसा विप्लव घटित होता है, यह भी विचारणीय है। यह विप्लव क्यों घटित होता हैं ? अणु की आभ्यान्तरीण संस्था में जो घूरक्षर है, वह अपने घूर को किंचित कोणिकादि सम्बन्ध में पलटा लेता है (effective reorientation of the axis problem) प्राणि तथा मनोजगत् में यह प्रणिधान योग्य है। दृष्टिकोण का बदलना' आदि को गहनता से देखो। दीक्षा किसलिए है, यह भी चिन्तन करो। जपसूत्र में लक्षण है 'मुख्यप्राण द्वारेण पञ्चतत्व प्राप्तिः'। इसे भी समझो। यहाँ यह प्रश्न है कि नाना क्षेत्रों में विचित्र व्यवहार प्रयोजन के कारण घूर की अदला-बदली तो हो रही है, किन्तु समस्त सबकुछ का जो मूल घूः है उसे ऋज्वी एवं सुषमा करके प्राप्त कैसे करें ? यही है साधन। अतएव समस्त साधन मध्यमा के माध्यम से होते हैं। मध्यमा मौलिक अर्थ में एक साधारण संज्ञा है। यह केवल वाक् का एक विभाग नहीं है। 'मध्य याति' इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर जो सबका मध्यमान विधान करती है एवं धारण करती है, वही है मध्यमा। what assigns the Constant mean measure इस प्रकार यह है सब कुछ की हृदय चिन्ता। हृदय = Dynamical Radix, fnnctional Care. गायत्री आदि जप में जो functional momenta बिन्दु से लेकर अर्धमात्रा रूप सेतु के समाश्रय से नादकला की जो व्यापारवत्ता या अभिव्यक्ति है, उसका मध्यमा के माध्यम से ही आद्यन्त निवृत रहना आवश्यक है। इस प्रकार रहने से ही जप का आर्जव, सौष्ठव तथा सौषम्य बना रहता है।

अमात्रा एकमात्रा अर्द्धमात्रा

परब्रह्म स्वयं अमात्र या मायातीत हैं। एकोहम्—इस प्रकार वे हो जाते हैं विन्दुरूपा एक मात्रा। विश्वबीजकणिका के समान यही एक मात्रा एक साथ पूर्ण-मात्रा तथा शून्यमात्रा है। सृष्टि, विन्दु के नादकला क्रम में धारारूप ग्रहण करने में (as continum, as progression, as series, as order in time-space and causality) मूलतः एवं मुख्यतः अकालिक है, यद्यपि वह व्यवहारतः और गौणतः कालिक भी है। मूल बिन्दु तो स्वयं अव्यक्त 'पर' है। अव्यक्त परम का निखिल व्यक्त से (Manifiest का) संयोग होता है इसी परविन्दु के द्वारा। पर अव्यक्त जो विन्दु है, उसके नादकलादि क्रम में उदय एवं विलय दो गति मुख (Sense) हैं। दोनों को धन-ऋण संज्ञा दी जा सकती, है। इस समय उदय-विलय रूपी दोनों मुखों में सेतु रूपा अर्धमात्रा स्थित रहती है—

'स्थिता नित्या यानुच्चार्मा विशेषतः' पराव्यक्त से व्यक्त तक एवं व्यक्त से पराव्यक्त में जाने के लिये इसी सेतु का समाश्रय लेना पड़ता है। जैसे गायत्री जप में आद्य ओंकार अथवा शेष ओंकार हठपूर्वक (abruptly) वैखरी में उदित

अथवा लीन नहीं होते। होने पर सेतु सन्धान (अर्धमात्रा प्रसादम्) घटित नहीं होगा। 'तज्जानीति शान्त उपासीत' नहीं होगा। वाक्-प्राण चित्त में से कोई भी शान्त पर अव्यक्त स्थल का विरामस्पर्श एवं आनन्द अभिषेक नहीं पा सकेगा। निखिल मध्यमानदात्री नित्या स्फोटरूप मध्यमा ही विन्दु के उदय दिक् से अर्धमात्रा हो जाती है। और इस प्रकार विन्दुवासिनी शक्ति को करती है ऋध्यमाना समृद्धमाना।

पराव्यक्त एवं परमाव्यक्त

पराव्यक्त से परमाव्यक्त में जाने के लिये भी अर्धमात्रा समाश्रयणीया है। सृष्टि के अनुलोम में विन्दु नाद कला और विलोम में कला नाद विन्दु। विन्दु में धारा के विश्रान्त होने से सृष्टि रूपी महामहीरुह अपने मूलबीज में विश्रान्त हो गया। तब जिस आद्यकलनी शक्ति ने विन्दु रूप वरण किया है, उसे 'प्रसन्ना' रूप से प्राप्त करना होगा। प्रसन्न होकर वे नादबिन्दुकलातीत परम में ले जाती है। तब है एकान्त प्रपंचोपशम। श्रीगुरुपादाब्जदल पंकज में इसीलिये पहले कहा जा चुका है—

'सेतुर्याप्यर्द्धमात्रा नयति च परमे व्यक्तमव्यक्तभावं।'

चन्द्र की कथा

अन्त में चन्द्र की कला। सृष्टि में एवं जीवन में जो कुछ 'विखर' विशेषरूप से वर्षणादि अभिघात जन्य क्रिया के फल से उपद्रुत है। (Particularly Sub-ceptlble to outside stress and strain reactions) उनके उपशम के निमित्त क्या करोगे? अन्तरीक्ष तत्व का मूर्त्तप्रतीक जो चन्द्र है; उसी चन्द्र के छन्दोग ऋच्छति रूप को प्रसन्न करो। 'सूर्यचन्द्रमसौ' रूपी युग्मरूप में पृथ्वी के सम्पर्क में सूर्य स्वः को तथा चन्द्रमा अन्तरीक्ष शक्ति original and entervening forces को मूर्त्त करता है। जैसे पृथ्वी का तात्पर्य यदि शक्तिसम्पात एवं धारण का कोई निरूपित स्थिर (Stable) स्थल (a relatively stable plan of incidence) है, तब सूर्य उस सम्बन्ध में Source (उत्स) है और चन्द्रमात्रय (चन्द्रमाः चन्द्रमा एवं चन्द्र) है माध्यमिकी संस्था System of intervening media. किम्बहुना यह मध्यम व्यर्थ (vold) नहीं है। किस आधार में उत्स शक्ति सम्पात (incid-ence) किस प्रकार का होगा एवं उसमें प्रतिफलनादि प्रतिक्रिया भी किस प्रकार की होगी उसके नियंत्रण का एक सूक्ष्य अंश यह माध्यम (Medium) ग्रहण करता है। दीक्षादि में उत्स, माध्यम तथा क्षेत्र की भावना इस सूत्र के निर्देशानुसार करो।

साधारणत: चन्द्रमात्रय अन्तरीक्ष शक्ति रूप माध्यम अवश्य हैं किन्तु इन तीनों का विभेद भी याद रखना होगा। बीजमंत्र की भाषा में यदि उत्स शक्ति को ह्रीं कहे तब चन्द्रमा:, चन्द्रमा: एवं चन्द्र क्रमश: हैं ऐं, श्रीं, ग्लौं। क्यों ऐसा है, इसे विचार करो। इनके लक्षण एवं आलोचन का अनुध्यान करने पर वह हृदयंगम हो जाता है। मस्, मा अथवा मन् एवं 'अ' इन तीन आकृति में भी सूत्र निहित रहता है।

किसी भी क्षेत्र में (field of action) इन तीन का परीक्षण करना होगा। कोई उत्स (Source or origin of influence) किसी क्षेत्र को प्रभावित करेगा इन तीन आन्तरिक्ष वृत्तिता में।

सरणि, पन्था: एवं मार्ग—ये तीन नाम तीन प्रकार का भेद बताने के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। तीन प्रश्न द्वारा इसे समझ लो। उत्सव का उत्सरण अन्तरीक्ष में किस प्रकार (पादमात्रादि में) घटित हुआ ? वह उत्सरण उक्त अन्तरीक्ष (medium में) मे किस प्रकार से पथ प्राप्त कर सका ? अन्त में, क्षेत्र में उसकी आयतन, प्रतिफलन, प्रतिरणनादि क्रिया किस प्रणाली से किस प्रकार हुई ? क्या शक्ति पातन मात्र त्वक्क्रिय (Peripheral) हुआ या मर्मक्रिय (Central and nuclear) ? क्षेत्र के सम्बन्ध में देश-काल छन्द: इन तीनों का क्या हुआ ? अन्तरीक्ष का निजस्व शक्तिलेख (Intrinsic power Structnre) है। उसमें किसी शक्ति को कार्य करने के लिये उद्यत होने पर अपने गतिवर्त्म को प्राप्त करना होगा। यदि उसे 'अध्व' कहें तब उस अध्व की तीन विशेष संस्था हैं सरणि, पन्था: मार्ग:। शक्ति-सम्पात के ऋतध्वग होने के लिये सरणि प्रभृति को योगदा, सुपथा तथा क्षेमंकरी रूपी तीन कल्याणी शक्तियों का आश्रय लेना आवश्यक है। 'पन्थान' सुपथा रक्षेन् मार्ग: क्षेमकरी तथा'। स्वाहा, स्वधा एवं वौषट् ये आकृतियाँ उपरोक्त तीन स्थलों पर अधिक उपयोगी हैं। इनमें भी स्वधा है मुख्या एवं मध्यमा। चन्द्र के तत्व में इस प्रकार क्रिया भावना करो।

मृगाङ्क

चन्द्र का नाम है मृगांक। मृग से मार्ग। अत: पृथ्वी पर मार्ग वितान में मृगाङ्क का आधिपत्य है। वामा दृष्टि से आगे चन्द्र, मध्य में चन्द्रमा तथा अन्त में चन्द्रमस, हेतु यथाक्रमेण ओंकार की 'अ ऊ म' भावना करो—

आद्येऽवतु महाकाली महालक्ष्मीश्च मध्यमे।
महासरस्वती चान्ते सर्वमोङ्कार ऊर्जित: ॥१११॥

उर्ध्व धाम से हमारे आधार में जिस रमणीय ज्योतिरस का अवतरण हो रहा है, उसका जो पूर्व प्रदर्शित 'मार्ग' है उसकी रक्षा महाकाली करे। 'मृग' अर्थात्

अन्वेषण-asperation quest. जो स्पर्श मिला यहां है उसका अन्वेषण । अनुवृत्ति ठीक-ठीक होना चाहिये । यदि 'यह' न चाहे, न खोजे तब तो 'वह' आकर भी चला जाता है । विचार करो—श्रीकृष्ण की मुरली के सम्मोहन में गायें पास आ रही हैं (निखर), मयूर-मयूरी नृत्य पर हैं किन्तु अपलक मञ्जुल चाहनी (निष्पलक देखने वाली) हरिणी तो इस अदूर-अन्तिक व्यवधान को भी नहीं सह सकती ! परम बंधु की मुरली धुन के सम्मुखीन हो नवल किशोर के निलोत्पलमृगमद जैसी अंगगंध से पागल हुई वे कहाँ हैं, बोलो ? यदि नहीं देख सकते तो तुम्हारा रसमार्ग अभी भी कार्पण्य विधुर है, कुण्ठाकातर है ।

तदनन्तर—अथवा उससे पहले महालक्ष्मी 'पन्था' की रक्षा करें और 'सरणि' की रक्षा महासरस्वती करें । इस मोहन छवि में 'गो' हैं सरस्वती तथा 'मयूरी' लक्ष्मी की व्यंजना सूचना करती है या नहीं ? विचार करो । ओंकार उर्जित होकर सबकुछ का पालन करें ।

प्राकृतिक विज्ञान एवं ज्योतिषादि के दृष्टिकोण से भी चन्द्र का प्रभाव हमारे 'इस' आधार पर पड़ता है, इसका विचार करो । जपादि में तिथि-नक्षत्र आदि के द्वारा प्रभाव रूप से अन्तरीक्ष शक्ति मृगांक में घनमूर्त्त होकर मन पर तथा बाहर के 'भार्ग' पर नियमन रखती है ।

सूर्य चन्द्रमा रूपी युग्मतत्व की आलोचना बहुत की गई है । यदि किसी मूल तत्व को मर्म स्थान में रखकर भूयसी आलोचना की गई है, तब वह आलोचना श्रेयसी तथा प्रेयसी होती है । किसी एक को प्रथमतः बहुरूप में उपलब्ध करो, तदनन्तर 'ततो भूयः' भाव से जानो; अन्त में उसे जानो भूमन् या भूमा रूप से । सनत्कुमार ने नारद को क्या यही क्रम नहीं दिखलाया था ? इस प्रकार से जान लेने से इस एक को जानना ही सब को जानना हो जाता है । ध्यान भंगिमा में जब तक 'शिव का उत्सव नहीं सुनते तब तक मात्र 'कच-कच' के अलावा कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता । तब तो ह्रीं प्रभृति बीज का स्वरूप 'हिं हिं छट्' (अशुद्ध प्रयोग) हो जाता है ! विश्व रास अथवा ज्योतिर्मण्डल के जिस किसी स्थान से क्यों न प्रारम्भ करो, अपने हृत्कर्णिका केन्द्र मे चलने के पक्ष मे उसका तो प्राथमिक स्वरूप है खण्ड खण्ड बहुरूप । यह बाद में 'सूत्रे मणिगणा इव' एक सूत्र में पिरोयी गयी मणियों के समान खण्ड खण्ड न होकर विश्वरूप हो जाता है । अन्त में उसका गर्भित हिरण्य रूप है । उसने सर्वान्त में अखण्ड से अभिन्न ज्योतिरस रूप दिखलाया अथवा नहीं, यह है मरमी प्रश्न । विज्ञान की गवेषणा अग्रगा होकर बहु में अन्वित सूत्र गुच्छ को क्रमशः सम्बद्ध कर लेती है किन्तु सूत्रात्मा ? निखिल भूत समूह में स्थित गर्भित वस्तु के तैजसी तनु को तो प्रत्यक्ष कर रहा है किन्तु प्राणरस और चैतन्य ज्योति का अपूर्व मिलन रूप जो "हिरण्य" है, उसका सन्धान कहाँ तक मिल सका ?

हिरण्य सन्धान

जपादि साधन इस सन्धान की परिपूर्ति के ही लिये हैं। ओंकारादि व्याहरण करने पर प्रथमतः निखिल पदार्थ का जो स्पन्दात्मक रूप है, उसका प्रत्यक्ष इस विज्ञान के समान ही किया किन्तु वह स्पन्द जो मूलतः प्राणस्पन्द है, उसका अनुभव भी मिला। प्राण कहता है—मैं जड़ के बन्धन पाश को खोलूंगा, स्व च्छन्द होऊँगा। जो सुन्दर, मधुर, समुज्वल है उसे खोजना चाहूँगा। उसके लिये स्वयं को बार-बार नव नव उन्मेष में प्रस्फुटित करूँगा। अतः जप में जब प्राणस्पन्द के सुषम स्व छन्द का अनुभव प्राप्त होता है, तभी उस 'हिरण्य पात्र' का स्पर्श पाया जा सकता है, जिसके द्वारा केवल सत्य ही नहीं परन्तु 'सत्य शिव सुन्दर' का मुख अपिहित है। हम सबका वह परम भद्र मुख ढका हुआ है परन्तु वह "हिरणमय पात्रेण' तो नहीं है। और जिसे अपिहित कहते हैं, वह भी नहीं है। (अपिहित = जो आवृत्त हुआ है अपि—हितम्)।

'अपिहितं' 'अपावृणु'

'अपिहितं' होने पर ही तो है 'अपावृणु। इन दोनों को राहस्यिक रूप में ध्यान एवं साधना में लाना चाहिये। 'हिरण्याय' 'सत्य-धर्माय' प्रभृति शब्द रूपी दिशा निर्देशक को साथ लेकर 'रहस्यगहन' में प्रवेश करो। व्यष्टि के दिक् से 'अपावृणु' कितनी दूर तक व्याप्तिमान होगा? विश्व, तैजस, प्राज्ञ, कूटस्थ तक समष्टि से विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर तथा परब्रह्म तक। शब्दयोगी वैखरी से परा तक। योगी तथा भक्तिरसिक भी अपने-अपने क्षेत्र में इस 'अपावृणु' को साध ले। प्रारंभ में दृष्टि, तुष्टि तथा मार्ग भेद। किन्तु अपावृणु के 'आ' से यह दृष्टि प्रस्फुटित होती हैं 'सत्य धर्माय' में। अतः वह भेद परामृष्टा, भेद का दर्शन करने वाली नहीं रह जाती। सत्य धर्माय—सत्य के धारण तथा वेक्षण में दृष्टि उपयोगिनी होती है।

यदि 'अपिहितं' शब्द के चार अक्षरों को स्वर (वाक्), मात्रास्पर्श (इन्द्रिय) प्राण तथा चित्त का चतुष्टय (अ + वि + हि + तं) आवरण (हिरण्मय आवरण) मान लें, तब अपावृत् पाद में इन चारों का यथाक्रमेण अपावरण परिलक्षित होगा। जैसे गायत्री जप में (अथवा ॐ आदि में) अर्धमात्रा समाश्रय में नाद का उदय = प्रथम आवरण (वाक्) को, व्याहृतित्रय = द्वितीय आवरण को, वरेण्यम् = तृतीय आवरण को एवं प्रचोदयात् तक चतुर्थ तुरीय आवरण को निराकृत होना चाहिये। निरावरण ओंकार रूप को, पुनश्च अर्धमात्रा समाश्रय को, पहले पराव्यक्त में (विन्दु में) अभिसम्पन्न तथा चरम स्थिति में परमाव्यक्त में अभिनिष्पन्न होना चाहिये। जप में इस प्रकार के 'अपावृणु' साधन को जानों।

साधन में सुकरता लाने वाला तत्व है द्यौः। ये एक साथ ही पिता (मधु द्यौस्तु नः पिता) तथा माता हैं। 'अपावृणु' पद द्वारा ही सम्पद्यमानता लाभ करे "द्यौः' रूपी महामहिम तत्व में। जब तक अग्नि (आधिभौतिक—आधिदैविक एवं आध्यात्मिक) का अनुकम्पानुप्रवेश नहीं हो जाता तब तक कोई भी पात्र 'हिरण्मय' नहीं होता। और वरुण के सुभद्रवरुण हुये बिना कुछ भी आवरण मुक्त, निरावरण नहीं होता। इसी परम कर्म के साधनार्थ 'वरेण्यं' पद में मात्र वरुण—सोम ही नहीं परन्तु वरुण—अग्नि भी संहति में रहते हैं। 'दिव्' शब्द से द्यौः। दिव् शब्द के 'इ' में अग्नि तथा 'व' में वरुण विद्यमान है। 'त' वर्ग का तृतीय वर्ण 'द' वरुणाग्नि की संहति का निर्देश करता है।

सामान्यरूपेण किसी तल में है 'त' वर्ण, उसमें स्थित हुआ 'थ'। उसमें उर्ध्वंग हुआ 'द'। इत्यादि। 'थ' में जो Tie या Balance था, वह 'द' में एक Vertical rise या ascent रूप प्राप्त कर रहा है। यह महाप्राणमय होने पर हो जाता है 'ध'। सम्पन्नता आने पर 'न'। 'त' वर्ग के अन्तिम दो वर्ण है 'ध न' यह लक्ष्य करो। 'ऋण' वर्णद्वय में इसका शाक्त विभेद विशेषतः लक्ष्य करो।

दिव् तथा द्यौः

दिव् शब्द के प्राणरसायन का और प्रणिधान करो। 'इ' कार हो गया 'य', 'व' हो गया 'उ'। फलतः दिव् हुआ 'द्यु'। इसके अनन्तर 'उ' की वृद्धि करो एवं विसर्ग लगाओ। अब होता है द्यौः। इन सबको साधारण व्याकरण का मामूली कार्य मत समझना। प्राण व्याकरण में जो छन्दः है, इसमें उसी छन्दः का अनुधावन करो।

अग्नि में जो 'इ' कार है, वह मानों वरुण (वेविषाण) से कह रहा है "मैं तुममे संहत होऊँगा। तुम मुझे अपना वेविषाण आत्मनीन रूप प्रदान करो।' वरुण कहते हैं—तथास्तु! तुम हो जाओ 'य' (वायु बीज)। इ तथा य का उच्चारण करने में इस रसायन को समझ लो। पक्षान्तर से 'व' रूप जो वरुण हैं वे अग्नि से कहते हैं' मैं भी तुममें मिलित होऊँगा'। 'व' में जो वेविषाण आत्मनीन रूप है, वह है अध्व कुशल, यदि वह 'उ' नहीं होता तब वह अंकक-रंजक रूप नहीं पा सकता। जो 'व' आकृति में एक त्रिभुज था, Dynamic Traingle था वह उ रूप में हो गया एक Spiral. अग्नि तथा वरुण द्वारा इस प्रकार से परस्परता प्रार्थना की पूर्त्ति के कारण मानों उनका स्थान विनिमय घटित हुआ। अग्नि हो गये वरुणभावापन्न (य) और वरुण हो गये अग्निभावापन्न (उ)। इसे कहा गया वरुणाग्नि संघात। वेविषाण वरुण तथा वायु रूप अग्नि के मन्थन से 'द' हो गया अक्षदण्ड। मथनी क्रिया है = उ। यदि यह क्रियासंभावना शून्य तथा पूर्ण की परिसीमा पर्यन्त अकुण्ठ प्रसार प्राप्त करे

तब 'उ' हो गया 'ओ' और उसके फल से निर्बाध मधुज्योति का जो क्षरण था, वह हो गया विसर्ग। प्राप्त होती है पूर्ण आकृति द्यौः। (देव, दैव, देवता, दैवत, दिवौकसः प्रभृति शब्द भी परीक्षणीय हैं)।

दैवी आकृति

जैसे दिव् से देव-देवनशील। इस देवन की द्योतना की भावना करो। पहले जो द्यौः व्याख्यात हुआ है उसके आधार में तथा उसकी महाशक्ति में ही देवन और देव संभावित होते हैं, अन्यथा संभावित नहीं होते। द्युलोक तथा देव में अविनाभाव में रहते हैं, बिनाभाव में नहीं रहते। देवगण का मुख, पुरोधा एवं 'रत्नधातम्' जो अग्नि है, वह अग्नि विश्वानुस्यूत शक्तिसामग्री को (Cosmic Energy as a whole) एकादशी (दीपनी) अङ्कनी, रंजनी ऋद्धि में अभिव्यक्त करता है और वरुण क्या करते हैं ? जो शक्तिनिचय दीपनी, अङ्कनी, रंजनी ऋद्धिकल्प में संजात है, उसे किसी भी प्रकार से खण्डधर्मी, चण्डधर्मी तथा विरुद्धधर्मी या विधर्मी नहीं होने देते। सत्ता में, शक्ति में, छन्द में वरुण उनकी समानाधिकरण्यता की रक्षा करते हैं (Community in Spirit and in pursuit)। श्री चण्डी में महिषासुर वधकल्प में समस्त देवतागण का अपने आयुध आदि के साथ एकमात्र देवशरीर में अन्तर्भाव तभी संभावित हुआ था। शुम्भासुर वध में 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' का स्मरण करो। केन उपनिषद में इन्द्रादि देवगण द्वारा 'उमा व हैमवती' के सन्दर्शन का भी चिन्तन करो। जैसे देव होने के लिये इन दीपनी इत्यादि सत्ताशक्ति का उन्मेष आवश्यक है, उसी प्रकार यह वैविषाण अथच आत्मनीन भाव भी आवश्यक है। किसी नाभि अथवा केन्द्र से अरसमूह क्रमशः वर्द्धमान होकर अपनी नेमि (Sphere or field) प्रसारित करते हैं, किन्तु नाभि या केन्द्र एक ही रहता है। आधार भी एक ही रहता है। तभी अर-सङ्कर एवं नेमिसंवर्ष को निवारित होना चाहिये। यदि जल में एक ही स्थल से उर्मि सृष्ट होकर विस्तार करती है, उससे भी ऐसा ही होता है। A System of Non-interfering but Cooperating rehythms.

देव शब्द में 'ए' कार इसी एक केन्द्रिणी अनुवृत्ति (Compliance to one central theme of harmony) की सूचना करता है। 'वरेण्यं भर्गो देवस्य'— वरेण्यं पद के 'ए' कार से परमाभिमुखीन अनुवृत्ति काष्ठा में प्रदर्शित हैं। अतः यह है सर्वतोभाव से 'शरण्यम्'। जप में इस स्थल में विशेषतः अपनी अनुवृत्ति को सीमा में लाओ, सीमा में परिस्फुट करो। वर्त्तमान विज्ञान जड़-निगड़बद्ध शक्ति को (Energy as material Mass) मुक्त अवश्य कर रहा है, किन्तु उसके पूर्वोक्त प्रकार में (पूर्वोक्त गठन में) दैवी संहति नहीं है। अतः द्यौः, द्युलोक तथा देवता इस कर्म में समाहूत और समाहृत नहीं हैं। प्राण तथा अध्यात्म क्षेत्र में भी इनका परम श्रेयसी

अनुवृत्ति साधन किस प्रकार से होगा, इसे समझकर पुनः स्वभाव में लौट आओ। इन्द्रिय आदि सबकी अधिष्ठात्री देवता के यजन में यजनशील तत्पर हो जाओ। अग्निबन्धन साहित्य में तुम्हारा यह यजन परम आप्यायन में ले चले। यह जो सुदर्शनानुग चक्र है, उसके अर नेमि को अग्नि उत्तरोत्तर ऋद्धि में विस्तार करता चले और वरुण इस चक्र की एक नाभि एवं अखण्डधारा को अव्याहत रक्खे। यह कर्म न होने पर तुम्हारी समस्त शाक्ती सृष्टि मानो टूटकर खण्ड-खण्डशः हो जायेगी एवं खण्ड से उत्पन्न होंगे 'चण्डमुण्ड महापशु'। आसुरी विनष्टि शक्ति के दो रूप हैं घोर एवं मूढ़। एक उत्तुंग तुषार आततायी (An avalanche of crushing destruction) और दूसरा है मानो ज्वालाकराल व्यादित अतल गह्वर (A bottomless pit of fire and brimstone.)।

व्यष्टि तथा समष्टि में सूक्ष्म तथा महान् में समस्त सृष्टि तथा विकास एक उदारमूलक (Unlimited-free) 'हिरण्य' आधार की अपेक्षा रखता है, जहाँ आद्या कलनी शक्ति विन्दु, अक्ष, तल, रेखा, कोणादि उद्वर्त्तन में अपनी सृजनी पालनी यन्त्रपरम्परा अंकित किये रहती है। जड़ीय, प्राणिक, मानस, प्रभृति किसी प्रकार की सृष्टि में यही होता है। इस आदिम असत्त श्रृंखलित हिरण्य का आधार है द्यौः।

असत्त श्रृंखलित आधार (देवयान)

सब कुछ सत्त श्रृंखलित (Subject to Conditionality or détermination) रूप से चलता है। यन्त्र-मन्त्र और तन्त्र में भी यही है। किन्तु वास्तव में एक ऐसा आधार है और कार्यतः उन्हें एक ऐसा आधार उपलब्ध होना चाहिये जो अन्ततः उनके लिये सत्त श्रृंखलित न हो और जो उनकी तुलना में हिरण्य (Pregnant with shining richness of super potency)। जैसे 'अउम' इत्यादि व्यक्त कला में जप चल रहा है। इन सब व्यक्त कला की आकृति, धर्म, स्पन्दवैशिष्ट्य इत्यादि द्वारा वह जप श्रृंखलित, बाध्य है। जपकारी के अपने यन्त्र (शरीर यन्त्र) द्वारा भी वह बाध्य है। जो इस प्रकार का बाध्य जप है, उसे पूर्वोक्त अश्रृङ्खलित हिरण्य आधार में लाकर मुक्त, स्व छन्द, धामग कैसे करना होगा ? जो जप मर्त्य है, उसे दिव्य कैसे किया जाये ?

द्यौः के प्रसन्न हुये बिना कोई अथवा कुछ भी दिव्य नहीं हो सकता। जप में यदि उदय विलय दोनों स्थल में स्वर प्राण तथा मन की गति में हठपूर्वकत्व आदि लक्षित होता है, जप चक्र की सौदर्शिनी परिक्रमा यदि घटित नहीं होती, तब यह समझो कि तुम्हारा जप अभी भी द्यौः एवं दिव्य की हिरण्यसरणि तक उन्नीत नहीं हो सका। अभी भी वह 'मर्त्तयस्य धूर्त्तिः' के शिकंजे में है। द्यौः रूप में निखिल

का जो मुक्त, उदार हिरण्य आधार है उसकी ओर ले जाने वाली जो हिरण्यसरणि है यदि उसे कहो देवयान, तब उनमें जो अनुवृत्ति तथा अनुभूति है उसे कहो दिव्य। जप में अर्द्धमात्रा सेतु पकड़ा देता है देवयान को।

पितृधाम

यद्यपि हिरण्यसरणि को पकड़कर हिरण्याधार पर्यन्त गति नहीं हो रही है किन्तु गति चक्र की आकृति खण्डितवत् न होकर यदि कोई अव्यक्त (अहिरण्य) आधान और मेरु के साथ अपने अविच्छेद की रक्षा करता रहे, तब वहाँ है पितृयान। इस अव्यक्त में अपना आधान है 'स्वधा'। देवयान की ही तरह पितृयान भी एक सार्वभूमिक तत्व है। जपादि में इसके प्रयोग को समझ लो। हिरण्यसरणि का आश्रय लेकर चल सकते हैं स्वाहा एवं स्वधा। पितृयान में स्वधा एवं कव्य। तुम्हारी जप-परिक्रमा यदि अभी भी अविच्छेद रूप में केवल अव्यक्तादि एवं अव्यक्तान्त होकर चलना चाहती है तब तुम्हारी गति पितृयान में है और तुम्हारा जप है कव्यभुक्।

हव्य एवं कव्य

हव्य तथा कव्य शब्दों में 'व्य' साधारण हैं; किन्तु कव्य में व्यंञ्जन का आदि 'क' है और हव्य में है अंतिम वर्ण 'ह'। इससे क्या प्रकट होता है? हव्य कहता है—'मैं शेष पर्यन्त गया हूँ अथवा चल रहा हूं।' कव्य का कथन है 'मैंने चलना प्रारंभ किया है। यह नहीं जानता कि कब, कहाँ, किस भाव में हमारा अन्त, शेष है'। व्यंजन मुख जो 'क' वर्ण है यदि उसका उदय 'क्' को मानें, तब वह गुणित होकर हो जाता है 'को'। यदि इस 'को' को शेष पर्यन्त गतिमान कर सकें तो को+इ (गतार्थ)=कवि=क्रान्तदर्शी। किन्तु यदि 'इ' सम्भाव्य मात्र है (Indeterminate possibility of a process to be completed) तब इ के पश्चात् 'य' आया। फलतः को+इय=कव्य (ध्वनिसूत्रानुसार)।

भूर्भुवः सुवरोम्

शुक्ला तथा कृष्णा गति के सम्बन्ध में सार्वभूमिक तथा जपादि में उसके सविशेष प्रयोग को पहले भी प्रदर्शित किया गया है। वास्तव में द्यौः भूमि में हिरण्य-वर्त्मना आहित न होने से कुछ भी 'सार्वभौम' रूपेण प्रतिभात नहीं होता। इसलिये सूत्र की कारिका में द्यौः को 'ब्रह्मसुखः' कहा गया है, और यह भी कहा गया है कि 'नैतावत्ता दिवं स्पृशेत्'। गायत्रीशिरः से 'ब्रह्मभुवः' का संग्रह करो। वहाँ पर 'ब्रह्मभूः' तथा 'ब्रह्मभुवः' शब्द भी है। 'ब्रह्माणि सूयते सना'। ब्रह्म में जो नित्य सूत (Eternally born) भाव है, वही है ब्रह्मसुवः। साथ साथ नित्य सविता (Eternally creating) एवं नित्य सवन (eternal creatiou) भावः

द्वय हैं। जैसे प्रणव में अ=सूत, उ=सवन, म एवं उसके अन्त में अर्द्धमात्रा= सविता ('सू' धातु को लेकर)।

प्रणव में वर्णत्रय का यथाक्रम से आन्तर भावोज्वल प्रकाश की तीन भूमियों के रूप में ध्यान करो। इनके रहस्यनाम है हिरण्य, रूक्म, हिरण्मय। प्रणव के 'म' में 'हिरण्मय पात्रेण' रूप को समझना होगा। उसके द्वारा सत्य का जो मुख 'अपि-हित' है वह सत्य है अर्द्धमात्रा, नादविन्दुकलात्मिका एवं उससे अतीता एक साथ ही अपराव्यक्ता, पराव्यक्ता एवं परमाव्यक्ता। 'अ' में ही हिरण्यसरणि अनुसृत हुई, यह ध्यान करो। जहाँ आन्तर भाववर्च या रहस्य रश्मि (The gleam of hidden power rhythm and significance) प्रस्फुटित होने के लिये उन्मुख नहीं है, वहां हिरण्यसरणि अभी भी प्रारंभ नहीं है।

मध्यमा के माध्यम से

जप तथा ध्यान में वाक् एवं भाव मध्यमारूपी धूः में साक्षात् रूप से न आने तक हिरण्यधाम निकट नहीं है, वह दूर है। वैखरी वाक् तथा भाव स्थूल व्यक्त है किन्तु स्थूल में तमसा तथा रजसा पिहित (Veiled, vitiated, disorted by the Conditions of sense-realtion) है। मध्यमा में यह सब अपनें अपनें यथार्थ तथा नित्य आकृति तथा छन्दः के 'शासन' में आकर सत्यानुग एवं ऋतध्वग हो जाते हैं (become Corrected and standardized as regards their form and function)। यहीं से द्यौः, वरुणाग्नि संघात रूपेण स्वयं को एक अकुण्ठ उदार, महासमन्वयी हिरण्य आधार प्राप्त करा देता है। इस आधार से प्रारंभ होती है पश्यन्ति की महासूक्ष्मावभासिका एवं परा में निगूढ़ कारणावभासिका दृष्टि। पश्यन्ति में तमसा एवं रजसा का जो आवरण विक्षेप है, उसकी ग्रंथि खुल जाती है, किन्तु ऐसा एक बार में नहीं होता क्योंकि पश्यन्ति की ग्रामपरम्परा है। परा में सत्व अपनी तथा रजः तमः की ग्रंथि के मोचनार्थ एकान्तिक मूल (कारण) का सन्धान करता है और परापारीण होकर परम में स्थित हो जाता है। बारंबार कहा गया है कि इस हिरण्यवर्त्म क्रम को साधने के लिये ओंकार गायत्री प्रभृति जप साधना है। अतः जिसका वरेण्य परम वरिष्ठ है, उसके इस परम आदचर्यमय 'हिरण्य' के सिवा और कौन शरण्य हो सकता है? नामजप के समय यदि तुम्हें यह प्रतीत हो कि तुम्हारा सब कुछ इस कनक रस से, हेमवरण से भर उठा है, तब यह जानों कि तुम्हारे उपर द्यौः ने अपना हिरण्य आँचल फैला दिया है।

हाँ, यदि नाम में यह लगे कि तुम्हारे अंग के प्रत्येक रेणु में एक अत्यद्भुत कनक राग रस प्लावन से 'टल टल कांचा अंगार लावनी अवनी भासिया जाय' भाव सत्य हो रहा है, तब मात्र मुख से नहीं प्रत्येक अंगड़ाई लेते समय भी 'राधारानी-द

याल लहरी' 'गौर सुन्दर कृपाकणमाधुरी' बरसने लगेगी। सभी देशों के तथा युगों के मरमी Mystic लोग इसी कान्तोज्वल कनक रस की बाते जो करते हैं। उसी कान्त समुज्वल, शान्त सुमधुर द्युलोक हिरण्य पट पर ही दिव्य दर्शन तथा आस्वादन की रूप वर्णालि की झरी तथा अपरूप कुन्दोलास्य का प्रकटन होता है।

वरुणाग्निसंङ्घाताद् द्यौः ॥

वरुण तथा अग्नि की संहति है द्यौः ॥११२॥

सूत्र में अंकित वरुण तथा अग्नि तत्व की भावना पूर्व निर्दिष्ट मतानुसार करो।

सूत्र में द्यौ जिस प्रकार से लक्षित हो रहा है, उससे उसे एक उर्ध्व ज्योतिर्धाम मात्र ही समझना उचित नहीं है। यह केवल लोक या आधार मात्र ही नहीं है। यह देश-काल परिच्छिन्न तत्व भी नहीं है। कारण, निखिल का आदिम सवितृत्व इसमें है इसे कारिका के ब्रह्मसुःवापद में तथा उसके आगे के अंश में कहा गया है। प्रसव दो प्रकार का होता है नित्य एवं नश्वर। द्यौः रूप से ब्रह्म स्वयं को जिस आदिम नित्य में 'सुवः' करते हैं; जिसमें विश्व के समस्त ऋतच्छन्दः एवं सत्य आकृति आविर्भूत, विघृत, संगृहीत है, उस द्यौः की नित्य नश्वर द्विविध सृष्टि के दृष्टिकोण से पिता एवं माता, इन दोनों रूपों में भावना की जा सकती है। 'द्यौस्' प्राचीन ग्रीकों का zeus है। द्यौः प्राचीन लैटिन देश का Jupiter है। Dei, Devine इत्यादि को भी लक्ष्य करो।

नित्य एवं नश्वर

हम जिस क्षर-नश्वर सृष्टि में पतित हैं, उससे हमारा साधन (विज्ञान एवं प्रज्ञान से) अक्षर एवं नित्य की ओर के लिये चल रहा है। यही है 'ऋतस्य पन्थाः' तथा 'सत्यस्य मुखमेव' का अपावरण। यात्रा चल रही है पाद, मात्रा, कला तथा काष्ठा में। काष्ठा और परिसीमा के प्रश्न को विना उठाये या खोजे अन्य उपाय ही नहीं है क्योंकि उसी से सब कुछ है, उसी में सब कुछ है। द्यौः का सन्धान तथा उसमें दृष्टि ही इस परिसीमा का सन्धान एवं दृष्टि है। किन्तु जब तक सर्व भावना अन्त में ब्रह्मभावना नहीं हो जाती, तबतक 'छुट्टी' नहीं मिलती। तभी कारिका में दो वेद सूक्त (पुरुष एवं अदित) के उद्देश्य से द्यौः तत्व को ब्रह्मभावना के चार क्रम पर्याय में प्रदर्शित किया गया है।

(१) ब्रह्मणि सूयते सना
(२) एतावानस्य महिमा
(३) त्रिपादस्यामृतं दिवि
(४) अदितिर्द्यौः

ब्रह्म को नित्य आदिम 'सुवः' रूप से दिखलाया गया। आदिम पिता अथवा माता की महिमा 'ऐतावान' है, किन्तु मर या नश्वर में उसका एक पाद ही है और वे वही निरतिशय अखण्ड सामग्री भूमा-अदिति हैं। अतः 'एतावत्ता' (किसी मान आदि द्वारा निरूप्यमानता) उसे स्पर्श नहीं कर सकती। जैसे ओंकार जप में अ उ = ब्रह्मसुवः। म = एतावान् महिमा। नाद विन्दु-कला = त्रिपादस्यामृतं दिवि। एवं तदतीत = ब्रह्म स्वयम्।

कारिका

द्यौरिति वेविषाणस्य याङ्कमानेन संहति।
ब्रंह्मसुवरिति ज्ञेयं ब्रह्मणि सूयते सना ॥११२॥
अमृतं दिवि सूक्तेन त्रेधा निदध इत्यतः।
अदितिर्द्यौरिति श्रुत्या नैतावत्ता दिवं स्पृशेत् ॥११३॥
सोममित्रसङ्घातात् पृथिवी ॥
सोम तथा मित्र-इनका संघात पृथिवी ॥

एतावत्ता तथा नैतावत्ता

जैसे 'अ उ म' भाव से ओंकार का व्याहरण कर रहे हो। इस भाव में व्याहरण होने पर एतावत्ता (इस भाव में, इतना, यहाँ तक) है। यत्किंचित पाद-मात्रादि में है या चल रहा है, उसे कहते हैं एतावत्। किन्तु ओंकारादि जप में जैसा है उसी प्रकार सब कुछ में (विज्ञान तथा प्रज्ञान में) उसके निर्दिष्ट देश कालादि के कंचुक को पार करना होगा। उसे सूक्ष्म में, कारण में, समझने के लिये और उसमें जो 'कला' मात्र है उसे काष्ठा में प्राप्त करने के लिये यह करना होगा। तभी एतावत्ता से नैतावत्ता की ओर गति है। इस प्रकार से गति की संभावना जिससे है उसे द्यौः रूप में पहचानना होगा।

किन्तु एतावत्ता के नैतावत्ता के आधार में रहने पर भी तथा नैतावत्ता को काष्ठा में प्राप्त करने की आकृति के रहने पर भी वह स्वयं तो विलोप नहीं हो रहा है (नैतावत्ता का विलोप) केवल मान एवं सम्बन्ध परिवर्त्तित हो जा रहा है। जलकणा हो जाता है निर्झर, निर्झर होता है तटिनी, तटिनी हो जाती है उत्तम सरिता, सरिता होती है सागर और सागर से महावाष्पमण्डल। किन्तु इस यात्रा का अन्त कहां है ? कौन कहेगा ? भीतर बाहर के सब कुछ को लेकर इस भाव से नैतावत्ता का अन्वेषण करो। ज्ञान, कर्म तथा भाव में यत्-किंचित् ग्रहण करते हो और साधना करते हो, भले ही वह अल्प हो किंवा विराट, वह सब एतावत्ता धर्मवच्छिन्न हैं। जैसे जड़ विज्ञान में एक ओर क्वान्टम फिजिक्स और दूसरी ओर 'एसट्राल'। प्राण तथा मन के राज्य में भी इससे अलग नहीं है। किन्तु सभी स्थलों में एतावत्ता

को घेरकर रहती है नैतावत्ता an unspecified margin of indeterminacy. गणित के सर्वविध विश्लेषण विवृत्ति में भी यही है। गणित के टेलारस थ्योरम में मिलती है एक भूयसी व्यापिका एतावत्ता, किन्तु परवर्त्ती गवेषक गण ने उसे क्या निरंकुश निरवधि होने दिया ? ब्रह्म सब कुछ में अनुप्रविष्ट है, यह कहने पर भीतर के किसी भाव और बाहर के एक धूलिकण में क्या होता है ? 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'।

एतावत्ता है मान, अवधि एवं सीमा का प्रश्न। विचार करो एतावत्ता के दो मूल प्रश्न दिये गये हैं। एक को कहा जा सकता है निरूपक या सम्बन्धी विन्दु (the point of Reference or centre of relevency); दूसरा है निरूपिका या सम्बन्धिनी मात्रा (what assigns the conditions and limits of a given frame or Context of relevency)। 'यह' और 'इस प्रकार से यहाँ तक' यह दो मूल बाते हैं।

सोम तथा मित्र

जो सब कुछ मूल निरूपक विन्दु का सम्बन्ध केन्द्र से करा देता है, इस ग्रंथ की परिभाषा में वह है सोम। और जो कहीं अथवा सर्व सम्यक् Relevency तथा योग्यता (Competency) के मान मात्रा तथा मर्यादा का निर्देश करे, वह है मित्र। गीता में अर्जुन का विषाद योग। श्रीकृष्ण ने मित्ररूप से (सखा) अर्जुन के उक्त संकट में स्वधर्म मर्यादा का प्रदर्शन किया। किसी सुदूर तारक के आलोक की रश्मिरेखा सूर्य के सान्निध्य में आकर वक्र होगी अथवा नहीं, इसके परीक्षण के लिये 'मित्र' निर्देश करते हैं। अनुकूल तथा आवश्यक अवस्था पुंज अथवा उसकी मर्यादा का निर्देश करते हैं। सामान्यतः किसी मान तथा मात्रा को उसकी यथार्थ एवं योग्य मर्यादा जो दे, वह है मित्र। (मात्रा तथा मित्र इस शब्दद्वय का विचार करो)। साधना में कोई न कोई भाव तो सभी करते हैं। तब गुरु, आचार्य क्यों आवश्यक होते हैं ? वे आवश्यक होते हैं सोमकर्म तथा मित्रकर्म के लिये। लक्षणों से इसका विचार करो। सोम तथा मित्र संघात को सूत्र में पृथ्वी कहा गया। अब देखो पृथिवी की आलोचना में पहले एतावत्ता क्यों आई ? कारिका में देखो-'एतावतीति' है। वैसी-जैसी एतावत्ता को पृथिवी नहीं कहा जाता। उसमें सोम-मित्र संहति आवश्यक है।

पृथिवी में संहति

सोम है ओंकार सम्पुटित वैन्दव रूप, अतः ओंकार प्रभव जो सृष्टि है (जड़, प्राण तथा मन में) उसके नाभि केन्द्र में सोम को रखना ही होगा। सुषम सृष्टि दृष्टि से सब कुछ सोमनाभ है। सोम नाभि में रहकर मधुक्षरण द्वारा सब कुछ को

सोमाभिषुत रखते हैं। तभी तो सब, मात्र यह फूलने वाली पुष्पकलिका नही है — मधुमर्मी है। और सबकी-केवल लास्य एवं संगीत की ही गति नहीं, प्रत्युत् मधुच्छन्दा: गति। हमारी कारबारी दृष्टि से सृष्टि में जो विरोधाभास है, विद्रूप विभ्रम है, उसमें सोम अपना छन्दसा मन्थन सवन रूप से संगोपित करते हैं। वे उपमर्द-विमर्द रूप 'रभसा' को दिखलाते हैं। सोम का 'छन्दसा' मन्थन सवन कौन घटित कराता है? मित्र! स्मरण रक्खो मित्र = सब कुछ में मान मात्रादि का मर्यादा संरक्षक। जैसे हमारे इस सौरमण्डल में यह सूर्य = मित्र। और यह चन्द्र = सोम कहा जा सकता है? नहीं, ऐसा सीधे-सीधे नहीं कहना। 'चन्द्रमां' सूत्र में जो कहा गया है, उसे पुन: याद करो। याद करने पर यह स्पष्ट होगा कि यह जो भास्वर ज्योतिष्क भास्कर है यह भी वास्तव में है सोमनाभ। अन्यथा इतना प्राण, इतनी चेतना, इतना छन्द:, इतनी सुषमा उससे उत्सारित नहीं हो सकती थी। सूर्य = Physical Mass हो नहीं है। वे अपनी नाभि में सोम धारण करते हैं। इसीलिये अपने सौर मण्डल तथा जगत मानमर्यादा विधायक के हिसाब से इस सूर्य को विशेष करके मित्र कहा गया है। और इस चन्द्र को भी उसी कारण से विशेष करके सोम भी कहा गया हैं।

चन्द्र इस पृथ्वी का सबसे निकटवर्त्ती ज्योतिष्क है। इसीलिये इस नैकट्य के कारण पृथ्वी की सामग्रिक रससंस्था एवं रससंस्कार (Entire fluid economy) के उपर चन्द्र का प्रभाव सर्वाधिक है। 'रस' शब्द को प्राण-मानसादि पर्याय में भी ग्रहण करो। यहां यदि सोम सर्वत्र रससंस्था संस्थापक है, तब इस चन्द्र को सोम-मूर्त्ति कहना उचित ही है। और इस प्रकार से इस सूर्य तथा इस चन्द्र को मित्र तथा सोम का प्रतीक, प्रतिनिधि मानकर यह समझो कि कैसे, किस प्रकार से हमारी यह पृथ्वी अपने पार्थिवत्व में संरक्षित है? स्थूल प्रतीक दृष्टि से भी यह पृथ्वी सोम-मित्र संहति से ही अपनी विधृति प्राप्त करती है। Earth का अपना Statics and Dynamics विशेषत: इस Solar और Lunar power ensemble द्वारा ही संगृहीत रहता है। यदि पृथ्वी के शक्तिकूट को भौम कहा जाये, तब द्युलोक एवं अन्तरीक्ष की वे दो अग्नि (रवि एवं सोम) उसे स्वभाव में, स्व छन्द में रखते हैं। पृथ्वी के पृष्ठ पर इस प्रकार का वायुमण्डल रहेगा अथवा नहीं, जलस्थल की इस प्रकार की संस्था इस प्रकार का स्वर विन्यास, आभ्यन्तरीण ताप चौम्बकादि शक्तिसंस्था इत्यादि भूविद्या के समस्त प्रश्नों का समाधान यह द्युलोक अन्तरीक्ष रूपी आलोक प्रदर्शक कर देगें।

पृथ्वी का जन्म

इस पृथ्वी का जन्मरहस्य समझने के लिये विज्ञान की दृष्टि से भी (सोम-मित्र के सम्बन्ध में) समझ लो। यदि Tidal Theory को ग्रहण करो, तब यह

सूर्य तथा सुदूर अतीत में सूर्य सन्निधान में आगन्तुक किसी अन्य महाज्योति को सीधे-सीधे मित्र और सोम मत मान लेना। मुख्यतः स्थूल वस्तु संस्थान को नहीं, किन्तु सूक्ष्म शक्तिसंस्था (Power ensemble) को लक्ष्य करके यह समझना होगा कि कौन मित्र है और कोन सोम है। किसी एक शक्ति क्षेत्र में अणु तथा विराट में दो प्रश्न चुनकर उनका उत्तर पाने की चेष्टा करो। प्रथम, अलग करने तथा मिलाने वाला जो शक्ति क्षेत्र है उसमें कोई ध्रुव एकान्त नहीं होने पर भी आपेक्षिक केन्द्र या नाभि का गठन की प्रवणता है या नहीं। यदि है तब तो सोम अपना संकेत दे रहे हैं। अपने जप ध्यान आदि में इस प्रकार सोम का अभिषव प्राप्त करने का यत्न करो। सोम अर्थात् जो ॐ संचित या सम्पुटित है, वह सिचित तथा संचारी भी है ('स' कार की द्विविध व्यञ्जना अनुलोम एवं विलोम)। द्वितीय प्रश्न—केन्द्र या नाभि के लिये शक्तिपुंज की एक सुषम समन्वयिनी छन्दःसंस्था (जैसे एटम, सौर जगत, प्राणिकोष तथा अहं केन्द्रीण अन्तःकरण में) गठित हो रही है अथवा नही ? यदि है तो मित्र (Covering formula governing equation आदि आकार में) छन्दोबन्धन कर्म कर रहे हैं। यह जिज्ञासा भूयसी व्यापिका जिज्ञासा है। काट-कूटकर सोम-मित्रादि का रहस्य मत समझो। प्राचीन विशाल आर्य संस्कृति के भास्वर प्रज्ञागगन में सोममित्र तो चन्द्रसूर्य के समान ही अनवगुण्ठित रहस्यच्छटा से देदीप्यमान थे।

इस पृथ्वी की जन्मकुण्डली प्रस्तुति में इस प्राचीन अथच सनातनी मरमी रहस्यच्छटा को अपने लेखपत्र में अंकित कर लो। प्रश्न करो-अच्छा सूर्य और उस अजाना आगन्तुक ज्योतिष्क के सन्निधान के फलस्वरूप सूर्यमण्डल के महाविपुल जलद-वाष्पसागर में जो ज्वार उठा है, वह ज्वार तो अनेक प्रकार से उठता-गिरता छिटकता हो सकता था, परन्तु एक निर्दिष्ट फल (end of result) केन्द्र में रखकर उसका विपरिणाम आदि कैसे घटित हुआ ? सम्भाव्यता या Probability यदि है, वह तो उस क्षेत्र में नाना है। उस नाना संभावनों में कौन 'ना-ना' करके सबको छोड़ते हुये एक को अंगीकार करता है ? यदि कहो कि आकस्मिक है, तब उस आकस्मिक को निरूपित करते हैं सोममित्र। यदि कहो वह बाध्यतावशात् है, तब बाध्यता का बन्ध एवं छन्दः दोनों ही सोममित्र से ही है।

आकस्मिक तथा बाध्य

बन्ध दृष्टि से आकस्मिक तथा अवश्यम्भावी का द्वन्द्व ! छन्दोदृष्टि से इस द्वन्द्व का परिणय समन्वय चल रहा है। क्रान्त दृष्टि से महासमन्वय, शान्त दृष्टि से परम समन्वय। व्याहृतित्रय में 'भूः' सबको 'यह' कह कर एक निरूप्यता (Determinateness) दे रहा है। 'स्वः' सब कुछ की सृष्टि मूल में जो प्राण,

आनन्द तथा लीलाकैवल्य है, उसे 'वह' कहकर प्रदर्शित कर रहा है। अतः उस आनन्द केन्द्र के सम्बन्ध में सभी स्वाधीन लीला सहयोगी हैं। और 'भुवः' मध्य में रहकर सब कुछ से कह रहा है कि 'तुम न तो यह हो, न वह, बस त्रिशंकु होकर पड़े हो! तुम्हारे 'यह-वह को मिलाने वाला एक करने वाला जो समर्थ छन्दः है, उसे साधो।'

आनन्दहृत् एवं मर्यादाभृत्

सबके आनन्दहृत् रूप से रहते हैं सोम। और सब कुछ की 'यह' या एतावत् रूप से जो स्व-प्रतीति है उसे निखिल केन्द्रीण मान मर्यादा से युक्त करते हैं जो, वे हैं मित्र। अपना इस प्रकार का मर्यादापन्न 'यह' भाव और मर्यादा रहित 'यह', इन दोनों की तुलना करके इस अपूर्व सोममित्र संहति की धारणा करो। मर्यादाविरही; मैत्रविधुर जो 'यह', एतावत है; उसे अदिति माता के प्रत्यक्ष तनु पृथ्वी के साथ; उस पृथ्वी के साथ जो द्यौः सम्मिलिता है, उसके साथ एक करके नहीं देखना। पृथ्वी महीयसी अदितिदेवता एवं द्यु-द्योतनीया का तनु है। 'यह पृथ्वी' इस प्रकार की स्थूलखण्ड दृष्टि से पृथ्वी को पूर्वोक्त रीति से सोममित्र संहति में देखने के प्रयास से कार्पण्यदोष होता है; यह स्मरण रक्खो। जो व्यूढ़ दृष्टान्त मात्र है, उसे निर्व्यूढ़ दार्ष्टान्तिक के साथ 'एक' समझना उचित नहीं है। बरगद के बीजांकुर दृष्टान्त के अनुसार विश्व की बीजाङ्कुर जो अर्धमात्रा है, उस दृष्टान्तानुसार उस तत्व को समझने का प्रयत्न करो।

मित्र की सब कुछ के मर्यादाकुशली छन्दोविधातारूप से भावना की गई है। इस मित्र शब्द के 'म' में मधु या अमृत है। 'र' में ऋतम् है। 'त' में सत्यम् है। मध्य के 'इ' में इन तीनों की सन्धि की सूचना मिलती है। मित्र या मैत्र के अभाव में अरि तथा वैर। सोम का सर्वसङ्करी ओम के सर्वसिंचनकारी (स्) 'अव्यय निधान प्रभव' रूप में ध्यान करो।

अमृतपात् एवं स्वच्छन्दमात्र

पृथ्वी ग्रह के एक सापेक्ष दृष्टान्तरूपेण इस आलोचना में आने पर भी लक्षण के अनुसार सोममित्रसंधातावच्छिन्न प्रभावत्ता 'एतावत्रूपेण' प्रतीति तथा व्यवहार विषयता को पृथ्वी कहा गया है। अतएव पृथ्वी अन्दर-बाहर स्थूल-सूक्ष्म सर्वभूमि में लक्षिता तथा उपासनीया एक गहन रहस्यात्मक तत्व है। मित्रमान की मर्यादा (सीमा) एवं अभिविधि (व्याप्ति), इन दोनों का विधान करती है स्व च्छन्दमात्रा। सर्वविध जपध्यानादि में स्व च्छन्दमात्रा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता है। 'यही तो है—एकावती यह जपक्रिया—किन्तु सोममित्र की अनुकम्पा से अमृतपात् स्वच्छन्दमात्र होकर स्थिरा एवं पृथ्वी हो रहा है क्या?

पृथ्वी बीज—लं

जो कुछ 'यह' या एतावत्‌रूपेण प्रतीत (given) होता है; उसमें 'यह तुम्हारी अमृत नाभि है; यह है तुम्हारे स्व च्छन्द पादमान की अरावली और यह है तुम्हारी सुषम शोभन कला की नेमि, एवं यह तुम्हारे पूर्ण परिक्रमारूप की परिसीमा, इस प्रकार से जब एतावत् की यंत्र-मन्त्र-तंत्र दीक्षा हुई, तब एतावती (given as mere such) है पृथ्वी एवं पृथिवी। इस प्रकार से सोमनाभि और मैत्रमाता की प्राप्ति हुई तभी पृथिवी है माता आदिमा। पृथिवी तत्व का बीज है 'लं'। इस बीज जप में विशेषत: प्रणव के साथ यत्किंचित 'यह' या एतावन् मात्र हो जाता है सोमनाभ, अमृतपात् एवं मैत्रमात्र। इन शब्दों की व्यंजना पहले प्रदर्शित की जा चुकी है। अर्थात् सबकुछ को Concetrate, Congruent, Consolidate करने का साधन है यह पृथिवी बीज का साधन। Geocentric Hypothesis को Astronomy से बहुत दिनों से त्याग दिया गया है; किन्तु पृथ्वीमाता तो सर्व 'एतावान्' की नाभि है। तथा नाभि संयोग को रखकर सर्व एतावान् स्वधर्म में तथा स्व छन्द में स्थिरता से वर्त्तमान तथा निरुद्वेग वृत्तिमान हो सकते हैं; प्रज्ञान की इस मूल वाणी को कौन विज्ञानवाद आज अस्वीकार करेगा ?

वेण आख्यायिका

वेण तथा पृथु की जो पुरानी आख्यायिका है; उसका मर्म इस प्रसंग में स्मरण करो। पूर्वोक्त एतावती सोममित्र संहति से च्युत होकर विषम क्रूर आदि छन्द में पतित होना, वेण के अधिकार में। समस्त काल में, सभी क्षेत्र में यही घटित होता है, अथवा हो रहा है। विषम क्रूरादि का दौरात्म्य प्रकाश प्राप्त करता है, सब कुछ में गांठ लगाकर, विभ्रम Confusion पैदा करके। शक्तिक्षेत्र में; विशेषत: मानस-क्षेत्र में खास करके इस वेण को पहचान लो। व=कोई शक्तिव्यूह। 'ए'—उसे (व) एक 'तल' दिखाकर कहता है 'तुम इस तल में पड़े रहो। 'ण'=मूर्धन्य शक्ति सम्पात। यह 'ए' कार की तलमुखी वृत्ति के फल को मानो ठुकाराये जा रहा है, उसे प्रभावित नहीं कर रहा है। 'व' की कोई तलाभिमुखी प्रवणता मानो 'deed' and not alive with respect to the incidence of Divine influence. जो जीवत्व भगवान् से विमुख है उसमें (जीव में) यही 'वे' रूप की प्रमुखता है। अच्छा 'ण' में योग किया 'उ' का। क्या हुआ वेणु। जीव में परम-परम रसवैमुख्य विद्ध करने ('उ' वर्ण में) एवं उसे रसमुखीन करने में प्रवण वेणु के समान कौन है ? ऊपर का जो स्पर्श आया और कोई सन्धान न पाकर वापस लौट गया, उससे वेणु के 'उ' के सिवाय कौन वेणु से कहेगा कि तुम कानों के भीतर जाकर क्या मेरे प्राणों को आकुल नहीं करोगी ? और 'वेन' यदि मात्र 'न' रहे

तब इस फारमूले से क्या विदित होगा ? कोई शक्तिव्यूह (व) यदि स्वयं को किसी तल (Plane) में उतार कर ऐसा करके रक्खे कि 'तत्संस्थाबाध्यसम्पन्नता' के बाहर वह जाने में असमर्थ हो जाये (is incapable of breaking the drag momentum of its own involved Complex) तब 'वेन' फारमूला (आकृति) प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के Complex के morbid तथा malignant ये दो रूप हैं। इन्हें जिक्ष और क्रूर भी कहा जा सकता है। अन्य प्रकार से इन्हें कहो उत्कट तथा नेपथ्य। 'त' वर्ग के अन्तिम वर्ण में विविध व्यंजना है। जो सम्पन्न (व्यंजना) है, वह कहती है 'यह मैं हूँ। इसके बाहर से मुझे कुछ लेना नहीं है और अपने में से कुछ भी बाहर नहीं जाने देना है।' यह जो 'न' है उसका तो परम मित्र होने में कोई बाधा नहीं हैं। फिर भी उसके पहले जो 'वे' (वेन का 'वे') है, उसके साथ क्रूर-जिक्षादि के एकत्र होने से महान् अनर्थ है। 'वेन' के सुन्दर होने में भी कोई बाधा नहीं है।

तवर्ग

'त' वर्ग की बात अनेक बार हो चुकी है। इसे सीधे-सीधे इस प्रश्न से लो। किसी भूमि में (Place or position) आये=त। उसमें पकड़ा=थ। वहाँ खड़ा है=द। चेष्टा करके कुछ को पकड़ा (जैसे वृक्ष का फल)=ध। तभी तो किसी फल से सम्पन्न हुआ=न। और कुछ नहीं चाहिये=न। यदि वह परम फल है तो यह 'ना' है उत्तम। यदि परम न होने पर भी श्रेयः है तब मध्यम। और यदि प्रेयोमात्र है तब=अधम। और यदि 'अधम' जिक्षक्रूर है, उत्कट नैपथ्य आदि रूप से दुःखभयावह है, तव उसे क्या कहोगे ?

पृथ्वी के इतिवृत्त में वेण तथा पृथु

पृथ्वी की परिस्थिति में और इतिहास में जड़ीय-मानस-समष्टि एवं व्यष्टि इन दो दृष्टिकोण से 'वेन' आकृति का विचार करो। जड़ीय दृष्टि (Physically or geologiacally speaking) पृथ्वी में पहले एक अत्युग्र (turbulent) अवस्था थी। उससे धरणी की जो यह क्रमविकास की धारा है क्या उसे यह प्रणाली लाटरी खेलकर मिली है ? छन्दः को बाँधने में, प्रणाली को पकड़ाने में किसी लोकोत्तर (Supra) छन्दः कुशल दिशानिदेशक की आवश्यकता नहीं है क्या ? उस लोकोत्तर शक्ति को कौन लोकोत्तर पुरुष जान सकेगा, यह तो बाद की बात है। किन्तु उसे 'कर्माध्यक्ष' प्रशासयितु छन्दः (ऋतम् मित्रम्) माने बिना किस प्रकार से इस अपूर्व विकासवाद की उत्पत्ति हो सकेगी ? Fortutious Conglomeration के साथ वर्तमान के Creative evolution और emergent evolution की तुलना करो।

विज्ञान में इस समय भी 'पासा' फेका जा रहा है; किन्तु एकमात्र वहीं क्या ? मानो पासा के भीतर कौन छिपा बैठा है जो कहता है—कहो किस ओर झुक जाऊँ किस करवट गिरूँ ? कुरुक्षेत्र के युद्ध में घटोत्कच की तरह (मरते-मरते भी शरीर को इतना विशाल किया कि कर्ण की आधी सेना उससे दब गई)। किन्तु यदि मरते-मरते घटोत्कच की इच्छा यह हो कि अपनी ही, पाण्डवों की सेना को दबा दूँ, तो ऐसा होना विचित्र नहीं है। यदि पांसा सीधा पड़ा तब ? विपर्यय की बात भी तो हो सकती है। यदि ऐसा नहीं हो, तब यदि उस स्थिति को कहो सुपर्यय, तब विकास परिणति के समस्त क्रमान्वय को विपर्यय रहित बनाकर सुपर्यय में लाने के लिये किसी न किसी संकट (Crisis) एवं सेतु (Passover) के सम्मुख होना पड़ता है। साथ ही गतिलेख के मुख को उलट देना पड़ता है। विपर्यय संकट को यदि सर्वत्र सामान्यतः 'वेन' कहें, तब सुपर्यय की सरणि तथा सारथी को साधारणतः कहो 'पृथु'।

पृथ्वी का जो यह वर्तमान आकृति प्रकृति संस्थान (Configuration of form and forces) है, जीवों की अभिव्यक्ति की जो विशिष्ट धारा (The Curve of accomplished biological evolution) है, कृष्टि एवं अध्यात्म विकास का जो व्यवस्थित क्रम है, इन सबको अनेक विपर्ययों के संकट से छुड़ाकर बारम्बार सुपर्यय की सरणि को पकड़कर चलना होगा। अतः 'वेन' तथा 'पृथु' को पौराणिकी गाथा में गूँथकर मत रखना। यह पृथ्वी भी उदाहरण में आ रही है, इसे स्मरण रखना। इस तत्वसूत्र का प्रयोग तथा विनियोग सर्वत्र है। तुम्हारे शरीर तथा मानस क्षेत्र में (अध्यात्म में) जपध्यानादि में विशेषतः इस तत्व सूत्र का प्रयोग विनियोग है। वेन अथवा वेण शब्द का फारमूला जिस प्रकार से यहां अंकित किया गया है, उसे अपने चिन्तन केन्द्र में रखना।

सङ्कट एवं सम्पत्

सभी क्षेत्रों में विपर्यस्त गति अथवा विपर्यय से संकट आता है। वह संकट अवजिक्षादि रूपेण सम्मुख आता है। संकट में समस्त सम्पदायें विपर्यस्त हो जाती हैं। यहां सम्पद् का अर्थ है दैवी सम्पद्। पृथु क्या करते है ? जहां किसी प्रकार की एतावती पूर्वोक्त संकटापन्न विपर्यय में शृंखलित (जैसे वर्त्तमान में प्रयोग विज्ञान; अध्यात्मसंहति सहयोग में; इन दोनों में) है, वहां संकटमोचन करके निमज्जित और विपर्यस्त सम्पत् का (Submerged and Subverted Values) दोहन करते हुये योगक्षेम का विधान करते हैं। फलतः जो विपर्यस्त है, वह हो जाता है सुपर्यस्त। संकट हो जाता है सम्पत्। कर्म होता है यज्ञ। शृंखल होती है शृखला। अर्थकाम प्रवृत्ति हो जाती है धर्मानुशासन विधिनिषेध। काम

चार हो जाता है शास्त्र, प्रेयः होता है श्रेयः। पृथु श्रीभगवान् के अवतार हैं। वे निखिल श्रेयः सम्पत्ति का दोहन करके पृथ्वी या पृथिवी को सार्थक नाम वाली कर देते हैं। वे ऐसा सर्वत्र तथा सदा करते रहते हैं। जैसे तुम्हारे श्वास विपर्यस्त चल रहे हैं। यह हैं वेन का अधिकार। यदि प्रणवादि जप से यह सुपर्यस्त तथा स्व छन्द-मय हो जाये, तब है पृथु का अधिकार। इस प्रकार ही समस्त एतावती संस्थाओं में प्राप्त करो।

पृथु परिचय

पृथु हैं वह दैवी संयुक्ति जिसके द्वारा एतावती मात्र में पूर्वोक्त संहति निरुपद्रव रूपेण प्रवर्त्तित होती है। जिसमे वात सिन्धु, उषा रात्रि औषधि वनस्पति, पार्थिव-रजः गाभी इत्यादि सबका उद्भव मधु माध्वी तथा मधुमान होता है। मधुमती ऋक् में पृथ्वी को माध्वी से ओतप्रोत रूप में कहा गया है। सोममित्र संहति की संगति की परिसीमा में लाने पर पृथ्वी को (अर्थात् सोममित्र छन्द में ग्रथित किसी एतावती प्रतीति अथवा संस्था को) इस मधु परिसीमा मे भरपूर ओत-प्रोत उपलब्ध किया जा सकता है। अतः एक मौनगभीर अनुभूति में प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अनुभूति की जो मग्नगंभीरता है, वह 'मधु' शब्द के 'उ' वर्ण से द्योतित हो सकती है। म=सोम। ध=समर्थ मित्रच्छन्द में धारण। उ=केवल वाह्य मात्रास्पर्श नहीं परन्तु सब कुछ के हृत् संवेदन में। विशेषतः औषधि=सोम। वनस्पति=मित्र। इत्यादि इन ६ भाव से ध्यान में उपलब्धि करो।

वाम उरु

पृथु से पृथ्वी, पृथिवी। वेन के वाम उरु (जंघे) के मन्थन से पृथु का आविर्भाव! 'वाम' शब्द सुन्दर भी है और उल्टा भी है। वेन में कार्यंकरी शक्ति (Momentum) का जो मुख है (Sense है) उसे उल्टा (reverse) किये बिना, जो विपर्यय तथा विपर्यस्त है उसमें सौष्ठव तथा सौषम्य नहीं आता। जैसे साधारण अजपा में (हंसयोग को छोड़कर) जो हंसः है उसमें ये सब क्षदिष्णु (Running Down) की ओर हैं। वर्णद्वय को उलटकर इसमें उर्ध्वंग 'इ' स्वर को लगाने से क्या होगा? (हंस को उल्टा करना सहं) (इ लगना अर्थात् सिंह)=सिंह=महाशक्ति। साधिष्ठ समर्थ भागवती शक्ति का वाहन।

दृष्टान्त सिंह

वर्त्तमान में अणु की आभ्यन्तरीण शक्ति का घर्षण घटित हुआ है। दोहन नहीं हो सका। जो वाम विक्रम परिसीमा 'सिंह' है वह सिंह नहीं, परन्तु प्रचण्ड जड़िमा की पराकाष्ठा जो मदोद्धत् 'कृष्ण मातंग' है वही महाआतंक के रूप में आत-

तायी हो उठा है। जगत्धात्री के ध्यान द्वारा यही कृष्ण मातंग सिंहवीर्य के द्वारा निपातित एवं निवारित होता है। जगत् के (पृथ्वी के भी) उद्भव, उदवर्त्तन एवं संरक्षण में प्रत्येक संकट संधि में इस प्रकार का कृष्ण मातंग अवश्य विद्यमान है और आज भी है। व्यक्ति के जीवन में भी इसके न जाने कितने रूप हैं। दुर्वार रिपु, दुर्जेय संस्कार और अभ्यास, दुलँघ्य परिवेश। यह सब संकटसंधि (Critical Juncture) आने पर 'वेन' हो जाता है वाम (The opportune redirection, reversal, re-valuation of what is critically contra-indicated.)।

वाम उरु कब ?

इस 'वाम' का 'उरु' होना आवश्यक है। क्या उरु अर्थात् Thigh ? वाम उरु ऐसा एक समर्थ शाक्ती तनु है, जिससे पृथ्वी का दोहन करने वाले पृथु आविर्भूत हुये हैं। अत: क्या यह मात्र Left Thigh ही है ? मध्य में र को रख कर दोनों ओर दो उ, उ+र+उ=उरु। र=अग्नि, तेज, रवि, भामती सम्पत्। उ= देवमुख्या प्राणशक्ति। जैसे एक बीज। उसमें जो निगूढ़ शक्तिराशि तथा उसका निजस्व लेख एवं छन्द: है (the entire economy of intrinsic power Deposit) उसे समर्थरूप से उन्मुख तथा उदित कराने के लिये जो आदिम प्राणसेतु है, वह है पहला वाला 'उ'। और समग्र परिवेश (environment) मृत्तिका, ताप, वायु, आलोकादि से शक्ति सामग्री को 'उपकुर्वाण' कराने के लिये बाद वाला 'उ'। इन दोनों (सेतु एवं सहाय) के बिना वीज को अंकुर आदि उनके इन दोनों सेतु सहाय के बिना बीज क्रम विकास प्राप्त नहीं होता। 'उरुक्रम' नहीं होता। अध्यात्म आदि समस्त क्षेत्र में इसका परीक्षण करो। उरु एवं वरुण— वरुण में 'उ' के स्थान पर 'व' क्यों है तथा अन्त में 'ण' ही क्यों है, इन दोनों आकृति के सादृश्य एवं वैसादृश्य पर ध्यान दो।

वेन शब्द तथा पार्थ स्पन्द

पृथु प्रकट हुये वेन के उरु मन्थन से। वर्त्तमान घर्षणजात (Power By rupture method) जो आणविक शक्ति है, उसे वाम उरु मंथन द्वारा 'पृथु' न कर सकने से पृथ्वी की निखिल सम्पत्ति का दोहन कर सकने में सक्षम उपायक (सेतु एवं सहाय दो रूप से) नहीं मिलेगा। (आणविक विस्फोट से जात तैजस उर्मि Radiation समूह में जो पृथु है उसे बचाकर अन्य का परिहार करना आवश्यक है)। यम नियम, जप, ध्यान, प्राणायाम इत्यादि व्यक्ति साधन में ही इस पृथु रूप को यत्नपूर्वक साधना होगा। हमारा यह जो स्थूल सूक्ष्म यन्त्र है इसकी स्थिति तथा गति, दोनों का मूल है स्पन्द। उसकी वेन सम्पदा का निराकरण करके उसमें प्राण स्पन्दन को कैसे लाया जाये, यही तो प्रश्न है। ओंकारादि महानाम भाव तथा छन्द: की सहायता से जप में यह सहज में ही साधित होता है और वह हुआ पार्थ। पार्थ-

सारथी सहायक होकर निखिल दैवी सम्पत्ति के दोहन में समर्थ हैं, इसमें क्या संशय 'कः संशयः' ! युद्ध में पार्थसारथी ने पार्थ को विश्वरूप प्रदर्शित किया। तुम यदि अपने जीवन कर्म में वह विश्वरूप देख सको तब स्वयं को धन्य मानो।

पृथु शब्द

मान लो 'प' कार में कोई स्पन्द है। 'ऋ' उसे 'उर्ध्वधाम्नि' में उद्धृत करता है। 'थ' उसे स्थिर करता है (अर्थात् क्षण काल के लिये भी इधर उधर नहीं होने देता)। अन्त में 'उ' कार में निखिल अभ्युदय निःश्रेयस दोहन में सक्षम बनाया। 'दुह्' के 'उ' तथा पृथु शब्द को लक्ष्य करो। 'ऋ' से कृति एवं कृपा को अन्वय में पाना होता है। Aspiration एवं grace को जिस प्रकार से प्राप्त होना चाहिये, उसी प्रकार अन्य दो को एक साथ होना चाहिये, यह निर्देश थ एवं उ करते हैं। वे दो क्या हैं ? हे पार्थ ! पहले तुम धीर बनो, तत्पश्चात् ?

वीर-धीर-शूरभाव

भागवती शक्ति के 'स्वधाम्ना' से समुद्धृत, समाकृष्ट एवं परिणाम में समावृत्त जो (सर्वएतावत्तावच्छिन्न) धीर, वीर तथा शूरभाव है, उसे पृथु शब्द के अर्थ का राहस्यिक लक्षण जानो। शूर ही होगा सूरि 'सदा पश्यन्ति सूरयः'। इस पृथु के बिना यह पृथ्वी या पृथिवी हो ही नहीं सकती। पृथु तथा पृथ्वी में जो 'थ' वर्ण है उसके माध्यमिकता तथा मुख्यता के फलस्वरूप धीर स्थिर भाव समधिक रूप से विद्यमान है। इसलिये ही पृथ्वी में कौर्मशक्ति का अधिष्ठान है। 'स्थिर सुख' जो आसन है, वह पृथ्वी तत्व में ही आधेय है 'पृथ्वी त्वया धृता लोकाः' इत्यादि। 'त्वञ्च धारय मां नित्यं' इसका स्मरण करो।

जपध्यानादि सब कुछ की धृति, स्थिरता के लिये पृथ्वीमाता की अनुकम्पा आवश्यक है। तब भी स्थिरता कहीं जड़िमा न बने, इसीलिये आगे और अन्त में स्वरद्वय को (ऋ एवं उ या ई को) सदा सजग रहना होगा, नहीं तो Entropy या Cosmic Rnnning down की विश्वव्यापी जड़िमा से उद्धार नहीं होगा। पृथ्वी एवं पृथिवी शब्दद्वय में 'व' में एक रोधिका वृत्ति (Storing-Massing) रहने की स्थिति के कारण सब कुछ को जड़ तथा स्थिर करने का एक संवेग वहाँ प्राप्त है ('व')। 'ऋ' तथा 'इ' वर्ण उस 'व' के बन्ध संवेग को (Inertia) मानो सौष्ठव विश्लेषण (Symmetry analysis) के लिये सदा उन्मुख तथा प्रस्तुत रखते हैं—यह देखना होगा। 'ऋ' में सब का स्वधायन (homeward transformation) तथा 'इ' में सब के 'स्वाहायन' (Homeline progression) की संभाव्यता तथा प्रस्तुति दिया गया है।

पृथिवी के अनेक रहस्यनाम । क्षिति तथा क्षति

पृथ्वी के कतिपय रहस्यनामों में 'क्ष' अक्षर है जैसे क्ष्मा, क्षौणी, क्षिति। 'क्ष' वर्ण अक्ष अथवा धूर सूचक है। इसलिये 'क्ष्मा' वह तत्व है जिसमें सर्वतत्वों के संघात (Co-ordination) का अक्ष स्थापित है। अतः 'स्थां स्थीं स्थिरोभव' कह कर सब कुछ को अक्षाश्रय में प्रतिष्ठित करना पड़ता है। तभी समुद्रमन्थन में कौर्म-शक्ति अक्षपीठ है। सुषुम्ना के अक्ष मूलाधार में वही तत्व प्रतिष्ठित है। क्ष्मा के बिना अक्षप्रतिष्ठा का पीठ कहां होगा? सभी भूमियों में यही समझो। अणु में, जीव-कोष में तथा अहंकार में। सभी अपने परिणाम चक्र की अक्षपीठ को दिखलाकर कह रहे हैं—यहां समस्त आवेग संवेग की 'खूंटी' गाड़ो और तुम वृत्तिवान् एवं व्यापार-वान् हो जाओ'। क्ष्मा में कूर्म, क्षौणी में वाराही शक्ति है, क्षिति में सुतल मेरुपृष्ठ शक्ति की मुख्यता है। अन्त में तल और मेरु का स्मरण करो। जैसे एक पैराबोला अंकित किया। किसी Directrix का कोई Axis (क्ष), दोनों ने मिल कर अपने तल (त) का निर्देश किया। अक्ष में किसी स्थिर बिन्दु (Focus) को पकड़ लो। अब यह स्थिर विन्दु तथा यह स्थिर निरूपक रेखा (Directrix) इन दो के साथ दूरत्व समान रहे, ऐसा संकल्प करके कोई अन्य एक विन्दु चलना चाहे (इ) तब उसका गतिपथ (Curve) अक्ष को जहां प्राप्त करेगा, वही होगा मेरु। इस मेरु के दोनों ओर (उर्ध्व एवं अधः '+' —) सुषम भाव से (Symmetrically) जो गतिवर्त्म रचित हुआ वह है सुतल और उसका मेरु संस्थान है मेरु पृष्ठ। क्षिति शब्द में यही भावना रहती है। किन्तु दृष्टान्त द्वारा देखो कि क्ष, त, एवं उन उन के साथ 'इ' 'इ' की संहति (क्षि तथा ति) यथायथ रक्षित होनी चाहिये। उक्त योग्य संहति धारणि तथा रक्षणी शक्ति के ठीक रहने पर धरा, धरित्रि, धरणी। किन्तु धरणी एवं रक्षणी वृत्तिद्वय सम्यक् रूप से न होने पर क्षिति में विपर्यय घटित होने से क्षति एवं क्षत रूपी विपरिणाम होता है।

क्षौणी तथा क्षुण्ण

इस प्रकार क्षौणी के क्षुण्ण होने से नहीं चलेगा। जपादि सर्व साधन में पृथिवी तत्व का स्थैर्य प्रतिष्ठित है, एवं पृथिवी की जो क्षिति आकृति है, उसमें स्थित होकर अनुलोम-विलोम, उदय-विलय ही दोनों ओर उपकुर्वाण गतिरूप (जैसे ओंकारादि जप में) की रक्षा करे। (क्षिति में स्थित दो इ कार यही सूचना देता है)। यह बात क्षिति तत्वाश्रित जप तथा ध्यान में विशेषतः स्मरण रखना होगा। इसके व्यतिक्रम से जड़िमा, स्त्यान, दौर्मनस्य इत्यादि लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इनका सयत्न निराकरण करना चाहिये। जैसे क्षत् रूप से Leakge के साथ Exhaust भाव जपादि में आने पर क्षत्र (शौर्य) भाव से उसका प्रतिकार करना कर्त्तव्य है। वाक्-प्राण-चित्त में क्षत् (Leak and drain) होने पर वहां आत्मगुरु कृपा-

लब्ध रक्षा शौर्यं (Brake इत्यादि रूप से) का प्रयोग करना ही होगा । 'ॐ ऐं'—ॐ सोऽहम् इत्यादि इसमें सहायक हैं ।

स्थिर एवं ध्रुव

अणु से विराट पर्यन्त (जैसे सौर जगत् में), बाहर-भीतर-सर्वत्र पृथिवी को क्ष्मा, क्षौणि, क्षिति इस आकृतित्रय में प्राप्त करके तब सब कुछ यथाक्रमेण अपनी नाभि, अर तथा नेमि सम्बन्ध मे एक एक (स्थिर अथच अवष्टम्भक नहीं) पीठ, आधार एवं आसन प्राप्त कर रहा है, यह जानना होगा । Atomic अथवा Cosmic Configuration की stabitity, continuity of the germplasm, संस्कार तथा संसृति धारा जिस शक्ति लेख की निजस्व आकृति तथा छन्दः को पीठादिरूप से धारण करते हैं वह है 'पृथिवी विश्वस्य धारिणी' । देखो कि एक स्थिर 'एतावान' (here-now-this) अनुभव के उपर ही निखिल चराचर प्रतिष्ठित है । शोधन तथा बोधन में इस आपेक्षिक को परमध्रुव में ले जा सकने पर ही आत्मा या ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति होती है ।

जप में विशेषतः विन्दुमेरु में क्ष्मा, नादमेरु में (जैसे वरेण्यं) क्षौणी एवं अकारादि अथवा भूरादि वितान मे क्षिति सम्यक् रूपेण समाश्रयणीया है । क्ष्मा के साथ क्षम, क्षमता, क्षमा तथा क्षेम आकृति को प्राप्त करना होगा । क्ष्मा की प्रसन्नता के अभाव में 'क्षेम' होना संभव नहीं है । उस स्थिति में क्षमा तथा क्षेम कहीं भी संभावित नहीं होता ।

वासुकि

किन्तु स्थिरत्व तो विश्व व्यवहार में आपेक्षिक है, यहाँ तक कि आभासिक है । एक ओर अनपेक्ष ध्रुव की प्राप्ति के लिये जीवन में जपादि सर्व क्षेत्र में अस्फुरन्त परिक्रमा की जाती है; उस 'चलती चक्की' की कील को पकड़ने के लिये । यदि कील को पकड़ लेने पर चक्की घूमे तब तो अति उत्तम । सभी अवस्थाओं में क्षमा, क्षेम, क्षान्ति तथा क्षमता इन चारों के निमित्त है क्ष्मा । सहनशीलता एवं तितिक्षा इन दो की प्रथम भूमिका के लिये क्षिति । धीरता के लिये क्षौणी, इन तीन में प्रतिष्ठित हो जाओ । गायत्री आदि जप में विन्दुमेरु में क्ष्मा, नादमेरु में (वरेण्यं) क्षौणी तथा सुषम कला वितान में क्षिति को प्रसन्न होना चाहिये । विन्दुमेरु (पराव्यक्त के) के दोनों और अर्द्धमात्रा रूप सेतुद्वय को क्ष्मा र क्षम (उदय में) तथा क्षेम (विलय में) रूप जानो । उदय में मूलाधार में अग्नि उद्दीपित नादरूपेण प्रकट होती है । यह है क्षम । और विलय के अन्त में ललाट मध्य में आज्ञास्थल में सोम अभिषव है, यह है क्षेम । इस क्षमा तथा क्षेम को समर्थ एवं स्व च्छन्द रूप से जप में प्राप्त किये बिना अग्निषोमीय समंजसता साधित नहीं होती । सुषुम्ना की प्राण-

वृत्ति भी घटित नहीं होती। जप में नादमेरु पर्यन्त (जैसे वरेण्यं) क्षमता (कर्म एवं बुद्धि प्रयास तदनन्तर क्षान्ति (प्रपत्ति); एवं अन्त में विन्दु विलय में शान्ति। क्षम तथा क्षेम रुपी पक्षद्वय सम्यक् रूप से समाश्रित न होने पर उदय के प्रयास में आती है श्रान्ति और विलय प्रयास में विलुण्ठन क्रमेण आती है क्लान्ति। चढ़ाई में असफलता से श्रान्ति और उतराई में क्लान्ति स्थिरत्व-धीरत्व, सभी तो आपेक्षिक कोटि में (In the frame of relativity) हो रहे हैं। अनपेक्ष ध्रुवकोटि को, जिसकी बात गीता में उर्ध्वमूल अधः शाख अश्वत्थ की उपमा द्वारा कही गयी है, प्राप्त करने के लिये आपेक्षिक से कहना होता है 'तुम अपेक्षा करो, मैं परीक्षा करुं'। अनुपात जब तक तबतक अपेक्षा। 'क' नामक वस्तु की आपेक्षिक गति स्थिति निर्भर करती है 'ख' तथा 'ग' के अनुपात पर।

जैसे इस पृथिवी का अपने कक्ष तथा अक्ष में स्थिति एवं आवर्त्तन। अणु से विराट तक, भूतसमूह से अध्यात्म तक, सर्वत्र तत्तद् देश काल कारणावच्छिन्न संस्थान (situation) संस्थापक जो शक्ति अनुपात (Ratio of constituent forccs) है, उसे यदि कहो वासुकि, तब इस वासुकि के फण के उपर ही पृथिवी (समस्तऐतावती संस्था) स्थित है और उस फण के हिलने डुलने से सब कुछ हिलने-डुलने लगता है। अणु-प्राण, मन, विराट सब में। व = गच्छित शक्ति (potential), कि = कार्यकारी शक्ति (Kinetic), मध्य में है असु = प्राण = सेतु = दोनों का साहित्य अनुपात। वासुकी का फण है यह 'कि' (= कार्यकारी शक्ति)। ये नाग-राज क्यों कहे जाते हैं, विचार करो न + अ + ग = अप्रतिरुद्धगति (unobstructed motion, self-initiated self-maintained) = काल। यह काल ही देश के साथ मिलकर देश सम्बन्ध द्वारा वक्रतासम्पन्न हो जाता है। सब का जो 'हृदय' है वह अपने 'हृद्देश' की तुलना में हो जाता है कुटिल और हृद्देश हो जाता है जटिल। किसी सुदूर नक्षत्र से गतिशील रश्मि रेखा धरती पर ऋजुपथ से आने पर देशमार्ग में सौरादि ज्योतिष्क के सान्निध्य में आने पर वक्र हो जाती है। जपध्यानादि में भी यही होता है जैसे ओंकार—कण्ठ देश में वैखरी जप हो रहा है। कण्ठ में बाधा रहने पर नाद कम्पित होगा। खण्डित होगा, इत्यादि। स्नायु-श्वासादि बाधा हेतु प्राणायाम। कण्ठ मेरुदण्डादि के लिये पद्मासन सिद्धासन एवं जालन्धर खेचरी मुद्रा सहायक है। सर्पिल, सरीसृप, सर्प, ये सब सतर्क रहने के स्थान हैं।

जप में उदाहृत

कुण्डलिनी प्रसंग में नादरहस्य और भी विस्तारित होगा। अब यह समझो कि वासुकी किस प्रकार से पृथिवी को अपने शिर पर रखते हैं ? वासुकी नाग की अनुकम्पा से तुम्हारा जपादि साधन वासुकी के फण रूपी पीठस्थल पर सम्यक्

रूपेण प्रतिष्ठित हो जाये। जप के समय नाद एवं भाव हैं वासुकी के फण। नाद एवं भाव के छन्दोगत्व संस्थापक के रूप में वासुकी की भावना करो। केवल इस पृथ्वी की जो स्थूल संस्था (स्थूल रूप) है (Physical configuration), उसी के लिये वासुकी के फण पर 'भार' मत डालो। जैसे पृथिवी का वर्त्तमान ताप के आय एवं व्यय के बैलेन्स को बनाये रखने के लिये, उसे स्व छन्द में रखने के लिये वासुकी के फण को (Everage Kinetic energy as heat) भूगर्भ में एक निरन्तर चलने वाले यज्ञ (Radium के emanation) का आयोजन करना पड़ा है। इस देह अथवा अन्य प्राणि देह के सम्बन्ध में भी ऐसी ही क्रियाकारकता है। यह पृथिवी तो एक विराट एलेक्ट्रो मैगनेटिक यन्त्र भण्डारण है। अतएव इसकी अपनी एलेक्ट्रो मैगनेटिक फील्ड है एवं वह योग्याकृति लाईन आफ फोर्स द्वारा सूचित एवं निरूपित है। अब विराट शक्ति को यदि कहा जाये (उस सम्बन्ध में) वासुकी का फण, तब अणु एवं विराट में अहरहः इस प्रकार के प्रतीक पर कल्पना कुशल विज्ञान क्यों हंसेगा ? Kinetic Theory of gases की व्याख्या में मैक्सवेल का वह Sorting Demon विद्रूप की वस्तु निश्चय ही नहीं है। वासुकी और भी गंभीर तथा सार्वभूमिक रहस्य है। एक सावन के बुद्‌बुद से प्रारम्भ करके स्वप्न सुषुप्ति धारणादि समाधि आदि कहीं भी तुम वासुकी के फण के छोड़ कर नहीं हो। जब तक आपेक्षिक [Relative] है, तब तक आनुपातिक [रेशियो प्रपोर्शनल] है।

पुनःश्च सोम एवं मित्र

पहले सर्वक्षेत्र में सर्ववस्तु की जो अभीष्ट मानमर्यादा की 'माता' है, उसे मित्र कहा गया है। मित्र सबको उसका अभीष्ट Tune प्रदान करते हैं, और सोम देते हैं Tone। मित्र देते हैं छन्दः, सोम देते हैं सुर। सोम है भाव, मित्र है व्यञ्जना। सोम रस देते हें, मित्र प्रदान करते हैं अयन। सोम नेचर, मित्र कल्चर। जो कुछ एतावत् अथवा एतावती रूप से प्रतीति में आता है, उसमें इस सोम-मित्र संघात के रहने पर उसे पृथ्वी या पृथिवी कहते हैं, यह लक्षण पुनः स्मरण किया जा रहा है। इसे 'भू' के साथ अकेले मत मिलाओ ! (भूः के लक्षण का स्मरण करो) विसर्ग रहने पर तथा 'अव्यय' होने पर यह है आदि व्याहृति वर्ण। यहाँ यदि सोममित्र संघात को संक्षेप में कहो पात (सहपात या सम्पात), तब इस पात को 'वि' न करके ('वि' को न लगाकर) अनु (अनुपात) करके जो रखता है, वह है वासुकी। यह पृथ्वी में सब कुछ की स्थिर प्रतिष्ठा का तत्व अवश्य है किन्तु अव्यय अक्षर जो ध्रुवत्व है, वह है काष्ठा में। -धाम्नि' अध्वनि नहीं।

भूभार

न जाने कितने विस्तृत रूप से पृथिवी सूत्र की आलोचना की गई। पृथिवी को व्यापिका करके स्थूल-सूक्ष्म-आध्यात्मिकादि समस्त भूमि को समझने का यह प्रयास

था। पृथ्वीभार, भारकेन्द्र—इन सबको भी अनुरूप भाव से विश्वव्यवहार में प्राप्त करना होगा। जैसे इस पृथ्वी का यह जो Physical Mass है, वह केवल उसका भार नहीं है और सेन्टर आफ Gravity भी उसका केन्द्र नहीं है। यह सब जड़ परिच्छेद की खण्डित बाते हैं। वस्तुत: भरण तथा पोषण करने वाले सोम इस भार साम्य का रक्षण करते हैं। मित्र मर्यादा में रहने के कारण इस पृथिवी को केन्द्रस्थ, केन्द्रवश तथा केन्द्रीण रखने का कर्म करते हैं।

यह कर्म साधारण तथा वाह्यमात्र नहीं है। Physical mass-Energy और Energy = Power as unrestricted, undiminished whole (समग्र सत्ता शक्ति) इन दो समीकरण को स्मरण रखते हुये, भूभार को मात्र जड़ताजन्य 'चाप' इत्यादि मत सोचने लगना। धरा पृष्ठ पर प्राण एवं चेतना का गौरव अथवा लाघव विशेषत: पकड़ना होगा। कृत आदि चार युग एवं उन-उन युगों के लक्षण, इसका भारसाम्य सूत्र द्वारा परीक्षण करना होगा।

भारकेन्द्र

सृष्ट अथवा भूत पदार्थ समूह स्थूल-सूक्ष्म-कारण रूप त्रिविध एवं प्रकारान्तर से पंचविध अथवा सप्तविध संस्था (Constitutional Scheme) हैं। जैसे हमारे इस शरीर में। अत: स्थूल के परिच्छेद में जो भार अथवा भारकेन्द्र है, सूक्ष्मादि और समग्र के क्षेत्र में वह भार अथवा भारकेन्द्र नहीं है। अणु के न्यूक्लियस में अणु की नाभि, हृदय या हृल्लेखा नहीं मिलती। अणु की नाभि के सन्धान में (वैज्ञानिक) गति कथंचित् जिह्मगा हो सकी है, परन्तु वह ऋजुगा नहीं है। अर्थात् शक्ति के क्षेत्र में विज्ञान ने अपनी (मांसपेशी) 'पेशी' फुलाकर दिखलाते हुये तेज: तथा बल की अभिवृद्धि तो कर लिया है, परन्तु प्राण तथा उसकी महीयसी ओज: शक्ति को उसने वंचित तथा कुंठित ही रख छोड़ा है। उसे 'ऐशी' (ईश्वरीय) का कुछ भी 'अता-पता' नहीं नहीं है।

यह स्थूल पृथ्वी ही समग्र पृथ्वी नहीं है। यहाँ तक कि यह उसकी मुख्य पृथुरूपता की प्रतिष्ठा भी नहीं है। इसलिये पृथिवी अथवा अन्य किसी एतावतावच्छिन्न पदार्थ का 'भार' 'भारकेन्द्र' एवं 'भारसाम्य' का विचार करने के लिये Centre of Gravity इत्यादि स्थूल केन्द्रादि में दृष्टि निबद्ध करने से नहीं चलेगा। समग्र सत्ताशक्ति का वाह्य अवक्षेप (through or let down) मात्र है स्थौल्य। जो शक्ति स्वयं का अवक्षेपण कर रही है, वह उससे उर्ध्व में उसकी नियामिका (त्रिपात् होकर) होकर विराजित है। वह है प्राण एवं चेतना के क्रमोन्नत स्तर पर ही। अत: उसका केन्द्र (नाभि, हृल्लेखा एवं बिन्दु) स्थूल से सम्बन्धित होने पर भी उसमें स्थित नहीं है। अवक्षेपापि शक्ति एवं उसकी अवक्षिप्त स्थौल्यादि

आकृति में सोम-मित्र संहृति की रक्षा करना, ही धर्म है। अन्यथा धर्म की ग्लानि हो जाती है। धर्म वृषभ रूप से तथा पृथ्वी गौरूप से कल्पिता हैं। काम क्रोधादि (विशेषतः हिंसा) भूयिष्ट भावना प्रबल होती है, इससे भूभार किस प्रकार से वृद्धिगत होता है, इसका विचार करो। आणविक-मारणास्त्र के कारण भी। Mass = Energy = Power unlimited. यह सर्वदा स्मरण रक्खो।

भूभारहरण

जप यज्ञ, नामयज्ञ, सत्य सुन्दर शिवध्यान, शान्तिवचन, स्वतिवाचन, भूभार को कम करने में सहायक हैं। एवं भगवती शक्ति या उद्बोधन एवं अवतरण भी। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों में यह होता है।ॐ स्वस्ति, ॐ शान्ति इत्यादि मन्त्र को ३ बार जपना वाचिक व्याहरण भार के (सर्वविध Tense परिस्थिति में) लाघव तथा समताविधान में हितकर होता है। यह सूत्र सदा याद रक्खो कि 'ॐ' ही निखिल के विन्दुस्थल में स्थित होकर उनके उदय, विलय एवं सेतु रूप में त्रिधा व्यापारवान् रहता है। 'त्रेधा निदधे पदम्'। अतः नामयज्ञादि समस्त मांगलिक कर्म में ॐ की अनुवृत्ति छन्दोगा होनी चाहिये। ओंकार का छन्दः है गायत्री। वे छन्दो-माता हैं 'अमृतस्य दुहाना'।

ओंकार की चाक्षुषी आकृति

ओंकार की चाक्षुषी आकृति (पश्यन्ति के पर्याय में) चतुर्विधा है। सभी क्षेत्र में उक्त चतुराकृति की इस प्रकार से भावना करो—

उर्ध्व शुण्डमधःशुण्डं द्विधाव्यावृत्तशुण्डकम्।
सर्गविसर्गसन्धीशं नौम्योङ्कारविनायकम्॥ ११४॥

उर्ध्वशुण्ड आकृति सर्ग या उदय की द्योतक है। अधः शुण्ड विसर्ग या विलय (कारणलय) है। उर्ध्व एवं अधः द्विधा व्यावृत शुण्ड उदय एवं विलय संधि का रूप है। इस त्रितय या चतुष्टय के अधीश ओंकार रूपी विनायक को सर्वार्थ सिद्धि के लिये प्रणाम करता हूं। गायत्री, ओंकार आदि जप में ओंकारेश्वर विनायक का यह रूप ध्यान में लाओ एवं अपने व्याहरण में प्राप्त करो। यहां सेतु = अर्द्ध-मात्रा है।

भूभार (अपने में तथा सर्वत्र) के लाघव एवं हरण हेतु ओंकार विनायक के इस विग्रह चतुष्टय का यथोपयोग आश्रय लो। वाचिक जप में तथा कीर्त्तन में उदय मुख्यता है। मानस जप ध्यान में विलय मुख्यता। प्रबोधन जागृति एवं निवेदन समर्पण में उर्ध्व अधः व्यावृत शुण्डरूपा जो सेतु है, उसकी मुख्यता रहती है। भारहरण कर्म में 'हरि ॐ' तथा 'हरिबोल' प्रमुख हैं।

स्वस्ति एवं शान्ति

जपादि साधन का उद्येश्य हुआ—अपने में या सबमें जो अपकेंद्रीणादि (eccentrcities) आकर वहां पृथिव्यादि तत्व को 'विलक्षण' विरुद्ध लक्षण करके स्थिति विपर्यय तथा गति विपर्यय (Malajusted and preventd) कर रही हैं, उन्हे क्रमशः सुकेन्द्रीणता में लाना। इसके लिये विभिन्न अभिनिवेश आवश्यक हैं यथार्थ छन्दोग होने तथा सम्यक् धामग होने के लिये। प्रथम है स्वस्ति, द्वितीय है शान्तिः।

[ॐ स्वर तीन मात्रा में हैं अर्थात्[1] प्लुत, [2]उच्चारण से विन्दुगामी, [3]सूक्ष्मतः म् उच्चारण करना होगा। त्रिधामात्रात्मिका स्थिता। स्थूलतः उ में तीन, 'म' में एक इस प्रकार ४ मात्राओं में ओंकार उच्चारण आवश्यक है। ये चारो स्थूलतः व्यक्तवैखरी मात्राये हैं। अपर ४ सूक्ष्ममात्राओं का साथ न रहने से तारचक्र या सविता स्वर अर्धग्रस्त हो जाता है]

जो सर्व पदार्थ का नाभि आदि रूपेण मर्मस्थल है, यदि उसे कहें 'स्वः' तब उस तल को अथवा उसकी जो गतिस्थिति है, उसे क्या कहा जायेगा ? उसे कहेंगे 'स्वति'। अतएव सब कुछ उसके 'हृदिस्थित' के साक्षात् संयोग में स्थित होकर नाभि केन्द्रीण रूपेण चलने पर स्वस्ति में रहता है। स्वस्ति के साथ पृथ्वी सम्बन्ध की पुनः भावना करो। ओंकार विनायक का जो चतुष्ठय शुण्ड विन्यास है, उसमें से प्रत्येक अपने-अपने सम्बन्ध में 'स्वस्थ' रहने पर 'स्वस्ति' है। शुण्डाधान तथा सन्धि का जो विन्दु है उसमें सौम्यसमर्पण = शान्ति, इसे भी स्मरण रक्खो। यन्त्र में—समर्थ शक्तिलेख आकृति में स्वस्ति और स्वस्तिक का विचार करो। स्वस्तिक के अतिरिक्त पृथ्वी या कोई भी ऐतावती प्रतिष्ठा स्वस्ति में नहीं रहती। हिटलर ने 'स्वस्तिक' को चिन्ह बनाया था, किन्तु सौम्यदर्शन के स्थल विन्दु में स्वयं को स्थित नहीं किया था, फलतः शान्ति न हो सकी। स्मरण रखना होगा कि जब ओंकार स्वयं को मूल विन्यास विशेष स्वस्त्यायन तथा शिवायन में लाता है, तब वह है स्वस्तिक।

स्वस्ति-स्वस्तिक-स्वस्त्यायन

स्वस्ति = मन्त्र। स्वस्तिक = यन्त्र, स्वस्त्यायन = तंत्र। सभी मन्त्रो को स्व में स्थित (स्वस्थ) रखना प्राप्त करना = स्वस्ति। सर्वविध यन्त्र एवं आसन को स्थित रखना = स्वस्तिक। सर्वविधि तन्त्र को स्वयं कुशल करना = स्वस्त्यायन। सोमनाभ हुये बिना स्वस्ति नहीं होती। किसी मन्त्र या मन्त्र जप में (जैसे प्रणवादि से विन्दुदितता, विन्दुलीनता) पृथ्वी के प्रसन्न हुये बिना कोई भी यन्त्रासन (Apparatus या Power ।osture) किसी भी क्षेत्र में (जैसे सामाजिक, अर्थ

नैतिकादि परिस्थिति में) स्वस्तिक नहीं होता और मित्र को मैत्र में प्राप्त किये बिना कोई गति (कर्म या अनुष्ठान) स्वस्त्ययन नहीं होता।

पृथवी का गुण

पृथ्वी में आकाशादि समस्त भूतों का गुण रहता है, विशेषत: गंध का। गन्ध = Smell ही नहीं है। गन्ध शब्द का पुन: विचार करो। भूतगण राम नाम के भय से भाग जाते हैं, गंगा नाम से भी। क्यों? 'गं' बीज उसमें है। गंध में भी वह 'गं' बीज है।

ब्रह्म का जो स्वत: एवं शाश्वत गतिरूप है यदि उसे प्राण कहें, तब वह प्राण = महाकाल = महानाद। यह है व्यंजन वर्ण की तीसरी मातृका 'गं'। ब्रह्म के स्वत: चलित गच्छति या ऋच्छति रूप में विश्वत: प्राणन् कलन तथा नदन को एक साथ स्थूल सूक्ष्म, अणु-विराट प्रभृति विविध केन्द्रपीठादि संस्था में धारण किये बिना सृष्टि की उपपत्ति ही नहीं हो सकती। कोई तो नहीं बोलता 'यह देखो, चलता हूँ तब भी हूँ'। और चलते-चलते कहीं तो स्थिर होना ही होगा। 'गं' को धारण एवं आधान करना ही 'गन्ध' है। यह स्पष्ट है कि यह पृथ्वी का ही विशेष गुण है। स्वभाव की विशिष्टता है। मनुष्य व्यवहार में रूप शब्दादि की तुलना में गन्ध का गौरव अवश्य नहीं है, किन्तु हमारी धातु, प्रकृति संस्कारादि रूप में जो गभीर आधान भूमि है (Basic being) उसके साथ गन्ध का (Smell का भी) अति घनिष्ट सम्बन्ध है। अत: उस आधान तथा आकर भूमि से किसी श्रेय: या विपरीत वृत्ति को जागरित तथा अन्य रूप से प्रभावित करने में गन्धशक्ति मुख्य है। गंध विज्ञान (तत्व एवं प्रयोग में) की प्रयोजनीयता भी किसी से कम नहीं है। 'अग्निषोमीयं जगत्' अत: गंध भी अग्निमात्रा तथा सोममात्रा का विचार करता है। जैसे कमल, शेफाली इत्यादि पुष्प। चन्दन में सोम मुख्यता है। धूप में अग्नि, गुग्गुलु मे सोम की। गन्ध प्रयोग में देखो कि अग्नि तथा सोम की समता रक्षा मित्र के द्वारा होती है।

सत्वादि गुणत्रय के साहित्यानुपात में भी गन्ध का विचार करना होता है। प्रत्येक पदार्थ की जो सत्ता (Subtstance or energy) है, वह उसकी निजस्व गन्ध को ही विशेषत: एवं नियत रूप से अपना 'प्रतिभू' करती है। जैसे चेहरे को कितना ही बदलो, तुम्हारी जो अपनी गंध है, उसे तुम्हारा कुत्ता ठीक से पहचान सकता है। शब्द रूपादि के समान गन्ध का भी अति (Supra) तथा अव् (Ingra) ग्राम है।

स्वाभाविक शब्द और रूप के सम्बन्ध में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका। गंध के स्वभाव को समझने में पृथ्वीतत्व को समझना होगा। 'स्वभाव में लाना' को

पूर्वोक्त प्रकार से समझना होगा। कौन वस्तु यथावत् वही (स्व) रहने पर उसमें, उसके अधिष्ठान में जो रहता है (भाव) वही है उसका स्वभाव। इसे स्मरण रखना। इस भाव को जो व्यवस्थित रक्खे वह है भू=पृथ्वी की 'धातव' संज्ञा।

तभी प्रत्येक वस्तु अपने गन्धरेणु में आहित है। प्राणाणु, मानसाणु में भी स्वगन्ध है। अतः पार्थिवत्व भी है। जपादि क्रिया में भी है। सूक्ष्मतः सभी कुछ पांचभौतिक ही है। सर्वभूतों में सर्वस्तरों में, सर्वगन्ध की जो अधीश्वरा हैं उन्हें कहते हैं गन्धेश्वरी माता। इनकी प्रसन्नता के बिना विश्व में भीतर बाहर सर्वत्र एक पचन विक्रिया (Universal rot and decay) प्रारंभ हो जाती है। पृथिवी मिट्टी के रूप में समस्त सड़े गले दुर्गन्धित का जारण शोधन करती हैं। यह है क्षमा का क्षमा रूप। सुगन्धि पुष्पादि का भरण पोषण करती हैं क्षेमदा होकर।

गन्ध सौन्दर्य, माधुर्य तथा सौष्ठव की काष्ठा को यदि 'सुगंधि पुष्टिवर्धनम्' कहा गया, तब स्वयं में बन्धनमुक्त उर्वारुक के समान साक्षात् अमृतगन्धिकों की काष्ठा प्राप्त करने के लिये पृथ्वी को क्षमा तथा क्षेमदा रूप से साधो। विशुद्ध मृत्तिका (गंगादि पुण्यनदियों की) से अंगमार्जन प्रथम कर्म (क्षमा) अत्यन्त प्रशस्त है। जपादि में यन्त्र शुद्धि के लिये बहिरंग होने पर भी यह उत्तम साधना है। पहले भौमस्नान कहा गया। केवल क्षमा रूप से ही नहीं, परन्तु क्षेमदा, मोक्षदा रूप से भी पृथ्वी मां नीरव, निबिड़ करुणारस से निखिल प्राणियों की सर्वसत्ता को ओत-प्रोत तथा अभिसिंचित करती हैं। दीघल सन्ताप (ग्रीष्म) के अन्त में पृथ्वी की वरिषेण स्नान सुरभि, तृणशस्य औषधिसमूह की मृदुल स्निग्ध गंध, विशेषतः उषा-सन्ध्या में औषधि-वनस्पति-पत्रपुष्प संभार की निथर, कभी वातहिल्लोर मुखर मंगल गंधावति विश्वदेवता हेतु; सभी वाह्य नहीं है। अपितु सर्वांगीण योगक्षेम के लिये, इनका प्रपन्न प्रसन्न अन्तर से धातुच्छन्द में, ऋत् एवं मधुरच्छन्द में वरण करो। प्रभात में देवता के लिये पुष्प-पत्रादि-चन्दन का फल भी यही है।

गन्ध एवं 'गं' बीज

गन्धनिवेषण के मूल में जो 'ग' रूप मातृका बीज है उसका ध्यान रक्खो। प्राण या नाद का जो निरन्तर कुशल बहने वाला धारारूप है, उसे एक-एक केन्द्र में ले जाकर प्राणादि की गति को मानो जड़ करके स्थैर्य लाती है गन्ध। अतः गन्ध में आकर्षणी, केन्द्रमुखीना शक्ति की मुख्यता रहनी चाहिये। केन्द्र में जो अर नेमि विन्यास है उनके सुषम (Concentric-Symmetrical) होने से है सुगन्ध। विषमादि में (eccentric में) गन्धासुर है। उक्त सौषम्य आपेक्षिक है। अतः उसकी एक पराकाष्ठा है। उस पराकाष्ठा का नैष्टिक 'साधन-त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टि वर्धनम्'। यजन में बिल्व, यज्ञ उडुम्बरादि ईन्धनगन्ध से अन्तर्बहि (स्थूलतः)

सौगन्ध बन्धमोचन होता है। आज्य सहित पत्रपुष्पादि से, स्वाहा मन्त्र से; स्थूल के संस्कार से सूक्ष्म पर्याय भी सम्प्रसादी होता है। और ओंकारादि बीजमन्त्र से अथवा किसी महानाम की विन्दुलीनता में जो सोमसवन होता है, उससे गंध की कारण भूमि का भी संस्कार हो जाता है। नाम यज्ञ, स्तवकीर्त्तन, ध्यान; भाव इन सबसे स्थूल-सूक्ष्म कारण भूमि में संस्कार होना आवश्यक है।

धूपधूना

जप ध्यानादि साधन में अपने यन्त्र (शरीर) एवं बहिः संस्था के संस्कारार्थ गन्धासुर को हटाने के लिये सुरगन्ध की सहायता आवश्यक है। तब भी भीतर भाव साधन सम्यक्तः होने से सोमामृतगंधि रूपी परमफल प्राप्त होता है। जैसे धूप से—

अग्र्यचित्तशलाकायां सुगिरां गन्धलेपनम्।
विद्यानुरागदीपेन गन्धस्याप्यायनं कुरु ॥११५॥

शास्त्र, गुरु, सन्त के सुवचन (सुगिरः) ये सब गन्धप्रलेपन के समान तुम्हारे अग्र्या-सूक्ष्मावगाहन-क्षमा जो चित्तशालाका है उसमें हैं अवश्य, किन्तु विद्या तथा अनुराग के संयोग से जो दीपाग्नि जलती है उसे दीपित करके अपनी इस चित्तधूप शलाका में विमल ज्ञान तथा दिव्यभाव की परम स्निग्धमधुर गंध का मंगल मधुर आप्यायन करो। पुनश्च—

गन्धगर्भितविन्दुं वै नादेन कुरु दीपितम्।
आमोदितं कलाभिस्तं ब्रह्मविन्दौ निवेशय ॥११६॥

जप के आरम्भ में विन्दु की भावना करो गंन्धगर्भित कस्तूरीरेणु के समान। नाददीप से उसे पहले दीपित करो। कलावितानपूर्वक वह तुम्हारी समग्रसत्ता को आमोदित करे। अन्त में उसे ब्रह्मविन्दु में निविष्ट करो। ऊँ शान्तिः।

जब जपादि काल में मिट्टी या धातु के धूपदान में धूप देकर अनुकूल, मित्र गन्धविशेष की सृष्टि करते हो, तब यह भावना करो—

शरीरधूपपात्रकं चितेन्धनासितं मनो
विमुक्तजाड्यपांशुकं विशुद्धसङ्गहृद्रसम्।
ज्वलग्निगूढ़पावकं स्फुरत् सितेन्दु सुन्दरं
कृपासमीरदीपितं सनात्स्वभावहीरकम् ॥११७॥

मिट्टी या धातु की जो धूपदानी है, वह है तुम्हारा शरीर। उसमें जो काला कोयला सजाया है, वह है मन। वह चिता के कोयले जैसा कोयला (चितेन्धनासित) है। उसे चिता का काला कोयला क्यों कहा—तो 'चिता-चिन्ता द्वयोर्मध्ये

चिन्ता नाम गरीयसी' 'चिता से चिन्ता अधिक कष्टकर है। इसे समझ लो। मन की कालिमा सौ बार धोने से भी नहीं छूटती। उसे छूने से ही और भी काले हो जाते हैं। उपाय? पहले उसमें जो जड़िमारूप पांशु (राख, भस्म) लगी है, उसे हटाओ। यह दो कर्म किये बिना वह कोयला अग्नि नहीं पकड़ता। अब उसे सजाओ (इधर-उधर छिटका रहने से काम नहीं चलेगा) उसके अन्तःस्थल में (एक किनारे नहीं) सन्त सद्गुरु के दीक्षारूप ओंकार आदि पावक को जलने दो। फलतः काला कोयला के समान मन हो जाये 'स्फुरत् सितेन्दुसुन्दरम्' शुभ्र चन्द्रमा के समान सुन्दर (इसके पूर्व धूपदानी को हिलाकर उसमें वायु आने दो, यह है अभ्यास योग)। किन्तु कृपा समीर की अपेक्षा है इसमें। कृपा समीर से दीपित होने से क्या होता है? जो काला अंगार तुम्हारे राकाशोक सुन्दर रूप को दीपित कर रहा है, वह बुझ न जाये। वह हो जाये चिरकालजन्य स्वभाव स्निग्धोज्वल हीरा। (स्मरण रखो कि कोयला एवं हीरा एक ही है)।

धूपादि समस्त साधन की सहायता से इस प्रकार से अध्यात्मयोगयुञ्जान को भावित किये बिना निगूढ़ सुभद्र गन्धरूपा पृथ्वीमाता कामदुधा नहीं होती।

पृथ्वीस्नेह समाश्रय

तदनन्तर ध्यान में शान्त समाहित हो अथवा भाव में रसपुलकविभोर हो अथवा जप, भजन अर्चन में प्राण में आनन्दाभिषिच्चन हो, सभी कर्मों में सदा भव-मंगल पृथ्वीमाता के आँचल, उनका चिर स्नेह, अभय, अमृत के आस्तरण का समाश्रय करो—

दधामि सत्यसुन्दरं शिवं प्रशान्त आत्मनि
पिबामि कृष्णमाधुरीं प्रफुल्लहृत्सरोरुहे।
जपामि रामनाम वा भजे नगेन्द्रनन्दिनीं
श्रयामि मातुरञ्चलं भुवो भवाय मङ्गलम् ॥११८॥

प्रशान्त आत्मा में सदाशिव सुन्दर परब्रह्म का आधान करता हूँ, अथवा अपने प्रफुल हृत्सरोज को कृष्णरूप लीलामाधुरी के स्मरणपुलक मकरन्द से पूरित करता हूँ अथवा तारक ब्रह्म राम नाम के जप तथा भवसन्ताप हरने वाली नगेन्द्र नन्दिनी के भजन में अनन्यमानस हो जाता हूँ। जो कुछ भी क्यों न करूँ सब करता हूँ अपनी पृथ्वी माता के निखिल भवमंगल स्नेहांचल में समाश्रित होकर। अर्थात् उन अंचल का आश्रय लिये बिना ये सब अभीष्ट प्रतिष्ठित नहीं होते, कोई भी भव (उद्भव) सुमंगल नहीं होता।

सभी अवस्थाओं में सर्वदा जगत्धात्रिरूपा पृथ्वी माँ का इस प्रकार स्मरण, ध्यान वन्दन। आत्म आधार में सहिष्णुता, क्षमा, सन्तोष, क्षेम तथा स्नेहनिविड़ भाव को बनाये रखने में एकमात्र सहायक है।

सर्वावस्थासु सर्वदा

शये गिरीन्द्र कन्दरेऽथवा वने मठे गृहे
कदा विलिप्तचन्दनः कदापि धूलिधूसरः।
कदाकदन्नकातरः कदा पलान्नमोदितो
जहामि नैव धात्रि ! तेऽङ्कनाकतः स्तनामृतम् ॥११९॥

चाहे हिमालय में गुहा कन्दरा निवासी हो जाऊँ अथवा वन में मठ या गृह में शयन करूँ, कभी अंग में चन्दन लेप करूँ या कभी धूलधूसरित ही रह जाऊँ। कभी कदन्न भोजन के लिये कातर हो उठूँ कभी पल्लान्न से प्रमुदित होता रहूँ। जब भी जहाँ जिस भोग में क्यों न रहूँ, परन्तु हे जगद्धात्री ! हे पृथ्वीमाता ! तुम्हारा जो स्वर्ग के समान अंक. गोद है उसमें ही रहकर (अङ्कनांकतः) तुम्हारे अकुण्ठ स्नेह निबिड़ स्तनामृत को क्या कभी पा सकूँगा ? उससे मुझे कदापि वंचित मत करना।

पुनश्च

क्वचित् प्रसूनवल्लरी परागरागरञ्जितः
क्वचित् प्रसक्तगैरिकैर्जटाकलापपिङ्गलः।
क्वचित् हिरण्यलालसोऽथवाप्यरण्यनिर्भरो
लभेत् किं धरित्रि ! चेन् न भोगमोक्षदा ॥१२०॥

तुम भोगलोलुप मधुलोभी भ्रमर के समान विलासनिकुंज के कुसुम के पराग राग से अपने तन मन को दिनोदिन अनुरंजित करते रहते हो। तुम अब समाधियोग साधक मोक्ष के अभिलाषी कैसे हो गये ? गिरिगुहादि में निरन्तर गैरिक संग के कारण केवल तुम्हारा बहिर्वास एवं अंग ही नहीं परन्तु तुम्हारे जटाकलाप भी पिंगलवर्ण हो गये हैं। कभी तुम स्वर्ण की लालसा—अर्थकाम के अन्वेषण में घूम रहे थे। अब देखता हूँ तुम विरक्त विविक्त तपस्वी होकर मात्र जंगलों पर निर्भर हो गये। किन्तु भोगी, योगी, कामी, त्यागी, जो कुछ भी तुम हो जाओ, कहीं लाभ नहीं होता यदि कामदुधा धरित्री माता एक साथ भोग-योग-मोक्ष देने वाली न होतीं !

गोचर सम्पत् एवं अगोचर

समुद्धरेन् महानिधिं यथाकरेषु गोपितं
तथा वसुत्तमाय वै प्रपद्यतां वसुन्धरा।
शुचिप्रदेशपादुकं शुचिप्रवाहमालिकं
सुमङ्गलाय साग्रहं श्रये प्रपन्नदैवतम् ॥१२१॥

पृथ्वी माता की भुक्तिमुक्ति प्रदा सम्पत्ति को गोचर एवं अगोचर से पहचान कर उसका यत्नपूर्वक आहरण करो। खान में, गम्भीर भूस्तर में छिपा मूल्यवान्

खनिज महानिधि भी जिस प्रकार से गूढ़ावगाहिनी दृष्टि से खोजना पड़ता है, तदनन्तर प्रयत्न कुशली उपाय से उसे बाहर लाना पड़ता है, उसी प्रकार से अन्तर्बहि तुम्हारा जो परम काम्यधन (वसुत्तम) है, उसके लिये उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा उपाय के द्वारा माता वसुन्धरा के समक्ष तुम्हे प्रपन्न होना होगा। कहना होगा—हे माता! तपस्या जपध्यानादि जो जो साधन करूँगा उन सबके लिये दिखला दो योग्य, मित्र परिवेश, क्षेत्र, पीठ, आसन। जैसे निधिज्ञ यह जान लेता है कि कहाँ पर निधि गर्भित, गोपित है, मैं भी तुम्हारे प्रसाद से यह पहचान सकूं अपने अनुकूल आसन स्थान, सिद्धि का क्षेत्र तथा पीठ। वैज्ञानिक गवेषणा के समान जपादि साधन प्रयास में मित्र परिवेश, आसन तथा पीठ (योग्य देश संस्था) पूर्णतः आवश्यक हैं और पृथ्वी की कृपा के बिना इस योग्य संस्था की प्राप्ति नहीं होती। पृथ्वी प्रसन्ना होकर हमें दिव्य गन्धादि की सूक्ष्म चेतना देती हैं। तभी हम समझ सकते हैं—क्या यह स्थान हमारा मित्र एवं सहायक है। एक Occult sense perception की अपेक्षा है। क्षेत्र आसनादि के निर्वाचन में, दिव्य ज्योतिः दिव्यध्वनि यह सभी लक्षणायें आती हैं। पहले शास्त्र महाजन, सन्त सद्गुरु—ये सब दिखलाते हैं। क्रमशः स्वयं भी देखना एवं पहचानना होगा। यह सब किंचित् अगोचर भूमि की बातें हैं। गोचर में देखो—पृथ्वी रूप जो प्रत्यक्ष दैवत हैं, वे शुद्ध प्रदेश (तीर्थादि) को अपनी पादुका बनाते हैं। शुचि प्रवाह को (गंगादि को) बनाते हैं अपनी मालिका, चिर सुमंगल विधान में वे हैं सदाजाग्रत्। ऐसी पुण्य पादुका जिनके चरण में है, ऐसी पवित्र मालिका जिनके वक्षःस्थल पर है, जो हमारे योगक्षेम के लिए चिरजाग्रत हैं उन प्रपन्नों के देवता का हम चिन्तन करते हैं।

गन्धादि की सूक्ष्म चेतना

घ्राणेन्द्रिय (नासिका) विशेषतः गन्ध तत्व का दैवत् पीठ स्थल है। अतः जपध्यानादि में नासाग्र में प्राण संयम (साथ ही दृष्टि तथा मन का) करने पर दिव्य गन्धानुभव का सूक्ष्म परदा खुल जाता है। इस प्रकार भ्रूमध्य संयम से ज्योतिः, जिह्वा स्पृष्ट तालु से रस आदि निःश्रित होता हैं। कण्ठ के साथ एक उत्तमांग में सुषुम्ना के सभी चक्र तथा तत्व समूह भी उन्नीत (Promoted) रहते हैं। अर्थात् यदि हृदय को मानो ध्रुः (Axis) तब इसके आश्रय में नीचे तथा उर्ध्व के सभी तत्व एवं चर्या का मिथुन भाव (Duplication) रहता है; फलस्वरूप जो कुछ उर्ध्व क्रिया है, उनका ही एक अधःक्रिय 'दूसरा' भी है। शरीर विज्ञान में Brain तथा Spinal Cord, Pituitary and Adrenal gland इस सन्दर्भ में तुलनीय हैं। मूलाधार में पृथ्वीतत्व एवं 'ल' बीज उसकी मूल घाटी है, किन्तु विशेषतः चेतन व्यवहार में उनके स्वाधिकार (गन्ध के योगक्षेम) रक्षण हेतु नासिका, गन्धस्नायु एवं गन्धकेन्द्र (उत्तमांग) उसके प्रतिभू (डिप्टी) हैं। पक्षान्तर से उपर के सभी प्रतिरूपों

को सभी विषय में मूल की अपेक्षा रखकर चलना पड़ता है। Reserve Power यही है। फिर भी मूल एवं प्रतिरूप के सम्बन्ध में रहस्य है जिसे समझना होगा।

मूल एवं प्रतिभू

मूल एवं प्रतिभू, उर्ध्व एवं अधः इस सम्बन्ध में उत्कर्ष तथा अपकर्ष का तारतम्य नहीं लेना चाहिये। आलोक शब्द आदि के स्पन्दन क्षेत्र में Infra' ultra में जैसे हैं। सामान्यतः समस्त पदार्थों का जो हृदय है उसे ध्रुः करके समस्त व्यक्ताव्यक्त (Kinetic Potential) सचेतन, अवचेतन इत्यादि रूप से पदार्थ का पूर्ण शक्तिलेख स्वयं को द्विधा विन्यस्त कर लेता है कहीं एक रूप मुख्य (Dominant) है दूसरा उसकी तुलना में गौण (Recessive) प्रतीत होता है। किन्तु पूर्णशक्तिलेख स्वयं को उर्ध्व एवं अधः समस्त ग्रामों में पूर्ण करके रखता है। power picture as a context एक वस्तु नहीं है। इसलिए षटचक्र में जैसे उर्ध्व में सहस्त्रार है, उसी प्रकार मूलाधार के नीचे भी सहस्त्रार है। सहस्त्रार—पूर्ण उन्मेष की आकृति।

मूलाधार में पृथ्वीतत्व है अथच नासिका में घ्राण शक्ति है। नाभि में तेज तत्व है अथच भ्रूमध्य में तेज, ज्योति आदि दर्शन। इन्हें सूक्ष्म सूत्र का अनुसरण करके समझना होगा।

देशबन्धु

पृथ्वी सबको सभी स्थान पर अपना प्रदेश (appropriate Sphere and field) खोजनें पाने देती हैं। किन्तु प्रदेश मात्र की एक प्रादेशिकता होती है जो नाना प्रकार से अवरोध करती है। यह है देशबन्ध। यह बन्ध 'बन्धु' भी है (योग धारणा लक्षण में) किन्तु अधिकांशतः यह प्रतिबन्धक हो जाता है। यह देशबन्धु यदि द्वेषबन्धु हो जाये तब तो 'महा मुश्किल' है। देशजन्य जो बाधा (अवरोध) है उसे हटाने के लिए 'ॐ भूः स्वाहा' इस व्याहृति का हवन (मानसिक भी) पूर्ण उपयोगी है। नीचे अंकित श्लोकों में यही उक्त है—

प्रभात रुक्मदूकूलां प्रदोषरक्तगैरिकां
दिवाललाटहीरकां क्षपालकेन्दुकान्तिकाम्।
(क्षपाखदीपमौक्तिकाम्)
उदात्तनादनन्दितां विरामभौननिद्रितां
भजे सतारभूरतोऽनलप्रियेति मन्त्रिताम् ॥१२२॥

अथवा—

प्रभातकाञ्चनाम्बरां प्रदोषरक्तगैरिकां
दिवासितोज्वलाञ्चलां क्षपेन्दुकान्तिकुन्तलाम्।

विचित्रनादनन्दितां मुदा समाधिविन्दुगां
भजे सतारभूरतोऽनलप्रियेति चाहुताम् ॥१२३॥

व्याहृतिहवन में पृथिवी तत्व

नवप्रभात के अरुणराग में जो सिन्धु शैल हैं, वे वनानी प्रान्तर में सर्वत्र हो जाते हैं सोमोज्वल कनकदुकूला। प्रदोष में अस्तगामी सूर्य के रक्तराग में जो हो जाती हैं गैरिक वसना, दिवाभाग में जो प्रसाद निर्मल गगन ललाट में धारण करती हैं भास्कर हीरकमणि और क्षपा में पहनती हैं उसकी कोमल मलिना तमसा की घुघराली लटों पर इन्दुकान्ति मणिमालिका। प्रभात के उदात्त नाद विचित्र कला-वितान में हाथों में है जिनके प्रभाति वन्दना एवं अभिनन्दन, निशीथ रजनी में विश्व मौन में जिनका है स्वप्न सुषुप्तियुक्त सुरभि शयन, उन चिर अपरूपा धरती माँ का हम 'ॐ भुवः स्वाहा' (तार=ॐ, अनल प्रिया=स्वाहा) इस मन्त्र से अन्त-र्बहि हवन से भजन करते हैं। किसलिये, उसे आगे कहा जा रहा है।

श्लोक में 'काञ्चनाम्बरा' 'सितोज्वलाञ्चला' एवं 'इन्दुकान्ति कुन्तला' विशेषणों को सहज ही समझ लो। नाद के विशेषण मे 'उदात्त' यहाँ है 'विचित्र'। इन दोनों को समाहार में ग्रहण करो। क्योंकि गूढ़ व्यंजना में नाद को केवल नाद तथा सकलनाद इन दो अभीष्ट रूपों में समझना होगा। १२३ वें श्लोक में 'समाधि विन्दुगा' विशेषतः विचारणीय है। मुद्रा तथा विन्दुगा में क्रमशः सानन्द एवं सास्मित समाधि के लक्षण रहते हैं। अंतिम चरण में अन्तर्बहिः हवन (ॐ भूः स्वाहा) को 'चाहुता' पद से स्पष्ट किया गया है।

लक्ष्य करो कि उक्त दोनों श्लोक में हमारी इस धरित्री का रूप हमारे आले-खादि के अनुसार होने पर भी निगूढ़ रहस्य की व्यंजना में तडित्गर्भा मेघमाला के समान है। अतएव अग्निगर्भा शमी जिस प्रकार से है, उसी प्रकार इसको वाक् शैली समझो।

जैसे ओंकारादि जप मे उदयांचल=अर्द्धमात्रा का उदयोन्मुखतारूपी सेतु, जिसका आश्रय लेकर सविता स्वयं उदित होते हैं। 'रक्तगैरिक' ध्यान मौन भाव जो जपादि मे नाद की विन्दुमुखीनता का सूचक है। 'सितोज्वलाञ्चला' से नाद शेखर या उन्मेष शिखर एवं 'क्षपेन्दु' आदि से रस ज्योति अथवा रोचिष् के 'सकल' रूप को कहा गया है। विशेषतः 'मुदासमाधिबिन्दुगां' पद से विन्दुमेरु लक्षित है, जहाँ कलाकलित न होने पर भी अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा पूर्णता में परिनिष्ठित हैं। अन्य प्रसंगों में इन श्लोकों में अनुरूप भावना की योजना करो। भीतर भरे भावों का पुट दिये बिना जपसूत्रम् में केवल कथानकों का परिवेशन नहीं किया गया है, अभावनीय महाभावमयी की परिभावना में ही सब है। (परि=सर्वतः)

'ॐ भूः स्वाहा' मन्त्र में आदि ओंकार में विशेषतः उदयनाद (अग्नि) है। 'भूः स्वाहा' एतावती रूप से परिपूर्णनाद आकृति (सूर्य) है और स्वाहा द्वारा नाद की विन्दुलीनता (सोम) उपलक्षित है।

पृथ्वी का उपलक्षण-विशदभाव से

अच्छा पृथिवी इस प्रकार से अग्नि सूर्य सोम संस्था में से किसके अधिकार में आयेगी ? कोई आकृति या संस्था (भीतर या बाहर की) जिसके द्वारा जिसका आश्रय लेकर अपनी प्रकृति, धर्म तथा छन्द में संस्थित रहे उस प्रकृत्यादि संस्थापिका मित्रसोम परिणय रूपा कौर्म शक्ति को ही पृथिवी कहकर सूत्रित किया गया है। यह सार्वभूमिक है। जपादि में उदाहृत है किन्तु परिच्छिन्न नहीं है।

यह भी लक्ष्य करो कि जैसे 'ॐ भू. स्वाहा' पृथ्वी का, उसी प्रकार 'ॐ भुवः स्वाहा' अन्तरीक्ष का एवं 'ॐ स्व स्वाहा' यह द्यौ के लिये आहुति मन्त्र है और इन तीनों व्याहृतियों को एकत्र करने से पृथिवी-अन्तरीक्ष एवं द्यौः इस त्रितय का प्रसन्न-सन्निवेश-समापन हो जाता है। पृथिवी—What stabalizes and consolidates any 'given'. द्यौः = what contains and Coniummates, or Completes. अन्तरीक्ष—what controls the ratio of conservation and Consummation or completion.

भावना का भावन

पूर्वोक्त भावना (सूर्य-सोम-अग्नि का एक स्थिर सार्थक संस्थान सम्मिलन) इस रहस्य श्लोक द्वारा पुनः भावित होती है—

यदा हिरण्रेतसा हिरण्मयापिधानतो
हिरण्यनाभगर्भिणीमपावृतां वृणीमहे।
तदा मृगाङ्कमूर्द्धनो कलार्द्ध सोमविन्दुभिः
सुहुतस्रुवेण हव्यराट् स्वधामधन्य आत्मराट् ॥१२४॥

समस्त सृष्टपदार्थ में पाँच तत्व केन्द्र हैं और उससे उर्ध्व एक आज्ञा केन्द्र विन्यस्त है। यह औपादानिक (Material) जातिविभाग है। इन दोनों में मुख्यावृत्ति से किसी तीन को ग्रहण करो यथा—आज्ञा-नाभि-मूल। पहले कहा गया है कि हृदय को (गम्भीर अर्थ में) ध्रूः रूप से सभी प्रकार के ग्रहण में ग्रहण करना होगा। अतः ये हैं चार।

भावन का तात्पर्य

अब ओंकारादि दैवत अग्नि। चिदग्नि या ब्रह्माग्नि। यह सूर्य, सोम, अग्नि के सम्पर्क में तुरीय है (ब्रह्माग्नि)। यह उसी 'वरेण्यं भर्गोदेवस्य' ध्यान विषयरूप में

हैं। इसका ही हम वरण (वृणीमहे) करते हैं। किन्तु श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि यह अपिहित (आवृत्त) है। आवृत्त है रजः तमः अपिधान द्वारा। वैखरी जप ध्यानादि से पहले यही मलिन आवरण क्षीण हो जाये। तदनन्तर हिरण्मय अपिधान-सत्वविशाल A thin veil of golden haze. इसके अपावरण के लिये हिरण्यरेतस् की उपासना करो। हिरण्यरेतः के बिना हिरण्य का अवगुण्ठन नहीं हटेगा। यह है आदित्य या प्राणब्रह्म की उपासना। जैसे गायत्री प्रभृति जप में विलय में प्रथमतः स्थूलवाक् का 'पतन', तदनन्तर स्थूल संकल्पी मन का। तब प्राण ही एकमात्र रहता है हिरण्यरेतः रूपेण। रहकर क्या करता है? हिरण्यनाभ गर्भिणी विन्दुशयाना जो परमा है उनका भी अपावरण साधन करता है। 'नाभ' शब्द से नाभि; मणिपुर चक्र द्योतित होता है, किन्तु सर्वविध केन्द्रीयता की जो परावस्था (बिन्दु) है, वही लक्ष्य है। अच्छा, बिन्दुवासिनी परा इस प्रकार से अवगुण्ठित होती है तब उससे क्या होता है? 'तदा' इत्यादि। मृगाङ्कमूर्धा जो आज्ञाधाम है वहाँ से सोमार्द्ध कलारक्षित अमृत बिन्दु ही मूलाधार में जो हव्यराट् (अग्नि) है, उसमें सवन होकर उस अग्नि को स्वधाम्नि एवं स्वधाम्नाधन्य आत्मराट् करते हैं। 'मूल' एवं आज्ञा' के परिपूर्ण अग्निषोमीय मिलन को अनुभव से प्राप्त करो। यदि जप में उदयनाद की उद्दीप्त अग्नि मानों तब स्वधामधन्य आत्मराट् हुये बिना नाद की 'स्वधाम्ना वेगवाहिता' एवं स्वधाम्नि (मूलबिन्दु में) शान्तशायिता नहीं होती, तब नाद भी आत्मराट् (आत्मनि राजते यः सः) नहीं होता।

अनात्मव्यासङ्ग परिहार

और सोमसवनकर्म करेगी हृदय की स्त्रुवा। श्लोक में सुहृत् = सोममित्र का 'मित्र' यह भी समझ लो। इस प्रकार आत्मराट् होने के लिये चार अनात्म व्यासंग का परिहार करना होगा। वे अवरोधादि चार बाधा—

चार बाधा

दैशिकीं कालिकीं बाधां वास्तवीं छान्दसीं जहि।
महाव्याहृतिभि होंमैर्बहिरन्तर्यथाक्रमम् ॥१२५॥

महाव्याहृतिभि होंमैर्वहिरन्तर्यथाक्रमम् (ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, ॐ भूर्भुवः स्वाहा) से क्रमशः दैशिकी, कालिकी, वास्तवी एवं छान्दसी बाधाओं को जीतने का प्रयत्न करो। केवल बाह्यहवन में ही नहीं, आन्तर भावना द्वारा भी। बाधा तो स्वरूप में नहीं है। यह है मनःकल्पित। किन्तु अनादि अविद्या संस्कार ने बाधा को वज्र के समान बना दिया है। प्रतिपक्ष भावना का

संस्कार जिस परिमाण में दृढ़ होगा; उसी परिमाण में यह वज्र के समान बाधायें दूरीभूत होती जायेगीं।

बाधाप्रतिषेधार्थ समर्थ प्रतिपक्षभावन तभी आवश्यक है। यह सब कल्पना मूलक हैं अतएव वास्तव में अमूलक हैं यह है प्रतिषेधभावना का मूल सूत्र। 'सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्' इस अवबोध से जो 'जघन्य' है वह भी 'हिरण्य' हो जाता है और हिरण्य हो जाता है परम वरेण्य। किन्तु पहले बाधा से कहना पड़ता है "मैं तुमको बाधूंगा (To isolate and Confine) जैसे तागा से बाधे गये सर्प का विष। 'भूः' से जो पृथ्वीशक्ति है, उसके द्वारा प्राथमिक कर्म निग्रह का समाधान करो। तदनन्तर कहना होगा 'मैं तुमको साधूंगा' (To treat as to Contral)। तदनन्तर बाधा से कहना होगा 'मैं तुमको पलट दूँगा'। (To transform 'sense' and energy) अब बाधा भी आत्मीय स्वजन हो जाती है। अन्त में इसे आत्मनीन एवं आत्मसात् (Completely intune, unison) करने से तभी चरितार्थता होती है। बाधा के सम्बन्ध में पहले निग्रह, तदनन्तर संग्रह या संयम। तदनन्तर संस्कार या शुद्धिभावन। अन्त में सात्मीकरण। इस अतिम को 'सरासर' अंगीकार या स्वीकार मत समझना।

आत्मा को 'सर्वभूतेषु गूढ़' सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा रूप से प्राप्त किये बिना कोई कुछ भी नहीं बोलेगा। तुम इसे अपने में ही पाओ, जैसे तटिनी और शिशिर बिन्दु एवं मेघमाला।

बाधा को साधने के लिए इन चार मूर्तियों को मन में रखकर पहले जो महाव्याहृति हवन कहा गया उसका अन्तर्बहि अनुष्ठान करो।

भूः एवं भू

पहले कहा गया है कि 'भूः' व्याहृति अव्यय एवं रजात विसर्गान्त भाव न रहनें से वह हो जाती है 'भू'। यह है पृथ्वी का एक नाम। 'भू' से भूत। भूः से जो यह परिणामधारा है उसमें एक तैजस सत्ता स्वयं को मानो एक गम्भीर स्तर में बाँध रही है। नहीं तो भूतभौतिक सृष्टि हमारे व्यवहार योग्य आकार में न आ पाती। 'भू' का 'र' इसी कारण स्वयं को 'रोधिका' बनाता है। फल है बाधा का निगूढ़ निगड़ रूप से जन्म।

रोधिका साधनमित्रा

रोधिका के बाधिका होने पर भी उसमें सुषम सृष्टि उद्देश्य से मुख्यत; 'साधिका' को रहना पड़ता है। कोई कुछ अच्छा करके साधेगा, इसी कारण वह 'बाह्य' सभी को बाधा देता है। सृष्टि में सर्वत्र यही देखो। पृथ्वी (भूः) 'भू' में

रोधिका हैं। उसका इस प्रकार का साधिका मित्रा शब्द बाधिका रूप है। सोममित्र को इस एक ही भाव में समझ लो। किन्तु यदि बाधा साधनमित्र न होकर साधन वैरिणी हो, तब क्या करोगे? तब देश कालादिजन्य जो बाधा चतुष्ठय है उसके परिहारार्थ उपयुक्त उपाय का आश्रय लो। बाधा अपनयन का प्रयास कहाँ तक हो, उसकी इस प्रकार भावना करो—

बाहु आर हृदयेर बाले, खर स्त्रोतो वाधाकरि जय,
तरणी तोमार जबे तट सन्निकट।
मौन धन कोयासारघेरा, काम्यतट भावि बहु दूर,
निरुत्साह, तुमि दाड़, हाराईबे तट !
बार-बार के न चाओ पृष्ट पाने,
किछु नाहि देख साड़ा नहि पाओ।
नीरव कुहेलि माझे
केह तो बलेना 'एई आमि'।
के न भूले जाओ मिछे अभरसाय,
असहायेर मत के तरीवाहक !
तब वक्ष मुख पाने चेये बसे तरणीर स्वामी ॥
यो वा तोमा तरी कर्णधार, सेई तट देख पुरा भोगे;
गतिमुखे पृष्ठ तब तुमि की देखिबे !
'आर प्रयासेते नाहि प्रयोजन—
कर्णधार मुखे शुनि वाणी,
तटे तुमि ललाटेर स्वेदटि मूछिबे ॥

इस सम्बन्ध में श्लोक—

स्त्रोतोवेगं प्रखरमधुना बाहुवक्षोबलेन
जित्वा नीता यदि तव तरी कूलसामीप्यमेव।
मत्वा दूरं त्वदभिलषितं मौनिभूमेघमग्नं
भग्नाशो मा भव करगतां क्षेपणी मा जहहि ॥१२६॥
(कर्णधारः) नाविकः पुरतः पश्येत् क्षेपकः किमु पृष्ठतः।
प्रयासेननालमित्युक्तो भवास्विन्नललाटकः ॥१२७॥

बाधा चतुष्ठय परिहार का आन्तर उपाय— श्रीकृष्ण श्रीराम आदि का स्मरण

जप कीर्त्तन एवं अनुध्यान में विशेषतः बाधाओं (चतुष्ठय) का परिहार करो। यथा—

भूभार यः प्रलयसलिले लीलयादिञ्च धत्ते :
कालीयं यो विततफणकं लास्यमञ्चं करोति ।
पादाम्भोजक्षररसकणैः स्वर्धुनि स्पन्दमाना ।
श्रीरङ्घ्रिः करमुरलिकं तं स्मरेन् केन बाधाः ॥१२८॥

प्रलयसलिल मग्ना उर्वीभार और गोकुल में गिरिगोवर्धन का भार जो लीला से धारण करते हैं, उनके नाम, लीलागुणादि स्मरणकारी को देशनिमित्त बाधा (अवरोध) किस प्रकार से बाधा देगी बोलो ? जो काल का अन्तकरूप फणीन्द्र था, उस फणीन्द्र कालीय के वितत शतफणा को अपने मृतसंजीवन विमोहन लास्य का मञ्च बनाया, उनके उस अपरूप लास्य के रसिक का काल क्या करेगा ? स्वयं अन्तक जिन चरण किसलय तल में जहाँ सम्मोहित है, वहाँ काल का कौन भृकुटी कुटिल तीर आकर हमारे स्व छन्द में स्थित मधुमृग को विद्ध करेगा ? तदनन्तर जिनके पादाम्भोज से क्षरित अमृत कण सुरधुनि रूप से विश्वभुवन से स्पन्दमाना है, उनके चरणों से उद्भूत उस विमलधारा में निष्णाता को कौन मलिन वासना कौन पाप्मा विद्ध कर सकेगा ? वस्तु तथा सत्ता को और बाधा में बाधने का स्थान कहाँ है ? अन्त में—स्वयं श्री जिनके अङ्घ्रियुगल को अंक में धारण करके रखती हैं और जो स्वयं विश्वविमोहनी समस्त छन्दः परिसीमा मुरली को हाथों में धारण करते हैं, उनका स्मरण करने वाले को कौन छान्दस बाधा विरोध व्याकुल कर सकेगी ?

पुनः देखो

उत्तालोर्मिविपुलजलधिः सेतुबन्धेन बद्धो ।
मृत्युञ्चाज्ञावहशमनको येन नीतो दशास्यः ।
स्वर्णं दारुपलतनुरहो यत्स्पृशाभूदहल्या ।
श्रीरार्याणामशिवशमनः जानकीनाथदास्यम् ॥१२९॥

पुनश्च

लिङ्गं यस्य त्रिभुवनमतिक्राम्यति स्वेन धाम्ना
मृत्योर्मुक्तै मथितगरलं कण्ठभूषापि यस्य ।
शूलं यस्य त्रिपुरमरणं साहिसोमार्द्धमौलेः
कैलासेशस्मरणमशिवोन्मूलनं नट्टराजः ॥१३०॥

श्रीराम तथा श्रीशंकर के स्मरण जप से भी अवरोधादि बाधा चतुष्ठय कैसे दूर होते हैं, यह इन श्लोकों में वर्णित है।

देश बाधा तुम्हारा अवरोधक है ? किन्तु उत्ताल तरंगोद्वेल विपुल जलनिधि का सेतुबन्धन जिन्होंने किया, उस राम नाम का स्मरण एवं कीर्तन तब है किसके

लिये ? यह स्मरण करो कि रामनाम में एकनिष्ठ श्रीमद् हनुमान को समुद्रपार जाने के लिये सेतुबन्धन की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। क्या काल तुम्हारा संहार करने के लिये उद्यत हैं ? किन्तु शमन को भी जिन्होंने अपना आज्ञापालक बनाया उस शमनदमन रावणराजा को भी श्रीराम ने भेज दिया शमनालय (यमालय) ! तुम फिर भी अपनी सत्ता को दीन-हीन कृपण दृष्टि से देखते हो जैसे काठ या पत्थर ? किन्तु जिनके चरण स्पर्श मात्र से जीर्ण काष्ट की नौका काञ्चन हो जाती है, और मुनिशाप से उपलतनु अहल्या हो गई आर्या, पूजिता, वे हो गईं साक्षात् श्रीरूपा-अनवद्या शुचि सुषमा परिसीमा। उन 'आपदामपहन्तारं दातारं सर्वसम्पदां लोकाभिरामं श्रीराम' का स्मरण करने से तुम्हारी सत्ता का दैन्य और सम्बन्ध तथा छन्द का कुण्ठाकार्पण्य कैसे रह जायेगा बोलो ? अतः जानकीवल्लभ का जो दास्य है, उसे समस्त अशिव का नाश करने वाला जानो। अब ऊर्ध्व ज्योतिर्लिङ्ग रूपी शिवशंभु की भावना करो। यह जान लो कि उन एकलिंग की महोत्तर महिमा इस गोचर भुवनत्रय का अतिक्रमण करके अपनी शाश्वतशुभ्र ज्योति में विराजित है। अतः कौन देशबन्ध तुम्हारा अवरोध कर सकेगा ? और समुद्र मंथन से उत्पन्न हलाहल को उन्होने अपना कण्ठभूषण बनाया, क्यों ?

मृत्यु से विमुक्ति देने के लिये। मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्'। अतः कालभय क्यों करते हो ? जिनके त्रिशूल से त्रिपुरदमन हुआ उन महाअहिफणालांछित सोमार्द्ध-मौलि के अनुसरण में कौन वास्तव बाधा ठहर सकेगी ? (महाहिफणा = नाद। सोमार्द्ध = अर्द्धमात्रा नाद विन्दु कला।) अन्त में छान्दस बाधा (विरोध) नटराज, वृषभवाहन कैलासपति के स्मरण मात्र से समूल उन्मूलित हो जाती है, इसे स्थिर समझो।

पुनः सर्वबाधाशमन कल्प में महामाया की भावना इस प्रकार करो—

अस्थावीन्तां यदि कमलजो योगनिद्रां भवाय
चानर्हंश्चेन् महिषमथनीं देवताः स्वात्मसाराम्।
अद्राक्षीच्चेद् युधि च ललितां शुम्भ एकान्ततत्त्वां।
स्मारं स्मारं प्रशमनभिषुश्चण्डिकां बाधिता (सर्वबाधाः)ये ॥१३१॥

पुनश्च श्री गणेश के लिये—

उच्चैशुण्डः प्रभवति पुरः सर्वसम्भाव्यसृष्ट्यै
शुण्डश्चाधः प्रकृतिविलयद्योतकाश्चर्यलिङ्गम्।
व्यावृत्तौ द्वावध उत न वा सेतुसन्धी च शुण्डौ
श्वासावाखू कुशलशरणस्तारमूर्त्तिर्गणेशः ॥१३२॥

सृष्टि यज्ञ में प्रवृत्त होकर कमलयोनि प्रजापति मधु कैटभ से भयभीत थे। योगनिद्रारूपिणी अर्द्धमात्रा को स्तुति से यद्यपि जागरिता किया था; तभी तुम भी

अपने जपादि यज्ञानुष्ठान में देश कालादि बाधा निरसनार्थ वह नहीं करते ? मधु विक्षेषत: देशजन्य और कैटभ कालजन्य बाधा अर्थात् कारण तथा सूक्ष्म में जो बाधा है उसके प्रतीक हैं। मध्यम महात्म्य में देवगण अपनी-अपनी आकृति; शक्ति; गुण की समूहमूर्त्ति (स्वात्मसारो) महिषमर्दिनी दुर्गा की यद्यपि स्तुति करते हैं; तब 'महिषगलघण्टघनरवात्' सन्त्रस्त निरालम्ब तुम भी क्यों लम्बोदर जननी की करुणाशरण नहीं मांगते ? यहाँ विशेषत: है कालभय। तदनन्तर अंतिम महात्म्य में शुम्भासुर ललितादेवी को अपनी सर्वविभूति आत्मलीन करते हुये 'एकान्तपरमतत्वा' रूप से देखकर यदि स्थिर हो सका था, तब तुम भी क्यों न अपनी सत्ता से सम्बन्धित समस्त विभेद-विरोध विभ्रम को काटकर अपने साधन समर की चरम 'घाटी' में शान्त होकर उनमें प्रपन्न उनमें लीन नहीं होगे ? अत: चण्डिका मां का बारम्बार स्मरण करो। उसी से तुम्हारी समस्त बाधाओं का प्रशमन हो !

तदनन्तर लम्बोदर का यह रहस्यध्यान—

पहले सर्वसम्भावना के सृष्टिरूपेण उदयन के लिये जिनका शुण्ड सदा उर्ध्वग है, निखिल सर्ग के विसर्ग अथवा प्रकृति विलय के द्योतक एक अत्यन्त आश्चर्यमय लिंग रूप जिनका शुण्ड उर्ध्व है और सर्ग विसर्ग उदयस्थल में अनिर्वाच्य जो सेतुसन्धि त्रय है, उसकी सूचनार्थ जिनके शुण्ड दोनों ओर हैं, तथा निखिल भूतों की अन्त: बहि: चरण करने वाली जो श्वांसवायु है, वह वायु है (उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा में) जिनका वाहन मूषिक (आखू), उन नित्य ओंकारमूर्त्ति श्री गणेश का ध्यान एवं प्रणवजप सर्व विघ्न विनाशन कल्प में अतीव कुशल है। चतुर्विध बाधा को इस ध्यान द्वारा यथायोग्य हटाओ।

पुनश्च-बाधानिरसनार्थ इस प्रकार से सूर्य ध्यान—

रुन्धीरन् केऽनलवरुणयोर्योऽपि भिन्नस्य चक्षु:
हिंसीरन् यो निखिल जगतस्थस्थुषं श्रौत आत्मा।
यद्गायत्री ह्यदुहदमृत छंदसामेकमाता
भूरादीनां त्रयमपि परं विद्महे बाधबाधम्॥१३३॥

श्री गुरु ध्यान और नाम

अब मन्त्र एवं मन्त्री जिस परम करुणाधन श्रीगुरुतत्व में सम्मिलित हैं, उन श्रीगुरुनाम स्मरण तथा ध्यान से समस्त बाधाओं का प्रशमन होता है; इसे कदापि न भूलना।

पादस्पर्शोऽर्गलविरहितं कंसकाराकपाटं
बाहुस्पर्शं सुतरयमुनातुल्यकां कालधाराम्।

वक्ष्ये वृन्दाविपिनमधुनश्चाकरं हृद् दधाति
भालो रोचिः श्रवणममृतं श्रीगुरुः कृष्णसूनुः ॥१३४॥

वेद के मन्त्र सूर्यनारायण को मित्र, वरुण, अग्नि के चक्षुः कहते हैं। कहीं पर भी 'दिवीव चक्षुराततं' उनकी परमपश्यन्ती दृष्टि को बाधा नहीं है। अबाधित हैं। उनकी इस पश्यन्ती दृष्टि के ध्यानकारी का कौन अवरोध करेगा, बोलो? क्योंकि अखिल की आत्मा के रूप से वे ही संवत्सर आदि काल का निर्धारण करते हैं। जिनकी गायत्री मृत्युमीत अमरगणों के लिये भी अमृत का दोहन करती है, एवं वह गायत्री समस्त छन्दों की एक माता है, उनकी उस गायत्री का आश्रय लेने वाले को कौन सी वास्तवी अथवा छन्दसी बाधा बलवती होकर पराभूत करेगी? भूर्भुवः स्वः रूपी परम रहस्यमयी व्याहृतित्रय, अथच उससे अतीत तुरीय रूपी जो सविता हैं, उन्हें हम जानते हैं और यह भी जानते हैं कि वे बाधाओं के लिये भी बाध रूप हैं।

और श्री गुरु उनके परम करुणाघन रूप की इसी जन्माष्टमी की तमसाच्छन्न रात्रि में हृदिशायित ब्रह्मगोपालधारी श्री बसुदेव के समान ही भावना करो। गोपाल को उन्होंने अपने से लगाया हुआ है, तभी उनके पादस्पर्श का एक अद्भुत् जादू परिलक्षित होता है? कंसकरागार के समान यह जो हमारा संसार कारागार है, उसका भी सभी दरवाजा खुला पड़ा है! और अब कौन अवरोध करेगा? और श्रीगुरुरूपी वसुदेव के बाहुस्पर्श का क्या जादू है बोलो? उतल-अतल जो यमुना है; वह यमुना भी सुसुखतरणा हो गई! पहले यमुना प्रतीत होती थी दुस्तर, दुर्वार कालधारा जिसमें हम डूबते जा रहे हैं; बाद में जब उसे हृदय में श्रीगुरु के स्पर्श का अनुभव हुआ तब वह यमुना हो जाती है कोई और यमुना। तभी कहा गया है; वक्ष में जिसका स्पर्श मिलने से (जिस वक्ष में नीलरतन श्री गोपाल को सटाया हुआ है) यह अश्मसार तुल्य हृदय भी हो जाता है बृन्दावन में जितनी भी मधुमाधवीय माधुरी है उसका 'आकर'। उसका जितना मधुरस है; उससे पूर। क्या केवल मधु? सब हो जाता है मधुच्छन्दः। श्री गुरुरूपी बसुदेव यदि मस्तक का स्पर्श करते हैं, तब चिद्गगन में उनकी परम रोचिष उज्वल हो उठती है। यदि कानों में वंशीध्वनि देते हैं तब अन्तर में अमृत धारा उछलने लगती है। अतः गोपालकृष्ण जिसके वक्ष से सटकर शिशुरूप में निहित हैं, उन कृष्णसूनु श्री गुरु का कीर्त्तन ध्यान सर्वबाधा विमुक्त होने के लिये करता हूँ।

द्यौः मूलतः क्या वस्तु है?

वरुणाग्निसंघाताद् द्यौः ॥
द्यौरिति वेविषाणस्य याऽङ्क्मानेन संहृतिः।
ब्रह्मसुवरिति ज्ञेयं ब्रह्मणि सूयते सना ॥१३५॥

अमृतं दिवि सूक्तेन त्रेधा निदध इत्यतः ।
अदितिर्द्यौरिति श्रुत्या नैतावत्ता दिवं स्पृशत् ॥१३६॥

द्यौस्तत्व पहले कहा जा चुका है। वहाँ यह विशेषतः कहा जा चुका है कि सृष्टि में सब कुछ को मुक्त उदार स्व छन्द में ऋच्छतिरूप को देने को 'प्रतिश्रुति एवं 'प्रतीक्षा' जो तत्व देता है, वह है द्यौः। वेविषाण या बाधा रहित, निरंकुश आधारपट असीम वितान में खोल दिया गया। इस आधार पर सब कुछ अपनी स्थिति गति परिणति की चित्रलेखा का अंकन करता चलता है। यह अवश्य है सृष्ट जो कुछ है, वह इस वेविषाण आधार पट को तद्रूप नहीं देखता एवं उसका अंकन भी खण्डशः रहता है और वह पूर्ण समग्रभाव को प्राप्त नहीं करता। 'देखता नहीं' तब भी अधारपट संकुचित होकर इतना सा (एतावत्) नहीं हो जाता, वह जैसा था वैसा ही रहता है। अंकन भी एतावत् 'ऐसा तैसा' नहीं होता। अवच्छेद, व्यवच्छेद, परिच्छेद, विच्छेद आदि जो यथार्थ हैं, उसमें अभ्यस्त रहते हैं। उसके अधिकार में रहने पर भी वे उसपर अधिकार प्राप्त करने के लिये आक्षिप्त से रहते हैं। मानों कहते हैं यद्यपि मैं तुममें ही हूँ, तब भी तुमको शासन में नहीं आने दूँगा।'

'तुममे ही हूँ' यह जो तदधिकरणता है; यह कहीं भी रद्द किये जाने योग्य नहीं है। एक ऐटम, धूलिरेणु, बीजकण एक मैं या तुम या वह, कहीं भी कोई वास्तव में समग्रसत्ता-शक्ति-छन्द को छोड़कर 'इतना सा' नहीं होता। उसकी गति परिणति का नक्शा भी मात्र 'इतना सा' (एतावत्) अथवा 'इसी सीमातक' का होने वाला नहीं है। धूलि, तारक, वीज, वनस्पति-इन सब में उसके 'निजस्व' हिसाब की सूचना हम नहीं पाते। उसके हिसाब में हम जहाँ तक आगे बढ़ सके हैं (विज्ञान तथा प्रज्ञान में) उससे उनमें से कोई भी 'उस इतना सा' अथवा 'बस इसी सीमा तक' होने वाला नहीं है। वह सत्ता, शक्ति, सम्बन्ध तथा छन्द में 'इतना सा' एतावत् होने वाला नहीं है। तुममें या हममें जहाँ आधार एवं लेख दोनों की छवि निजस्व चेतना में या बोध में कितनी झलक रही है, यह सब समग्र मान को छोड़कर कदापि नहीं होती, यद्यपि भासपंचक में कुण्ठित गुण्ठितादि होकर वह भान देश-काल सम्बन्ध तथा सत्ता शक्ति में हो जाता है 'इतना सा'।

पादमात्राकलाकाष्ठा एवं बिन्दु-नाद-कला की समग्रता और संकोच की बातें पुनः स्मरण करो। प्रणव आदि बीजमन्त्र में एवं त्रिकोणवृत्तादि यन्त्र मे समग्र तथा संकोच रूपी दोनों रूपों का पुनः ध्यान करो।

द्यौस्तत्व में वरुण-अग्नि

द्यौस्तत्व में वेविषाण रूप से वरुण सब कुछ की उदार, अबाध समग्रता को केवल आधार भाव में घुला मिलाकर रखते हों, ऐसा नहीं है। 'आप' रूपेण समस्त

सब कुछ को सावलील आप्यायन के 'सामान्य' उत्स में मुक्त रखते हैं। इसके प्रसाद से एक धूलि नाभि या मर्मकेन्द्र में उसकी अस्तिता व्यूढ़ तथा मूढ़ (In a stupor of smothered inertness) होकर रहने में नाराज है। उस केन्द्र में वह केवल अपनी निर्दिष्ट अरनेमि को प्रसारित करना चाहती है, जिसके फलस्वरूप अस्तिता होना चाहती है भातिता और भातिता होना चाहती है अस्तिता। वह प्रतीक्षा करती है कि कब वह हमारे तुम्हारे समान बोलेगी 'यह तो मैं भी हूँ। समग्र परिपूर्ण में इस अपनी सत्ता में शक्ति में छन्द में तथा सम्बन्ध में हूँ' एक पुरुष का बीजकण या एक जीव—इनमें वरुण का यह वेविषाण-आप्यायन युग्मरूप और भी प्रकट है। मन के किसी सिसृक्षु भाव या परिकल्पना में यह सम्बन्ध सब कुछ में इन चार कलाओं की समग्रता तथा सरसता (Root interest or zest of Being and Becoming का) का अबाध योग वरुण देते रहते हैं, द्यौस्तत्व में संहत एवं अनुस्यूत रहकर।

प्रतिश्रुति सबके समक्ष

और अङ्कमान जो अग्नि है वह क्या देता है? प्रत्येक पदार्थ मुक्त समग्र के आधार में अपना जो लेख अंकन करेगा, उस अंकन के लिये शक्ति एवं छन्द के एक सामान्य भण्डार को अवारित करके अग्नि रक्खेगा। जैसे वरुण वेविषाण आप्यायन की सबके लिए वर्त्तमानता में एवं वृत्तिमत्ता के आधार और आलय देने में कार्पण्यता नहीं करते, पक्षपात भी नहीं करते, उसी प्रकार अग्नि भी उनके लिये शक्ति एवं छन्द का परिपूर्ण उत्स खुला रखने में पक्षपात नहीं करते। वास्तव में पूर्णतः Open free field unfettered zest of being and becoming unlimited reserve of Power to function in 'harmony relations' इस त्रितय की Promise and guarantee वरुणाग्नि दोनों मिलकर सृष्टि की एक नगण्य धूलि को भी देते हैं। कार्यतः अर्थात् (१) आभासादि प्रमातृ व्यवहार में, (2) उनके अपने पक्ष में अथवा (३) उनका हिसाब लेने जाने पर हमारे तुम्हारे पक्ष में इस प्रतिश्रुति त्रितय की जाँच या 'अदा' हो रहा है कि नहीं, यह सब तो हमारे कारबारी बही खाते की बातें हैं। सबका हिसाब खाता भी तो एक प्रकार का नहीं है! किन्तु तत्वतः वरुणाग्नि संहति रूप से द्यौः सबके पक्ष में उस ऐकान्तिक त्रिविध भाव से (जिसे ऊपर त्रितय के रूप में कहा गया है) (as field, flow, function-fouut) कार्पण्य बाधा-पक्षपात रूपी त्रिग्रंथि से रहित, माता एवं पिता (एकसाथ बनकर) बहिः अंतः अणु विराट रूपी प्रत्येक प्रसूत सन्तान को अपने अकृपण, पक्षपात शून्य अंक में स्थान देते हैं। माता बनकर सबको देते हैं, अवारित मुक्त अञ्चल और सबके मुख में पान कराते हैं अयाचित अकृपण स्तन्यसुधा और पिता बनकर सबको देते हैं उसका वीर्य एवं वैभव (छन्दः)। माता रूपेण वरुण, पिता रूपेण अग्नि। विशेषतः

अग्नि जड़ में होते हैं तेजः; प्राण में ओजः; मन में वर्चः; अहम् में आर्चिः एवं धी में भर्गः अथवा ज्योतिः। प्रत्येक स्थल पर अग्नि के आधान तथा दीपन की प्रतिज्ञा परिपूर्णता से होनी चाहिये। और परिपूर्ण एवं पक्षपात रहित भाव से वरुणाग्नि की प्रतिज्ञा जिसमें जिस तत्व में चिर प्रतिपालित होती है चिर रक्षित होती है, वह तत्व है द्यौः।

अतएव द्यौः को केवल आकाश अथवा कारण सलिल अथवा वैश्वानरादि अग्नि मात्र मत समझो। वर्त्तमान प्रसंग में परिचिन्तित वरुणाग्निसंहति रूप को (एक ही साथ मातृत्व पितृत्व) ध्यान में प्राप्त करो।

द्यौः एवं देव

द्यौः हैं देव, देवता, दैवत्। द्यौः के बिना देवता का आधान एवं दीपन नहीं होता। द्यौः वह मौलिक सर्वसंक्षय तत्व है; जिसमें देवता अपनी प्राण प्रतिष्ठा एवं अपनी अशेष शक्ति छन्दो वैभवमयी अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। इसीलिये द्यौः को 'त्रैत्रिंशकोटि' देवताओं का Matrix मानना होगा। Matrix तथा Radix दोनों ही। मन्त्र तथा यन्त्र के देवताओं के सम्बन्ध में भी यही है। जैसे एक षट्कोण यन्त्र। इसमें द्यौः वरुणाग्नि संहति रूप से कैसे विद्यमान है, इसका विचार करो। अखण्ड 'अमात्र' समग्र आधार (परमनाद) स्वयं को प्रथमतः बिन्दुरूप में 'एकमात्र' तथा 'घन' करते हैं। बिन्दु बनता है रेखा, त्रिकोण आदि। इन सबमें वरुण एवं अग्नि को पहचान लो।

द्यौः युग्म माता-पिता

जो मन्त्र ग्रहण कर रहे हो एवं उसके साथ जो भाव-भक्ति, ध्यान-धारणादि चल रही है वह तो वाह्यतः देश शक्ति, काल, सम्बन्ध में 'इतना सा' स्वल्प, खण्डित तथा व्यभिचारी है। किन्तु उसके महान्, अखण्ड, ध्रुव होने का शाश्वत आश्वास, परम भरोसा कौन देता है? ये युग्म माता-पिता द्यौः। सृष्टि के समस्त एतावत्, एतावान्, एतावती को वे ही इस प्रकार का आश्वास तथा भरोसा दे सकते हैं; जिसे एतावत्ता तो सत्ता एवं शक्ति अथवा छन्द से स्पर्श नहीं करती। सीमित तथा अवच्छिन्न भी नहीं करती। तभी 'नैतावत्ता दिवं स्पृशेत्'। जल या वायु में वीचिवितान कैसा होता है, विचार करो। 'ततोभूयः' रूप में जाते-जाते अन्त पर्यन्त एक 'भूमि' पाना आवश्यक है जहाँ पूर्वोक्त आपूरणी त्रितयी प्राप्त होती हो एवं साथ ही पूर्वोक्त पक्षपातादि बाधक प्रतिपक्ष भी पूर्णतः अपगत हो जाते हों। और वह केवल मुक्त निरपेक्ष आधारपट का ही नहीं, वरन् विश्वभुवन का अनाविल, स्वच्छन्द प्राणरस एवं अकुण्ठ शामग्री का भी आलय आधान हो जाता है।

अतः कारिका में कहा गया 'ब्रह्मसुवः । ब्रह्म की शाश्वती प्रसृति रूपा यह द्यौः । 'ब्रह्मणि सूयते सना' । ब्रह्म स्त्रष्टुकाम होकर निखिल का शाश्वत मातृत्व तथा पितृत्व एक साथ वहन करते हैं । वे निखिल की क्षुद्र एतावत्ता को, अपनी शाश्वत नैतावत्ता के कारबारी कुण्ठा कार्पण्य को मग्न करके उसे पुनः अपने उसी अंक में खींच लेते हैं । स्वयं ब्रह्म की आदिम प्रतिज्ञारूपिणी हैं यह महादेवता द्यौः ।

कारिका के अगले श्लोक में श्रुति मन्त्रों का उल्लेख हैं—अमृतं या शाश्वत जीवनरस । 'त्रेधा निदधे पदं'-स्थूल, सूक्ष्म कारण में शक्ति सम्पात् का अव्यय उत्स या भण्डार । 'अदिति' स्वयं अखण्ड, परिपूर्ण, पक्षपात रहित तत्व !

आशीर्वाद—मूल उत्स

आशीः या आशीर्वाद का भी मूल उत्स, प्रचोदयिता है द्यौः । एक विश्व-भुवन कल्याणदुधा महामहीयसी आशिष के 'बैंक' में 'चेक' काट कर समस्त देव-देवी और सन्तमहाजन द्वारा सार्थक आशीर्वचन का प्रयोग करना होता है । द्यौः तो उर्ध्व अधः, पृष्ठतः पुरस्तात् सर्वव्यापी है । तथापि नित्य युक्त उर्ध्वकर से उनकी व्यापनी, पावनी, आप्यायनी, दीपनी आशीधारा का वरण करता हूँ ।

प्रणवादि समस्त बीजमन्त्रों के शीर्ष में द्यौः ही नाद बिन्दु कला की समग्र ऋध्यमानता तथा परापारीणता के आधान अर्द्धमात्रा के रूप में रहती हैं । इनके छन्दः प्रशासन में पीठ तथा अधिरोहणी रूप से पृथ्वी एवं अन्तरीक्ष भी है ।

लौकिक संस्कृत भाषा में 'स्त्रीलिंग' होकर ये लोकविश्रुता माता हैं । और 'मधुद्यौरस्तु नः पिता' इत्यादि वैदिक मन्त्र प्रयोग में इनका पितृत्व भी बहुधा सुना जाता है । आर्यों की अन्य-अन्य शाखाओं में (जैसे ग्रीक और रोमन में) द्यौ= Zeus and Jupiter रूप से 'देवानां देवः' हैं ।

देवताओं का आवाहन आदि

द्यौः के बिना देवताओं का आवाहन विसर्जन या निरंजन नहीं है । मन्त्रोद्धार तथा चैतन्य नहीं है । यन्त्र का संकलन एवं निष्कलन भी नहीं है । तन्त्र का तापन आपूरण, सम्पूरण नहीं है । पूर्व-पूर्ण आलोचना के प्रकाश में इसे देखा गया है । अन्यथा 'अन्धेन तमसा' । द्यौः एक साथ ही 'पितरौ' माता च पिता च' । इन श्लोको की भावना करो—

द्यौर्माताऽमृतवर्षिणी परिहितज्योतिर्विशालाम्बरा
मर्त्यार्त्ताः समुदारमुज्वलरसं स्तन्यं पिबामो वयम् ।
आशीर्या परमाऽप्यमूर्त्तमहसा द्यौरेव सा नः पिता ।
धाम्ना ब्रह्मणि स स्थितिं प्रथयतु आनन्ददीपोज्वलाम् ।।१३७।।

वेदे श्रुता द्यौ अमृतरूपिणी अमृतवर्षिणी,
आदिमा जननी परिधान ज्योतिर्विशाल अम्बर।
मर्त्य आर आर्त्त यत विश्व प्राणी, करि येन पान
शाश्वत-क्षरित उदार उज्वल स्तन्यसुधाधार ॥
अमूर्त्त, तबुओ महीयसी जार आशिष परमा,
आशिषस्वरूपा सेई माता, एकाधारे पिता।
सेई पिता! स्वरूपेर आनन्द-दीप-समुज्वला।
ब्राह्मी जे स्थिति ताय, नीज वीर्ये कर पारमिता ॥

पृथिवी मूलतः कौन वस्तु है

सोममित्रसंङ्घातात् पृथिवी ॥

सोम एवं मित्र—इनकी संहति से पृथिवी ॥

सोम की भावना विन्दुरूपेण (इन्दु विन्दवः) करो—जैसा वेद के रहस्य वारिधि निष्णात ऋषिकुल ने किया था। जप में नाद अर्द्धमात्रा सेतु के द्वारा विन्दु से समुदित होता है और पुनः बिन्दु में ही विलीन हो जाता है। इस उदय-विलय का स्थल है सोमविन्दु। यहाँ बिन्दु से (केवल जप में ही नहीं सर्वत्र) उदय, उन्मेष वितान के दिक् को यदि (+) कहें, तब निखिल धूतजात जिससे यह धनमुखी स्थिति एवं वृत्ति प्राप्त करता है, उसे कहो धनी या हृत्तमर्ण और वह है मित्र। विलोम में विलय के अभिमुख में जो वृत्ति है; यदि उसे कहो ऋण (—) एवं अवम पर्याय में लो, तब एक विपरीत अन्य कोटि प्राप्त होती है ऋणी या अवमर्ण=अर्यमा। उत्तम' एवं 'अवम्' को गणित की परिभाषा के समान दोष लेश रहित जानो। जैसे बीज से वृक्ष, वृक्ष से पुनः बीज। नाभि के अरविस्तार से चक्रनेमि। चक्रनेमि के अर-संकोच से पुनः नाभि। अधमर्ण न कहकर अर्यमा को अवमर्ण कहा गया। 'अवम्' और 'अउम' में भूल न करना। (अर्थात् दोनों को एक न समझना।) संख्या विज्ञान में किसी संख्या का उसके वर्ग, धन इत्यादि क्रम से प्रसार किया जाता है; वर्गमूल, धनमूल इत्यादि क्रम से उसे संकोच में लाया जाता है। एक है 'मूल' या बिन्दु की दिशा में गति वृद्धि, दूसरी है बिन्दु से नाद की ओर। ऋ=गति होना; ऋ के मूल या Root का सूचक लिंग हुआ अवमर्ण। 'व' का प्रसारण=उ। 'उ' का संकोचन 'व'। ऋ+ण इस आकृति का परीक्षण करो। ऋ अर्थात् मूर्द्धन्य धामाभिमुखी गति। 'ण' उसे मूर्धन्य धाम में रखते हुये ही अनुनासिक स्पर्श दे रहा है। अनुनासिक=विन्दु गोत्रीय। किन्तु सर्वत्र किसी महाप्राण का माध्यम प्राप्त नहीं करता; इसलिये वह स्पर्श स्पर्शमात्र रह जाता है। या तो स्तब्ध रहता है अन्यथा

च्युत हो जाता है। जैसे महाप्राण 'ष' में आया, जैसे कृष्णनाम में। और अब अच्युत धाम से च्युति का भय नहीं है।

धन एवं ऋण दृष्टान्त

किसी स्थान से कुछ लेता हूँ, यह सोचकर कि लौटा दूँगा। साधारणतः यही है ऋण। किन्तु वापस देना होता है तब अपनी पूँजी तो होनी चाहिये। अन्यथा केवल ऋण ही नहीं रह जाता प्रत्युत सूद भी चक्रवृद्धि से बढ़ता जाता है। यहाँ मूलधनी महाजन 'मित्र' विश्व के गण्य-नगण्य सभी कारोबारी को आश्वास देते हैं 'मूल के साथ या मालिक के साथ 'योग' रखकर कारोबार चलाओ। धन की चिन्ता नहीं, जो चाहिये मिलेगा।' मूल ऋणी अर्यमा भरोसा देते हुये कहते हैं 'मूल के साथ योग है तो, वियोग में मत जाना। चिन्ता क्यों? ऋण की चिन्ता तो मैं करूँगा। जहाँ की वस्तु है उसे ठीक से वहीं लौटा देना।'

जैसे गायत्री प्रभृति में मूल है विन्दु। मित्र यहाँ क्या करते हैं? 'वरेण्यम्' की चरम सीमा तक तुम्हें ले जाते हैं। तुम्हारे भाव, तुम्हारे छन्द के आवश्यक सम्बल वह सब जुटा देते हैं। जुटाते हैं विन्दुवासिनी माँ के ही भण्डार से। तुम्हारा यह 'वरेण्यम्' तो मातृ ऋण है। इसके परिमाण, महिमा का अन्त नहीं है। तब भी इस ऋण को पूर्णतः चुकाना होगा। 'धीमहि' में उनके खाते पर दस्तखत किया और 'धियो यो नः प्रचोदयात्' में उस दस्तखती खाते को उनके चरणों में समर्पित कर दिया। हमारा जो 'वरेण्यम्' है वह तो तुम्हारा है 'वर माँगो'। इस अंतिम कार्य का समाधान जो करते हैं, वे हैं मित्र के प्रतियोगी अर्यमा। प्रतियोगी को लड़ाई का 'मोहरा' मत मान बैठना! यह प्रतियोगिता है संगति में, संवाद, सङ्गच्छध्वम्, संवदध्वम्। मित्र अर्यमा का विवाद नहीं है। दोनों मिलकर है 'वाम्' जैसे शान्ति मन्त्र में। विश्व में जितनी वृत्त, आवृत्त, समावृत्त गति है, सब उसी में है। इन मूल धनी ऋणी युगल (मित्र-अर्यमा) के 'संवाद' में रहने पर सर्व सुसंवाद है। मित्र 'धन' की मर्यादा का योग करते या दान करते हैं। अर्यमा उस मर्यादा का क्षेम या रक्षण करते हैं।

धन ऋण मुख्यतः मूल से दिक् के हिसाब को लेकर है। मूल (origin, Root) से बाहर करने का एक दिक् है और मूल में वापस आने का एक और दिक् है। out going and in going functions.

'जगत्बीजाङ्कुराकृति' मूल इसी प्रकार से प्रसरत्-सङ्कुचत् होता रहता है। किन्तु उसके साथ बाहर होना पुनः उसमें लौट आना, में दो प्रश्न उठते हैं क्यों एवं कितना? जैसे प्रणव में मूल—विन्दु। उससे प्रस्तुत होता है नाद एवं अ उ म, इन तीन कला तथा मात्रा में। नाद है ज्ञेय एवं व्यक्त। कला में वह ज्ञेय व्यक्त तो अभि-

व्यक्त हो रहा है। अन्त में विन्दु शासन में पुनः अव्यक्त अमेयता में वापस लौट जाता है।

मान कितने प्रकार से ?

इस बार मेयता या मान को पाँच प्रकार से कहा गया है कारिका में। शक्र (शक्धातु)=समर्थमान। इसके अधीन या तन्त्र में पृथु, गुरु, तनु अणु एवं उरु=पाँच मान हैं। मान=Measure। इन्द्र देवराज हैं, वे बल अथवा साहस की काष्ठा (Critical Efficiency) के प्रतिभू हैं। इस मान को (साहस के मान को) उरु करके रखते हैं वरुण। गुरु करते हैं दो प्रकार से बृहस्पति एवं शुक्र। पृथु करते हैं पूषा। मित्र तथा अर्यमा का परिचय पहले दिया जा चुका है। तन् धातु को धन-मुखी वितति की ओर लेने पर मित्र। गत्यर्थ अथवा प्राणनार्थ अण् धातु को ऋण-मुखी सूक्ष्मता की ओर लेने पर अर्यमा। एक है नाद गोत्र, दूसरा है विन्दु गोत्र। गान में जैसे तान एवं लय। तनु एवं अणु दोनों में ही वेधमुख्य 'उ' वर्ण विशेषतः नाभि या केन्द्र सम्बन्ध की सूचना देता है।

पृथु करते हैं पूषा—'प' में है दीर्घ उ कार। अनुभागान्त भी है। पृथु दो पर्याय में है उरु गोत्र एवं गुरु गोत्र। प्रथम (उरु गोत्र) के वरुण, द्वितीय गुरु गोत्र के बृहस्पति, अन्यथा शुक्र अनुग्रह तथा अङ्गीकार करते हैं। एक Energy as Radiation, अन्य Energy as Mass एक में व्यापनी अन्य में घननी। एक में नाद या सूर्य, अन्य में विन्दु या सोम मुख्य। पूषन् अपने दीर्घ स्वर को संकुचित ह्रस्व करते हैं। अन्त के 'अन्' भाग का भी त्याग करते हैं। अब होता है पुष्। पोषणार्थ-पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः। अतः पृथु की सोममुख्या अभिव्यक्ति से होती है पृथ्वी।

तनु एवं तन्

तन् धातु से मित्र जिज्ञासा करते हैं—हमारे साथ वितान प्रसार के लिये चलोगे? चलोगे? अच्छा तब तुम हो जाओ पृथु। हो गये। अच्छा! अब कहो कि उरु होना चाहते हो या गुरु? व्यापनी में या घननी में? नाद में वहमाना या विन्दु में शयाना होंगे? सविता के समन्तात् विच्छुरित् 'भर्गस्' में लोभ है या सोम की स्निग्ध घनायमान रोचिष में? यदि मुग्धा स्थिरा होकर सोम की उस निबिड़ घनायमानता में विभोर होकर रहना चाहो, तो हो जाओ पृथिवी। और पृथिवी होकर अपना नाम रक्खो 'क्षमा' एवं औषधिजननी"।

एतावत् आकृति

अतः पृथ्वी में (१) सोम विन्दु रूप से नाभि या केन्द्र रहेंगे

(२) मित्र पूर्वव्याख्यात उत्तमर्ण रूप से तनुता एवं पृथुता का विधान करेंगे

(३) वह पृथुता उरु गोत्र में न जाकर विशेषतः गुरु गोत्र में आयेगी।

और इन तीनों के फलस्वरूप—

(४) पृथिवी द्यौः तत्व की नैतावत्ता को एतावती रूपेण निरूपित करेगी।

अर्थात् unmeasured होगा Mersured. विश्वव्यापी जो तेजः ओजः तथा वर्च है, वह इस प्रकार नाभिनिष्ठ केन्द्राश्रयी होकर पृथुता-गुरुता अंगीकार करके एतावत् आकृति में न आये तब जड़ क्षेत्र में ऐटम आदि, प्राण क्षेत्र में प्रोटोप्लाज्म सेल इत्यादि तथा मानस क्षेत्र में अहम् इत्यादि कभी भी एतावत् आकृति में उद्भूत नहीं होंगें। तब कुछ भी स्थिर नहीं होगा, प्रतिष्ठारूप नहीं होगा और एकत्रित भी नहीं होगा। इसलिये 'ब्रह्मभूः'। द्यौः स्वयं ही इसके बिना देव या देवता रूप में मूर्त्तवती नहीं होते।

पूर्वव्याख्यात कारिकायें यह हैं—

उरुः स्याद्वरुणो विष्णुस्तनव इन्दुविन्दवः।
इन्दुः शत्रुः पृथुः पूषा गुरु शुक्रबृहस्पती॥ १३८॥
उद्धमर्णो भवेन्मित्रश्चावमर्णस्तु योऽर्यमा।
तनुर्धनेन पृथ्वी स्याद्‍णेन चाणुता मता।
एतावतीती वाच्या या ब्रह्मभूः क्ष्मौषधीजनी॥ १३९॥

मुख्य का व्यपदेश

मुख्तत्वेन व्यपदेशः सर्वत्रः॥

इस संघातसूत्र में सर्वत्र (तत्व समूह का) मुख्यत्व विचार ही व्यपदेश हुआ है, इसे समझना होगा।

सर्वत्रः सर्वतत्वानां सन्निवेशोऽपि मुख्यतः।
प्रसज्यतानुरोधेन प्रत्येक प्रतियुज्यते॥ १४०॥

सर्वत्र सर्वतत्वों में सन्निवेश रहने के कारण मुख्य भाव में कौन मुख्यतत्व प्रासंगिक है, इस प्रकार प्रसज्यमानता अनुरोध के कारण द्यौः पृथ्वी इत्यादि प्रत्येक तत्व की प्रतियोजना की गई है, इसे स्मरण रखना होगा। (प्रसज्यमानता = Relevency in respect of the given context) जैसे पृथ्वी तत्व के निरूपण में विशेषतः सोम तथा मित्र संहति में आये हैं अतएव वरुण अग्नि वहाँ अवकाश स्थल नहीं पा सके, इस प्रकार की परिछिन्न दृष्टि असमग्र तथा अयथार्थ दृष्टि है। व्यवहार के कारण तत्व बहुत श्रुत, कथित, विवेचित होने पर भी वह किसी स्थल पर

भी वस्तुतः अवच्छेद-परिच्छेदादि से खण्डित नहीं होता। तभी तो वेदमन्त्र में है 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरीक्षम्'। पृथ्वी भी अदिति है और द्यौः तथा अन्तरीक्ष भी अदिति हैं। "द्यौः तत्व में जो है, वह पृथ्वी तत्व में 'पूरा' नहीं है, दोनों का संघात पूर्ण स्वतन्त्र है—इस प्रकार का दर्शन दैवदर्शन न होकर दैत्यदर्शन है। पृथ्वी क्यों द्यौः की दुहिता है एवं उसके साथ ग्रथिता तथा समन्विता है, यह भी चिन्तन करो।

अन्तरीक्ष मूलतः क्या वस्तु है ?

यतः सङ्घातेन स्थिति स्तदन्तरीक्षम् ॥

जिसमें आश्रय करके सबकी संघात में संहत रूप से स्थिति घटित होती है; वह है अन्तरीक्ष ॥

तनूरुपृथुभावेषु सर्वेषु संहताकृतिम् ।
बुभूर्षत्यन्तरीक्षं यद् ब्रह्मभूर्वहि निष्ठितम् ॥१४१॥
उकारः प्रणवस्येदं विश्वविष्टपविष्ठरः ।
पर्यावस्थितिमाधत्ते देशे काले च वस्तुनि ॥१४२॥

तनु, उरु, पृथु प्रभृति की सर्वतोभाव से पदार्थ समूह में जो सहजाकृति है (Congruent Configuration organism) है, उसे भरण करने की इच्छा करते हैं अन्तरीक्ष तत्व। ये हैं ब्रह्मभुवः। समस्त पदार्थ का केवल मात्र वाह्य (extrinsic) सम्पर्क समूह (Relaticns) का ये आधान करते हैं, ऐसा नहीं है। आन्तर (Intrinsic) सम्पर्क का भी करते हैं, जैसे The intrinsic geometry of space. एटम, प्राणिकोष में, अन्तःकरण, ज्योतिष्क मण्डल इत्यादि अणु विराट में, अन्तर्बहिः समस्त संस्था में अन्तरीक्ष निष्ठित है यह जानना होगा। जैसे जपादि किसी कर्म में। वह जिस 'अपूर्व' द्वारा फल प्रसव करेगा, उसे तीन भाग में विश्लेषण करके देखना और समझना होगा। पूर्व कथित द्यौः (ब्रह्मसुवः), पृथिवी (ब्रह्मभूः) एवं अन्तरीक्ष (ब्रह्मभुवः)। मध्य में 'यह' रूप से कार्य कारिका शक्ति सामग्री का (अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथक् विधम्, विविधाश्च पृथक् चेष्ठाः) अवस्थान भी निरूपित करता है। इसे कहते हैं Kinetic Total. प्रथम द्यौः (देवञ्चैवात्र पञ्चमम्) 'वह' रूप से सत्ताशक्ति के अव्यय भण्डार को उस सम्बन्ध में खोल देता है। opens the Reservoir of potential energy. खोल अवश्य देता है, किन्तु अन्तरीक्ष को माध्यम में रखकर। अर्थात् अन्तरीक्ष ही निरूपित करता है कि कितना, किस प्रकार से 'यह' और 'वह' एवं कार्यतः व्यापारवत्ता (Interaction in effect) घटित होना है।

इसलिये अन्तरीक्ष को पदार्थ मात्र में देश-काल-वस्तु के सम्बन्ध में परिस्थिति तथा अवस्थिति भाव से सम्बन्ध संस्था संघटक तत्व रूप से देखो। 'परिस्थिति' अर्थात् विशेषतः परिवेश या परितः संस्थान और अवस्थिति अर्थात् सन्निवेश एवं आभ्यन्तरीण संस्थान। जैसे जड़ में Nuclear physics विशेषतः ऐटम अवस्थिति के निरूपण में नियुक्त है और साधारणतः Chemistry, Physics इत्यादि उसकी परिस्थिति एवं परिवेश के हिसाब को लेने के लिये व्यापृत हैं। साधारण Psychology के व्यापक पदार्थ Parapsychology के वस्तु भेद की भावना करो।

शाक्तीतनु तथा शक्तिलेख का आधार

सब कुछ के शाक्ती तनु (Dynamic Diagram) एवं शक्तिलेख का (Power picture as curve ete.) स्थिति एवं गति के स्थल पर (both of rest and in movement) आधान करते हैं अन्तरीक्ष। बाहर तथा अन्दर दोनों स्थल पर। अतः सब कुछ के मन्त्र का यदि आधान करते हैं द्यौः, तब सब कुछ के यन्त्र का आधान करते हैं अन्तरीक्ष और तन्त्र का पृथ्वी। (पृथ्वी के लक्षण में तन् धातु का जो वर्णन किया गया है, उसका पुनः ध्यान करो)। मन्त्र के देवता एवं ऋषि है द्यौः। अन्तरीक्ष है छन्दः। विनियोग है पृथिवी। इस प्रकार से बहुधा भावना करो।

प्रणव में 'य' है 'उ'। इस विश्वरूप पादप का विस्तार तथा अङ्ग संस्थान-विधान प्रणव के इस 'उ' वर्ण द्वारा होता है।

दीर्घह्रस्व

तस्य स्थौल्यसौक्ष्म्य व्यपदेशाद् दीर्घत्वह्रस्वत्वे।

अन्तरीक्ष के किसी स्थल में दीर्घ ईकार, किसी स्थल में ह्रस्व इकार होता है यथाक्रमेण स्थौल्य (Patency) एवं सौक्ष्म्य (Latency) एवं व्यपदेश में॥ स्थौल्य = वैराज्य = Macro-Cosmic। सौक्ष्म्य = आणव = Micro Cosmic = इस प्रकार से व्यपदेश भी होता है।

ताराव्यूहेषु यत् स्थौल्यं सौक्ष्म्यं तनुषु यद्ग्रहः।
वाह्यं वान्तरमेवेतो दीर्घत्वेपान्यथा स्फुटम्॥
(इतः = इवर्णस्य)॥१४३॥

ताराव्यूह, नीहारिका इत्यादि दृष्टान्त में स्थूलता है वैराज, विराट को विषय बना कर है। इन सब क्षेत्र में वस्तु (mass) विराट् हैं; अपने गति वेगादि के अनुरूप एवं जो अन्तरीक्ष अपने स्वगत आधान एवं परिवेश में है, वह अन्तरीक्ष भी विराट् है। आलोक के गतिमान को जड़ के क्षेत्र में चरममान मानकर विराट

अन्तरीक्ष की अवकाश विशालता को इस चरममान वर्ग (Light year) द्वारा परिमेय करना पड़ता है। Astral Physics इस विराट अन्तरीक्ष को एक महाविपुल विस्मय की वस्तु रूप में हमें दिखलाते हैं। हमारे इस छायापथ में जो अन्तर्वर्त्ती ब्रह्माण्ड (galactical system) है; वह तो अगणित ब्रह्माण्ड पुंज में अकेला है। और इन सब को जड़ित किये हुये जो महाविराट है यदि उसे नाम दो Physical universe (स्थूल विश्व); तब वह विश्व भी प्रसरत् (Expanding) एवं सम्भवत: अन्य ओर संकुचत् (Contracting) भी है। अर्थात् हमारे पूर्व परिचित उत्तमर्ण (मित्र) तथा अवमर्ण (अर्यमा) इस विराट के क्षेत्र में भी स्वाधिकार में रहते हैं।

नाना क्षेत्र में दृष्टान्त

राईमैन ज्योमिट्री के सिद्धान्त प्रदीप में Space ही Limited होकर स्वयं को एक विपुल अथच परिमेय परिमण्डल (ब्रह्माण्ड) रूपेण प्रदर्शित कर रहा है, एवं वह Space and Time को सहायक बनाकर अपने स्वगत (Intrinsic) शक्तिलेख को वक्ष में अंकित करके विद्यमान है। एकदम खाली Pure vacuum का अस्तित्व कहाँ है ? प्रकृति कहीं भी खाली स्थान रखने से बहुत नाराज है। और 'खाली' vacuum के माध्यम से वस्तु समूह की शक्ति का कारोबार कैसे चलेगा ? अत: 'ईश्वर' की कल्पना आई। किन्तु वर्त्तमान में Time के साथ space अपनी ज्योमेट्री द्वारा कार्य करने का भार अंगीकार करके कल्पना के गौरव को कुछ कम कर चुका है, इसमें संदेह नहीं है।

सूक्ष्म में 'तनूषु यद्रह:' निगूढ़ जो स्पेस है और उसमें क्रियमाण जो शक्ति है; वह भी वर्त्तमान शतक में जड़ विद्या में सूक्ष्म परिमाण के हिसाब से आ रही है। quantum के देश में जो मौलिक मान (unit measure) है, वह प्लैंक के समय से विज्ञान बाजार में चल रहा है वह मान (L) तो बड़ा ही 'अणोरणीयान्' मान है ! किन्तु यह कहने से आणवी शक्ति भाण्डार चीटीं का भाण्डार नहीं है। और इस देश में तो वामन बालखिल्यों की नटन गति भी तो शंम्बूकगति नहीं मानी जाती !

मित्र-अर्यमा विनियोग

मित्र-अर्यमा तो वास्तव में अलग तत्व नहीं है। एक जन तो उत्तमर्ण के 'पाट' से उतर कर 'तन्' को पकड़ कर पृथु, गुरु, उरु क्रम से 'महतो महीयान' की खोज में चले, दूसरे जन इस तन् से ही प्रारंभ करके अवमर्ण की भूमिका में चले 'अणोरणीयान्' की खोज में। किन्तु खोज की वस्तु जब एक ब्रह्म है तब यह यात्रा तो किसी वृत्त की परिधि के किसी एक विन्दु से दो दिशाओं की यात्रा के समान

है । पहले तो व्यवधान बढ़ जाता है, किन्तु बाद में ? मित्र उत्तमर्ण-रूपेण एक ही ब्रह्म (अथवा नाद विन्दु का) दिखलाते हैं 'तनुषु यन् महः' रूपः' । और अर्यमा अवमर्णरूपेण दिखलाते हैं 'तनुषु यद्रहः' रूप । जिस तन् या तनु की पहले भूमि या प्रतिष्ठा (as frame or system of Co-ordinates) करके दोनों दिशा में इस प्रकार द्विविध मेयता-ज्ञेयता का अभियान प्रारम्भ होता है, अन्त में पुनः मिलने के ही लिये, उसे अन्य दो विशेषण से विशेषित करने पर (विशेषण—पृथु—गुरु) हो जाता है पृथिवी ।

जसे त=कोई तल । न=हसन्त । 'न' कहता है तुम्हें पूर्णग्राम में या वर्ग मे आवृत्तिमान करता हूँ । थ—द—ध में रुक कर अन्त नहीं होने दूंगा, समाप्त नहीं होने दूंगा । 'न' में भी रूकूंगा नहीं । अर्थात् आवृत्ति में चलूंगा । प्राप्त हुआ—Circular measure, तन् तथा उ वर्ण युक्त होकर वेधवृत्ति (Third fourth इत्यादि Dimensions) लाये । फलतः Circle हो गया sphere, spiral आदि । व्यापार अब आवृत्त (circular) न होकर ऋजु रैखिक (त्रिभुज—चतुर्भुज, षट्कोण इत्यादि) आकृति को प्राप्त करता है । इस अन्तिम आकृति में (गणित का) 'पाई' गोत्र नहीं है परन्तु समकौणिक गोत्र की सविशेष सावकाशता है । किन्तु समस्त गोत्र का मूल गोत्र है ब्रह्मगोत्र=विन्दु-नाद-कला इस त्रयीरूप में जो गोत्र सृष्टि के निखिल मंत्र, यंत्र तथा तंत्र में अपना प्रवर परिचय देता है । इस त्रितय में अब द्यौः को विशेष करके निखिल वस्तु जात के मन्त्र में, पृथिवी को तन्त्र में और अन्तरीक्ष को यन्त्र में अधिष्ठित होते देखता हूँ, यह पहले हीं कहा गया है । सर्वविध आणव या वैराज संघ एवं संहति में 'यमन' तथा 'भरण करते हैं अन्तरीक्ष ।

वेद का अन्तरीक्ष या अन्तरिक्ष

वेद या आर्य प्रज्ञान का जो अन्तरीक्ष या अन्तरिक्ष हैं वह वर्त्तमान विज्ञान की स्वगत'संस्था-विशेषित Time के साथ space में उदाहृत अवश्य है किन्तु दोनों को 'सरासर' समीकरण में करना उचित नहीं है । सरासर=In accurasy manner) । केवल जड़ ही का क्यों, प्राण तथा मन का वरुण-दैवत वेविषाण रूप (As continuum) स्मरण रखना ही होगा । अन्यथा 'मूर्द्धा विपरिष्यति' । विज्ञान की जड़ वस्तु तथा अन्तरीक्ष दोनों एक अखण्ड समग्र के प्रत्यवच्छेद (cross-sectioning) हैं । प्रत्यवच्छेद के फलस्वरूप वस्तु एवं अन्तरीक्ष अपने प्राण तथा चेतना के आधार तथा उत्स से विच्छिन्न होकर मृत हो जाता है । जगत सूत्र की आलोचना में यह तथ्य कथंचित् विशद रहता है । 'अंकक' अग्नि अन्तर्बहि विश्व में सब कुछ की गति स्थिति लेख का अंकन करता है और कर रहा है एवं सब कुछ को अध्वनीन (अपने अध्व में सम्यक् रूप से वृत्तिमान) होने दे रहा है अन्तरीक्ष या अन्तरीक्ष रूपेण । प्राणस्पन्द एवं चित्तस्पन्द भी अन्तरीक्ष सम्बन्ध में अवान्तर नहीं

हैं। स्वयं ब्रह्म ही ब्रह्मभूः रूप से अन्दर बाहर, अणु विराट समस्त संहृति का संस्था संस्थापक, शाश्वतीतनु एवं शाश्वती लेख का विधाता, लेखक अंकक है। प्रणव के 'उ' रूप से वह निखिल को निर्देश देता है—सङ्गच्छध्वम्'। प्रणव के आदिम स्वर (अ) में और विवाद में नहीं संवाद में आने पर है 'संवदध्वम्'।

अब सुसंगत सुसंहृत हो जाओ, पारम्य की ओर यात्रा के लिये। एवं उसके प्रसाद से 'समाना व आकूतयः। तुम्हारी आकूति (core aspira'ions) भी समान हो। यह है प्रणव का अंतिम वर्ण 'म'। सृष्टि की अभिव्यक्ति धारा के परस्पर असंगति विवाद में न पड़ कर परम की पूर्णता की ओर अभिमुख हो जाओ।

वैराज तथा आणव दृष्टि

अन्तरीक्ष का दीर्घत्व या ह्रस्वत्व केवल मात्र पूर्वोक्त वैराज (Macro cosmic) एवं आणव Microcosmic दृष्टि से नहीं होगा। स्फोट (Patent) एवं अस्फोट (Latent) दृष्टि से प्रसंगतः करने से होगा। यहाँ स्फोट को पारिभाषिक रूप से नहीं लिया गया है। इसके अतिरिक्त क्रियमाणा शक्ति व्यवधान (Medium) के माध्यम से किस प्रकार का संवेग Momentum आता है, यह भी विवेच्य हो सकता है। इसके अतिरिक्त क तथा ख में शक्ति विनियम होने पर जो मुख्य है (जैसे दीक्षा गुरु) उसकी अपेक्षा में अन्तरीक्ष एक प्रकार का है और जो गौण (शिष्य) है उसकी अपेक्षा में अन्य प्रकार का है। किस शक्ति भाण्डार से शक्ति संग्रह हो रहा है, इस भेद को स्मरण रखना होगा।

शक्ति की स्वभाव प्रवणता

शक्ति जिस किसी भाण्डार से क्यों न आये, वह स्वभावतः खोजती है उस वर्त्म को (the line of Least resistance 'the shortest Route) जिसमें सर्वाधिक या न्यूनतम बाधा हटाना पड़े। अथवा और भी गंभीर व्यापक रूप से देखने पर—वह खोजती है वह वर्त्म रेखा, जिस पर चलकर उसका कर्म सबसे न्यून एवं सहज हो जाता है (Principle of Least Action) इस दृष्टि से देखने पर सृष्टि में समस्त शक्ति स्वभाव प्रवणता होने पर अन्तरीक्ष (ह्रस्व इकार) के आश्रय में क्रिया कराती है। प्रकृति स्वभावतः परिमित व्ययिनी है। अतः देश (space) में शक्ति कारबार का जो हिसाब हम ले सके हैं उसमें प्रकृति के इस प्रकार के 'नाप जोख' मे उसका आयोजन अनुष्ठान सम्पन्न होते देखते हैं। प्रकृति मे इस प्रकार के कुण्ठा कार्पण्य को जड़ता कहा जाता है। हम भी जिस परिमाण में अपनी 'अपरा' के अधीन हैं, उसी परिमाण मे 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव'।

प्राण की भूमि

जड़ के क्षेत्र में आणव नाभि (Nucleas) सम्प्रति (इस शताब्दी में) चालू माप जोख के हिसाब के बाहर एक महा विपुल प्राचुर्य के भाण्डार को उन्मुक्त कर दे रही है। यद्यपि उसका पूर्वाभास रासायनिक क्रिया में था। प्राण का देश विशेषतः प्राचुर्य का देश है। अणिष्ट (एकदम क्षुद्र) बीज कणिका भी अस्फुरन्त रूप से ,बहु' होना चाहती है, निरवधि भूयसी, महीयसी होने की आकृति को पूर्ण करना चाहती है : चेतना के देश में मन तो इस दृष्टिकोण से एक अभावनीय महाश्चर्य है। कहीं पर शास्त्रो ने प्राण को अणु भी कहा है। किन्तु यह अणु ब्रह्माणु !— ब्रह्म में, भूमा में, अवसान हुये बिना इस अणु की आकृति का अन्त नहीं ! मन को भी कहीं कहीं अणु माना गया है। यह मन तो निखिल सृष्टि को ही अपने अनुभव में, जल्पना में, मनन, विचार में उपलब्धि द्वारा 'मनस्थ' करने के प्रयास में लगा रहता है ! अतः प्राण तथा चेतना के राज्य में पूर्वोक्त कार्पण्यदोष के परिहार का प्रयास स्वभावतः परिस्फुट देखना चाहता हूँ। अतएव जड़ के देश की तुलना में यहां 'अन्तरीक्ष' दीर्घत्व ही अस्वीकार करते हैं इस दृष्टि भंगी में। अर्थात् प्राण चेतना के क्षेत्र में अन्तरीक्ष प्रत्येक केन्द्र को मानों पुकार कर कहता है 'तुम प्रभूत संवेग सम्पन्न हो जाओ प्रचुर प्रतुल कर्मा हों जाओ।'

फलतः अन्तरीक्ष का यह दीर्घत्व ह्रस्व विचार केवल मात्र पारिभाषि मान कर छोड़ने से कार्य नहीं होगा। विश्व शक्ति मण्डल के किसी भी लेख को अंकित करने पर अन्तरीक्ष के इस द्राधिमादि का प्रसंग अनिवार्य सा हो जाता है। जप में भी ऐसा ही है। जैसे गायत्री में 'धीमहि' मे 'धी' का दीर्घत्व क्यों है, बाद में ह्रस्वत्व क्यों हैं और 'धियोयोनः' में 'धि' का ह्रस्वत्व क्यों हैं, इन सब में अन्तरीक्ष-तत्व-विवेक एकमात्र प्रासंगिक है। जैसे धीमहि में 'धी' का दीर्घत्व बुद्धि की ध्यान प्रयास भूयिष्ठता का सूचक है। 'धियो योनः' में बुद्धि की प्रपत्ति प्रवणता है। तभी स्वर ह्रस्व है। इत्यादि।

प्रासंगिक विचार में मूल Frame work

इस सूत्र की आलोचना में दीर्घत्व-ह्रस्वत्व विचार के कतिपय संकेतों का निर्देश किया गया। संकेत का सम्यक् संधान करने पर पहले प्रासंगिक विचार का एक मूल ढांचा तय कर लेना होगा। किसी एक प्रासंगिकता अथवा दृष्टि भंगी से जो दीर्घ है; अन्य दृष्टि से वह है ह्रस्व। जैसे बैखरी से पश्यन्ति में जाते समय मध्य में मध्यमा का सेतु पार करना होगा। यह है अन्तरीक्ष। यहाँ दो और सन्धि है। अवर तथा वर। अवर के दिक् से अन्तरीक्ष को क्या मानोगे ? इसके उत्तर के लिये पहले निर्णायक सूत्र को ठीक कर लेना होगा। यदि पश्यन्ति को शक्ति भण्डार के

उत्तमर्ण स्थल में दीर्घ और अधमर्ण के स्थल में ह्रस्व माना जा सकता है, किन्तु वैखरी विशेषत: प्रयास बहुलता की भूमि है और पश्यन्ति है प्रपत्तिविशाला। इस प्रकार दृष्टि करने पर वैखरी स्थल में दीर्घ और पश्यन्ति स्थल में ह्रस्व हो सकता है। जहाँ पर शक्ति बाधा के कारण रोध परम्परा को चूर्ण करते हुए अग्रसर हो रहे हैं, वहाँ दीर्घ 'ई' सुसंगत है--जैसे ह्रीं बीज और जहाँ सहज स्वच्छन्द गति वर्त्म प्रपत्ति तथा कृपा से खुल गया है, वहाँ है ह्रस्वता। जैसे गतिविज्ञान में 'क' से 'ख' में गति सरल रेखा में होती है। जड़ीय सृष्टि प्रपंच में (एवं अपरा के स्तर में) गति सरल रेखा में नहीं होती।

उदाहरण

पुन:, गायत्री आदि जप में स्पष्टत: एवं जपमात्र में ही निगूढ़त: ये पाँच अवान्तर शून्य तथा अन्त में एक अनुत्तर महाशून्य का संधान प्राप्त करना होगा। (जैसे गायत्री जप में पराव्यक्त विन्दुलीनता में एवं परापारीण ब्रह्मसद्भाव में)। उनमें से अवान्तर स्थूल से स्पर्श (अत: ह्रस्वत्व) एवं अनुत्तर से संश्रय (दीर्घत्व) व्यपदेश अन्तरीक्ष के सम्बन्ध में करना होगा। षष्ठ स्थल को साध्य भूमि में पहले सेतु या द्वार रूप से प्राप्त करना होगा तब होगा महाशून्य में संस्पर्श (ब्रह्म संस्पर्श) क्रमशः कलानाद के बिन्दु में निष्ठित हो जाने पर परापारीणता का द्वार उन्मुक्त हो जाता है। तब और साध्यसाधना नहीं रह जाती। महासमन्वय का महा-संगीत परसमन्वय के परममौन में अपनी लय को मिला लेता है।

नाभि-अर-नेमिरूप व्यवस्थिति--

सूर्याचन्द्रसमाविति नाभिनेम्यरत्नेन व्यवस्थितिः ॥

(सृष्टि में सर्वत्र) सूर्य तथा चन्द्रमा को इस प्रकार से (द्विकोटिक), तथा नाभि नेमि-अर को इस प्रकार से (त्रिकोटिक), व्यवस्थिति (देखना होगा)।

सूत में तथा दुग्ध में

सूर्याचन्द्रमसौ पहले अत्यन्त विस्तार से आलोचना में आये हैं। वर्त्तमान सूत्र में इस मूल आकृति को लो सूर्य=सूते--जो सब का प्रसव करते हैं। और चन्द्रमा=सब कुछ में रुचिपूर्वक, संस्कार के अनुरूप (According to Basic Tendency and inclination) चुन लेते हैं। एक है (सूर्य) Principle of production and supply, दूसरा (चन्द्रमा) है Principle of Selection and distribution एक के द्वारा विश्व का सब कुछ output (बाहर आता है) अन्य के द्वारा Intake (अन्दर आता है)। एक है जड़रेणु से आरम्भ करके विराट मन पर्यन्त। सब द्विकोटिक व्यवस्थिति (Bi-polar Constitution) की परीक्षा करके देखता है।

किसी-किसी संस्था में तथा विद्या में इन दोनों से किसी एक की मुख्यता परिलक्षित होने पर भी दोनों की अविनाभाव सहवर्त्तिता एवं सहवृत्तता रहती ही है।

कला शब्द को कलित या फलित अर्थ में लेने पर (फलित = as evolved) नाद को सूर्य स्थानीय एवं अ उ म इत्यादि वर्ण कला को चन्द्रमा कला माना जाता है। स्वयं चन्द्रमा नादरूप में महान् उत्स होकर उक्त कलाओं का दोहन कर लेते है। चन्द्रमा मन रूप से विश्व के महाभण्डार से अपने संस्कार रुचि संकल्प द्वारा अपना 'विषय' अलग करके अपने सांकल्पिक या मानस जगत की रचना करते हैं। व्यष्टिमन से समष्टि मन पर्यन्त यह द्विकोटिक व्यवस्था बहाल रहती है। इसलिये यह चल रहा है (जगत्) इसका आदि कहाँ है अन्त कहाँ है? यदि अन्त प्राप्त करना हो तब सूर्य-चन्द्रमा (नाद-कला) दोनों को ऐसे एक स्थान पर प्राप्त करना होगा जहाँ दोनों ही एवं सब कुछ एक साथ शून्य तथा पूर्ण हो। यह है विन्दु। इसलिये साधनमात्र ही है विन्दुसाधन। यहाँ उत्स कहता है 'मैं शून्य हूँ'। दोग्धा कहता है 'मैं हूँ पूर्ण' दोनों कहेंगे "हम दोनों एक हैं और यहाँ दान-आदान का द्वंद्व नहीं है। देना-पाना वाला हिसाब नहीं है।" जप तो इसीलिये किया जाता है। ज्योति तथा रस इन दो दिक् से इस विन्दु संश्रय को समझ लेने का यत्न इस आलोचना में किया गया। यहाँ चन्द्रमा को साधारण आकृति में ही लिया गया। चन्द्रमा सूत्र में स्वगत भेद दिखलाया गया है।

व्यवस्थिति त्रिकोटिक आकृति में नाभि,अर-नेभि रूप का परिग्रह सर्वत्र करती है। यह सब पहले भी कहा जा चुका है। द्विकोटिक आकृतिद्वय परस्पर व्यावर्त्तक नहीं है। दृष्टि भेद से व्यवहार के प्रयोजन से यह एक ही का आकृतिभेद है। द्विकोटिक में अन्तरिक्ष (माध्यम) मानो अन्तराल में रहता है। जैसे किसी मैंगनेट का दो पोल। मध्य का व्यवधान कहता है—मैं हूँ तब भी हूँ उदासीन (Neutral) किन्तु दो मैंगनेट किंवा एक मैंगनेट और लोहा जब व्यापार मे होते हैं तब मध्य का व्यवधान उदासीन नहीं रहता। प्रथम को अन्तरिक्ष और द्वितीय का 'अन्तरीक्ष' नहीं कहा जायेगा ?

अवस्थिति-व्यवस्थिति-परिस्थिति

अवस्थिति, व्यवस्थिति, शब्दों को विस्तार से समझ लो। जो पदार्थ अपने नाभि केन्द्र में अवस्थान करे। जैसे कोई वृत्त अपने केन्द्र में 'पैराबोला' अपने फोकस में तथा डाईरेक्ट्रिक्स में, कोई जड़ वस्तु अपने भार केन्द्र में जीव अन्तःकरण तथा अहं में। इत्यादि। नाभि-अर-नेमि ये तीन न दिखने पर उसका व्यवस्थान ठीक नहीं होता और परिस्थिति में उसका परिमण्डल परिवेश मिलना चाहिये। गणित के हिसाब से नाभि = बेजिक फारमूला। अर = इक्वेशन। नेमि = एप्लिकेशन। व्या-

पिका दृष्टि से मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र की बात पुनः समझ लो। बिन्दु में अन्तरिक्ष ने शून्य पाया, नाभि में सूक्ष्मताधर्मावच्छिन्न होकर अर में स्थूलभाव से विविर्षु (वृत्तिमान होने का इच्छुक) होकर व्याप्रियमाण और नेमि में स्थौल्यधर्मावच्छिन्न होकर व्याप्तियमाण।

जैसे प्रणवादि जप में उदय बिन्दु अन्तरिक्ष का शून्य स्थल तथा उदय सेतुरूपा अर्धमात्रा 'नाभि' इन स्थलों में अन्तरिक्ष पहले अतिसूक्ष्मतः व्यांप्रियमाण है। उदित नाद में 'अर मुख्य' या 'अक्ष', अकार उकारादि 'कला' 'गोचर अर'; नादाक्ष समाश्रय में कला समूह द्वारा पुनश्च विलय विन्दु में छान्दस परिक्रमा होने पर 'नेमि'। इस परिक्रमा के अवसान में विन्दुलीनता में वैसा ही अन्तरिक्ष 'शून्य। विन्दु के उदय विलय में शून्य स्थल में एवं शून्याभिमुख अन्तरिक्ष की व्याप्रियमाणता दीर्घ एवं ह्रस्व इन दो भावों से भावित होगी अथवा नहीं चिन्तन करके देखो।

संख्या

अब तक अन्तरिक्ष को स्वगत (Intrinsic) कह सकते हो। किन्तु 'ॐ भूः' मन्त्र में यहाँ प्रणव का एक परिमण्डल या परिवेश 'भूः' मन्त्राक्षर द्वारा निर्मित हुआ। प्रणव मण्डल और उसका परिमण्डल (Space-Time-functional-Interval) और भी विस्पष्ट हुआ है, वह स्वगत नहीं है, सजातीय है, इस तथ्य को याद रखना होगा। यहाँ यह देखो दो सहग में से प्रत्येक का त्रिकोण पकड़ा। और मध्यम अन्तरिक्ष को एक संख्या में लिया दोनों मिलकर संख्या हो गई ७; (दो त्रिकोण = छ + अन्तरिक्ष = ७) इसके साथ यौगिक ३ अविनाभाव से रहता है जैसे ॐ एवं 'भूः' इन दो में मूल तीन को (नाभि-अर-नेमि, बिन्दु-नाद-कला) ठीक रखकर ही जाना होता है। मण्डल का खण्डन करके परिमण्डल नहीं है। तभी ७ + ३ = १० संख्या मिली। यह संख्या केवल जप में ही नहीं, बिम्ब व्यवहार में मूल संस्थान ख्यापिका संख्यायें हैं।

७ से योग करने के लिये ३। पुनः ७ को गुणित करने के लिये ३ और ५। इन सात में प्रत्येक (विशेषतः) अग्निमात्रा, सोममात्रा इन दो का अनुपात (सम अथवा विषय) यह तीन विशेष धर्म रहते ही हैं। अतः ३ × ७ = २१ संख्या प्राप्त होती है। पुनः ५ × २१ = १०५ प्राप्त हुआ। इनके साथ मौलिक तीन मूल संख्यान-रूपेण रहेगा ही। जैसे इस १० में। फलतः प्राप्त हुआ १०५ + ३ = १०८ पहले यह रहस्य संख्याद्वय विवेचित हो चुकी हैं। यहाँ पर दश अथवा १०८ इन संख्याओं को आकृति-प्रकृति निरूपक (Basic Constituent number) रूप से रखकर विश्व में सब कुछ अपनी संस्था संस्थान, संस्थिति रूप से वर्त्तन कर रहा है। अतः जपसंख्या विधान में ये संख्याद्वय अवश्य आश्रयणीय हैं।

पुनःश्च प्रणवादि आदिम बीज परीक्षण में 'अष्ट' संख्या की मूल आकृति विन्यास की (Basic Pattern picture) प्राप्ति होती है। जैसे पराव्यक्त बिन्दु; व्यक्ताव्यक्त उदयनाद (विलय सेतु)। यहाँ यह मौलिक आकृति-प्रकृति निरूपक आठ संख्या को ठीक रखते हुये १०, इस संख्या का वर्ग (१००) अथवा घन (१०००) लेकर १०८ एवं १००८ संख्याद्वय मिलती है। जपादि में इन दोनों संख्याओं का विशेष उपयोग है।

अवस्थिति; व्यवस्थिति, परिस्थिति एवं संस्थिति का प्रसंग हुआ। इन चतुर्विध स्थिति में देशकालादि के 'निष्ठित' भाव मुख्य हैं किन्तु उपस्थिति में वह संभाव्य (Possible) मात्र है। जैसे कोई महात्मा या विग्रह के समीप उपस्थिति। दीक्षादि रूप से उसकी समीपता कृपालाभ होने पर तभी 'संस्था' संगठित होगी।

संस्था संगठन

जपादि में नाद ज्योतिः, भाव पुलक आदि अथवा शुक्ल-मलिन कोई संस्कार उद्‌बुद्ध होकर उपस्थित होने पर वह 'संस्था' में आयेगा या नहीं यह संभावना देख लेनी चाहिये। संस्था में आने पर—

(क) सजातीय या Congruent होना चाहिये

(ख) जो आना चाहे पौनःपुनिकत्व (पुनः पुनः) या नियतत्व (Invariably recurrent or persistent) होना चाहिये।

(ग) उसके उपयुक्त संवेगमान (Intensity) होना चाहिये।

ये मूलतः स्पन्दविज्ञान के प्रश्न हैं। 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम' इत्यादि जो शान्तिपाठ हैं, उसमें अपनी जो भद्रसंस्था है उसके समान भद्र होकर शब्द रूपादि सब कुछ प्राप्ति की प्रार्थना देवता से की जाती है। क्योंकि वैसा न होने से अंगसमूह' स्थिर नहीं होते तथा उनके द्वारा 'देवहित' जो आयुः है, वह लब्ध नहीं होती।

संस्थिति एवं संहति

संस्थिति एवं संहति शब्दों की भावना करो। संहति में 'ह' वर्ण आकाश अथवा मूल शक्तिभण्डार (Basic Power Plenum) की सूचना करते हैं। अतः संहति में सहग शक्तिसमूह (Component forces) केन्द्रीण होकर (सं) स्थिरत्वमापन्न (स्थ) ही होता है ऐसा नहीं, परन्तु अपने मौलिक आधार में जाकर 'अभिन्नमूल' भी हो जाता हैं। अतः केवल मात्र काण्ड संस्था एवं शाखा संस्था ही नहीं, मूल संस्था हो जाता है। जो अब तक सजातीय थे, वे अब स्वगत (Intrinsic) हो गये। संघात सूत्र में यही मूलसूत्र ध्यान देने योग्य है।

कारिका

अवस्थित हि यत्किञ्चित् परिस्थितञ्च निष्ठितम् ।
इतरद्वयसाहित्ये ह्यन्तेन ‘स्याद् व्यवस्थितम् ॥ १४४ ॥
द्वन्द्वो व्यवस्थिते गर्भे द्विकोटिकस्त्रिकोटिकः ।
सूर्याचन्द्रमसौ चाद्योऽपरो नाभ्यादिरूपकः ॥ १४५ ॥

एक चक्र या वर्त्तुल को लेकर इस स्थितिविभेद को समझने का यत्न करो। चक्र = कोई कुछ अपनी नेमिवृत्ति में अथवा परिधि या कक्ष में है या आवर्त्तन कर रहा है। जैसे पृथ्वी या इलेक्ट्रान अपने-अपने कक्ष में, जप में वर्ण माला या भाव कला के समग्र जपमाला आवर्त्तन में। यह है साधारणरूपेण अवस्थान। जो कुछ या जो सामग्री (entire setting and surrounding) उक्त अवस्थान को सर्वतो· भावेन (परितः) घेरकर, पकड़कर है, उसे साधारणरूप से कहो परिस्थिति (Total Context and environment)। किन्तु नेमि या कक्ष ठीक नहीं है अर्थात् अवस्थिति परिस्थिति का जो संहति अनुपात है, वह यदि निर्दिष्ट नहीं है, तब कुछ भी अपनी नेमिवृत्ति में व्यापार व्यवहार में निष्ठित नहीं होता (इस प्रकार व्यतिक्रम व्यभिचार का उदाहरण जप आदि में सर्वत्र देख लो। जैसे नादाक्ष अतिक्रम या खण्डित करके विन्दु से उदय एवं विन्दु विलय तक जप चल रहा है या नहीं।

व्यवस्थिति के लक्षण

अच्छा नेमि या कक्ष निर्दिष्ट (निष्ठित) होगा किस रूप में? कोष्ठ Curve अपने Equation द्वारा निर्दिष्ट रूप प्राप्त कर लेता है। यहाँ कोई केन्द्र या नाभि सम्पर्क में अर समूह को निरूपण में न पाने से तो कार्य नहीं होगा। अर्थात् निश्चित रूप नहीं मिलेगा। जिससे किसी केन्द्र सम्पर्क में (जैसे सूर्य, न्यूक्लियस, विन्दु) नेमि या कक्ष में वृत्तिमान किसी पदार्थ का अर निरूपण होता है (तुम इस कक्ष या कोटि में रहते चलते हो किन्तु तुम्हारे केन्द्र और इस केन्द्र सम्पर्क में तुम्हारी स्थिति गति का विन्यास नियामक सूत्र) उसे कहो व्यवस्थिति या व्यवस्था। व्यवस्थिति में जपादि सब कुछ छन्दोगत्व प्राप्त करता है और निश्चित आकृति का होता है। वस्तु तथा व्यापार दोनों। स्पन्द भी, स्पन्द मान भी। द्विकोटिकादि इसका भेद है। केवल अवस्थान में विजातीय (aline) द्वैध-द्वन्द्व में वर्तमान था, किन्तु व्यवस्थान में वह सजातीय (allied) होना चाहता है। (जैसे खाद्य अपने परिपाक में)।

किन्तु सब कुछ को केन्द्र में आहृत-समर्पित करने पर (अरा इव नाभौ समर्पिताः) सजातीय भी स्वगत हो जाता है। तब भाव है ‘स्वभाव’। तब ‘भाव’ की ‘मार’ और नहीं रहती। क्योंकि जब तक ‘अर’ है तब तक ‘डर’ भी है। अर कहता है—और नहीं, क्यों मुझे ममंकार की रसतम सत्ता से हटाकर अक्ष-कक्ष में

केवल पाक कर रहे हो। रक्षा करो; बैठने दो तद्गत् तन्मय होने दो।' जप में विन्दुलीन होने के लिये ही तो साधन हैं। बिन्दुलीन होने पर 'संस्थिति'।

दृष्टान्त

जैसे गायत्री जप में 'भूः' एक ध्वनि कला (Phonetic Element) है, जप में यह (अर) है—अवस्थान। मात्रा और पाद में छन्दोग होकर है व्यवस्थान काष्ठा (बिन्दु) में समाहृत, समर्पित होकर है संस्थान। वाह्य व्यवहार में भी सबको लेकर इसका परीक्षण करो। जैसे उर्मिकला। श्री चण्डी में जो अपूर्वस्तव 'या देवि सर्वभूतेषु' है वह स्तुति इसी संस्थान रहस्य की परमदीपिका है। उसमें जो 'भ्रान्तिरूपेण संस्थिता' है, वह है सर्वभ्रान्ति का निवारण करने वाली।

एवञ्च सर्वें ज्ञेयत्वज्ञातृत्वे ॥

पहले जिस अवस्थान-व्यवस्थान-संस्थनादि का प्रसङ्ग है, एवं उसके साथ त्रिकोटिक द्विकोटिक आदि का विचार आया है, उसे सर्वविध ज्ञेय एवं ज्ञाता (तथा ज्ञान) सम्बन्ध में भी अभीष्ट समझो ॥

कारिका

सूते सूर्यश्चिनोतिन्दुरोषधिश्च वनस्पतिः।
अयं द्विकोटिको द्वन्द्वश्चान्यत्रापि हि दृश्यते ॥१४६॥
त्रिकोटिकस्य दृष्टान्तो योऽपि ज्ञेयादिनिष्ठितः।
तललम्बवेधरुपश्च पश्चाद् यः प्रतिपद्यते ॥१४७॥
चतुष्कोटित्वमोङ्कारे माण्डूक्येन प्रदर्शितम्।
वैखरीसहिता याश्च पश्यन्तीमध्यमापराः ॥१४८॥
पञ्चादिकोटिकानान्तु बहवः सन्ति प्रत्ययाः।
हृल्लेखादिषु बीजेषु तान् विश्लिष्य पश्यत ॥१४९॥
एकानेकप्रसङ्गो निरवसरतया चेन् न गच्छेत् परस्तात्,
निर्वक्तुं केन शक्यं प्रमितिपदमियात्तर्हि केनो प्रमेयम्।
पादाः कस्मादपादे जहजहदपि वाऽमात्रमास्ते च मात्रा,
कस्मात्तन्निष्कले यत्तु सकलकलनं पारगा कीदृशी धीः ॥१५०॥

सूर्येन्दु

सूर्य सविता भुवन की नाभि रूप से निखल सृजनी शक्ति के आधार एवं उत्स हैं। इस सृष्टि का प्रसव इस नाभि या मूल केन्द्र से अरवितानपूर्वक होता है। यह समग्र कर्म है 'सूते' किन्तु सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को इस नाभि संस्था में तथा विन्यास व्यवस्था में विधृत होकर अपने 'नेमि अवस्थान को प्राप्त करना होता है।

यह कर्म वास्तव में निर्वाचन या 'छाट लेने' वाला व्यापार है जैसे किसी General Eqation में general terms को (x, y आदि को) Special, Particular value में assign कर लेना। यह कर्म है 'चिनोति' (assignment by selection) जो 'यह तत्व ' यह करते हैं, वे हैं, इन्दु। इस प्रसंग में पुनः अग्नि तथा सोम का स्मरण करो । इन दो को मिलाकर प्रत्येक वस्तु के समग्र शक्तिलेख का अंकन रंजन करते हैं।

वनस्पति औषधि

वनस्पति और औषधि 'सूते' एवं 'चिनोति' के प्रतिभू एवं गोचर प्रतीक हैं, वनस्पति (जैसे पीपल वृक्ष) तथा औषधि (जैसे धान्य) ये किस भाव से 'सूते' एवं 'चिनोति' के रूपायण हैं, इसका विचार करो Earth की जो vital economy (Production and distritution) है उस दृष्टिकोण से भी विचार करो।यहाँ इस प्रसंग का अनुसरण नहीं किया जा रहा है।

प्रमाण कहाँ तक ?

प्रमाण; प्रमेय, प्रमाता, अथवा ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय। इस व्यवहार भूमिका के आधार पट पर ही सबका निर्वाचन सम्भव होता है। किन्तु एक या अनेक इत्यादि संख्या निर्वाचन में भी जो अनिर्वचनीय परमता का परम नहीं होता (न गच्छेत् परस्तात्) वहाँ क्या ऐसा निर्वाचन है या रहता है, जिसके द्वारा तत्वतः अप्रमेय वस्तु प्रमाणित होकर विषयीभूत हो (प्रमितिपदभियात्) ?

पुनश्च, 'अपाद' जो परमतत्व हैं, उसमें त्रिपात् सहस्त्रपात् इत्यादि पाद-प्रसंग कैसे सम्भावित है, इसे कौन कहेगा ? और माण्डूक्यादि में अति प्रसिद्ध जो 'अमात्र' परम है वह क्या स्वरूप मात्रा-त्याग करता है अथवा नही करता (जहद-जहदपि ता) अर्थात् वह सविशेष अथवा पूर्ण निर्विशेष है इसका निरूपण कौन करेगा ? मात्र पाद-मात्रा की प्रसज्यता के दृष्टिकोण से ही नहीं कला सम्पर्क में भी वह परम क्या है ? स्वरूपतः सकल, है या निष्कल ? यदि निष्कल ही है, तब वह सकल कैसे होता है ? यदि कहो कि वस्तुतः नहीं होता केनल 'आभास' मात्र है, तब बोलो निरञ्जन, शुद्ध, निरावरण परमतत्व में आभास, अभ्यास कैसे ? यदि कहो कि आभासादि उसमें नहीं है, हममें हैं, तब कहो कि इस 'मैं' या 'मुझमें' ही क्या वस्तु है ? यदि कहो कि परम ही अपनी अनिर्वाच्य, अचिन्त्य शक्ति से 'मैं', 'तुम वह' होकर यह आश्चर्य क्रीड़ा कर रहा है तब कहो वह परम अपनी शक्ति के सम्बन्ध में क्या है ? यदि कहो अनिरुक्त, अचिन्त्य तब उसका यह आश्चर्य कौतुक क्यों, कहाँ से, कैसे इत्यादि रूप से समझने के लिपे जो कौतूहल है, वह तो अपना समाधान पाता नहीं। तभी कारिका में अन्त में उक्त है—धारणा कीदृशी धीः ?

'धी' की गति कहाँ तक

धी या बुद्धि तो विश्वमहाकुहेली के पार ले जाने में समक्ष नहीं है तब क्या इसे विदा कर दिया जाये ! ना, विदा करने से कार्य नहीं चलेगा। यदि 'धी' श्रुति की उक्ति के अनुसार अग्र्या एवं गीता की भाषा में व्यवसायत्मिका 'एका' है तब भले वह पार न करे परन्तु द्वार तक ले जाने के लिये उसकी ही शरण 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' लेना होगा। बुद्धि से ही परम की शरण का अन्वेषण करना होगा और यह करने से 'ददामि बुद्धियोगं ते' बुद्धि प्रथमतः युंजाना हो, तत्पश्चात युक्ता, युक्त-तरा आदि। व्यवहारतः कर्म, भाव, ज्ञान सभी बहुमुखी, विरुद्धधर्मी बहुशाखा ह्यनन्ताश्च' हैं। इन्हे एकमुखी करके प्रथमतः आपेक्षिक क्रमशः निरपेक्ष, निर्व्यूढ़ निश्चित सरणि दिखलाकर युंजाना बुद्धि के दीपशिखारूपेण साथ ले जाना होगा। वरेण्यं भर्गो देवस्य के लिये 'धीमहि' किन्तु "हे ज्योतिरस के परम उत्स ! तुम ही 'धियोयोनः प्रचोदयात् !" परम को प्रान्त में लेकर तभी तो बुद्धि की छुट्टी होगी ! गिरिकन्दर में जन्मी तटिनी को नाना ऋजुकुटिल पथ परिस्थिति से होते-होते उज्ज्वल असीम विपुल समुद्र को सौंपकर तभी वह 'खलास' ! यह कर्म समस्त साधना में करो।

क्षणभिव्यञ्जकानां यन्मलत्वं तदक्षरत्वम् ॥

निखिल क्षर अभिव्यंजक का जो मूलाश्रयी है, उसे अक्षर समझो ॥

क्षर एवं अक्षर

यहाँ बौद्धादि दर्शन में एवं परिचय में प्राचीन, नवीन अनेक दर्शन में क्षर (Changing) के अतिरिक्त किसी अक्षर (unchanging) तत्व को मानने में नाराजगी प्रकट की जाती है। वर्त्तमान अक्षरसूत्र में 'अक्षर अव्यय वस्तु है' यह प्रतिपादित किया जा रहा है।

क्षरं सर्वं प्रतीतं यद् वृत्तिः सूक्ष्मेऽपि तादृशी।
दृष्टादृष्टानुमेयञ्च क्षरत्वमपि कारणे ॥१५१॥
किञ्चिद् व्येतीति यद्ज्ञानं तत्र न व्येति किञ्चन।
अन्योन्यापेक्षिणो स्यातां सम्पृक्तौ हि व्ययाव्ययो ॥१५२॥
येन तद् व्यक्तिमापन्नं तदभिव्यञ्जकं मतम् ॥
स्वरव्यञ्जनसम्बन्धि गोषु च तदुदाहृतम् ॥१५३॥

स्थूल सूक्ष्म तथा कारण में

जो कुछ प्रतीतिगोचर हो रहा है, वह है क्षर। परिणामी है अक्षर। स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक में दृष्टि देने पर तद्रूप वृत्ति ही परिलक्षित होती है। जैसे पूर्व शताब्दी में ऐटम में जाकर वस्तु (Mass) की ध्रुव संस्था को प्राप्त कर लिया। यह

सोचा था, अब देखा जा रहा है कि एटम केवल बहि सम्पर्क में ही नहीं प्रत्युत् अपने अभ्यन्तर में भी क्षर Indivisible and immutable वस्तु नहीं है। वरन् सूक्ष्म में जाने पर क्षर को और भी 'खर' एवं उग्र मूर्ति मे देखा जाता है।

और कारण में ? यदि संख्या की प्रकृति या प्रधान पर्यन्त लेते हैं, तब वहां भी गुणत्रय के 'सदृश परिणाम' हैं। अतः क्षरत्व अनवकाश नहीं है, यद्यपि उसे 'परिणामी' विशेषण के साथ अक्षर भी कहा जाता है। 'जगत् का जन्म आदि जिससे है' उस ब्रह्म को यदि कारण कहते हैं, तब वह कारणब्रह्म कार्यब्रह्म कैसे हो जाते हैं ? यह जिज्ञासा वेद के नासदीय सूक्त से अद्यावधि किये बिना कोई उपाय ही नहीं है। 'कुत इयं विसृष्टिः' ? 'अक्षरं परमं ब्रह्म' में इस विचित्र सृष्टि के कारण कार्यभावरूप परिणाम, क्षर भाव कैसे आता है ? यह वास्तव में है नहीं आभासिक है—यह कहने पर इस विचित्र बिम्व के क्षरभाव के मूल को खोजते-खोजते उस आदि कारण पर्याय में जाना होता है। मूल बीज में (उसे चाहे जो कुछ क्यों न मानो) अक्षर वस्तु (मैं क्षर होउंगा या स्वयं को इस प्रकार प्रदर्शित करूँगा कि मैं क्षर हो गया) के यह संकलन न करने पर उससे विश्वबीजाङ्कुरादि आकृति रूप क्षर भाव की सम्भावना नहीं रहती। अमात्र परम द्वारा मात्रामान अंगीकृत करने जाने पर परमाक्षरस्वरूपा अथच निखिलक्षररूपा 'अर्धमात्रा' सेतु का आश्रय लेना पड़ता है। तभी ओंकारादि जप में इस मूलक्रम के अनुक्रम अनुलोम विलोम को करना पड़ता है। जहाँ क्षर परिसीमा अक्षर परिसीमा (पूर्ण एवं शून्य) में सम्मिलित है, वहीं बिन्दु निखिल सृष्टि रहस्य के अपरमूलरहित मूलरहस्य का विधान है।

विषय को विस्तार में न लेजाकर यह निःसंशय कहा जा सकता है। कारण भी क्षरभाव उपपन्न है। एवं वह 'दृष्टादृष्टानुमेयं' दृष्ट जो स्थूल तथा अदृष्ट जो सूक्ष्म है, दोनों के क्षरत्व से वह अनुमेय है जैसे सांख्य आदि की प्रकृति में। वे सब शास्त्र अनुमान युक्ति से भी प्रदर्शित होते हैं।

ध्रुवधाम

अच्छा ! यदि क्षर को मूल कारण तक ले जाना हो तब अक्षर अव्यय ध्रुवधाम कहां है ? Relative या आपेक्षिक के बाहर क्या उसका स्थान है ? यह एक महादुर्गमगहन विचार स्थल है। क्षर को ही absolute क्यों न कहो ? 'क्षरं हि परमं ब्रह्म' कहने में क्या आपत्ति ? कारिका में अक्षर, अव्यय मानने की असंदिग्ध जो भित्ति है—साक्षात् प्रतीति है—'नक्षरति न व्येति' रूप से अपरोक्षानुभूति है, उसे ही कहा गया है। जहां कोई कुछ 'व्येति' स्थिर रूप नहीं है और चालित है 'जायते अस्ति' इत्यादि क्रम से षट्परिणाम को प्राप्त है, वहीं [1] आधार, [2] प्रकाश एवं [3] साक्षी अन्ततः इन तीन रूपों में 'न व्येति' अव्यय रहेगा ही, उसे

आपेक्षिक कहने पर उसका आधार क्या है—यह सन्धान करते-करते 'अनवस्था' में पड़ना होगा। इसके अतिरिक्त जो परमाधार निगूढ़ (Absolute) है, वह साक्षात् प्रतीति में 'प्रतीत' करके स्वयं को दिखलाता है। जाग्रदादि अवस्था के आधार रूप में तुरीय को इसीलिये मानते हैं।

साक्षात् प्रतीति

'क' नामक कोई वस्तु या भाव नाना परिणाम की प्राप्ति कर रहा है, किन्तु कौन है जो इस परिणामसमूह को देखकर उनके देशकाल आदि को सजाता जा रहा है ? क्या वे अपनी अथवा लहरी माला की शेष (वर्त्तमान) लहरी हैं ? यहां और वहां इस क्षर परिणाम धारा का आधार क्या है एवं उसका मान किस प्रकार से हो सकता है, इसको लेकर विस्तृत विचार हो रहा है, किन्तु उसे निश्चयात्मिका प्रभाके प्रान्त में ले जाया नहीं जा रहा है ! तथापि एक मूल बात माने बिना कैसे चलेगा ? किसी सम्बन्ध में (पूर्वापर, कार्यकरण) भान के लिये भान सामग्री (The Fact as distinguised from 'fact section) उस सम्बन्ध में व्याप्य (Conditioned and limited) नहीं होगी। जैसे 'यह हमारा ज्ञेय है, हम इसके ज्ञाता हैं' इस प्रकार से यह जो भान हुआ, यह (भान सामग्री) स्वयं ज्ञेय तथा ज्ञाता दोनों नहीं है।

तीन

आधार-प्रकाश एवं साक्षी, की समस्त प्रतीति में क्षर के साथ अक्षर रहता है। जो व्येति है वह 'न व्येति' को छोड़कर नहीं है, रह भी सकती। जो भान-सामग्री (Fact या Experience as whole) उपर कही गयी है, तथा आगे भी कहा जायेगा (विशेषतः भानसूत्र में) उसमें ही आधार, प्रकाश, साक्षी इन तीनों को प्रदर्शित किया गया है। भान को भास रूप में प्राप्त करके तभी इन तीन को तीन रूप में कहा और जाना गया है। भास = Judging and Reviewing Fact है, यह स्मरण करो। भानभूमि भासभूमि मे न आने पर क्षर-अक्षर, व्यय-अव्यय इत्यादि द्वन्द्वस्थता (Polarity) स्वगतरूपेण (Intrinsically) रहने पर भी उस प्रकार से प्रतिभासित नहीं होती। प्रतिभास होने पर यह ज्ञात होता है कि क्षर-अक्षर, व्यय-अव्यय—ये सब अन्योन्यभावेन एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुये 'सम्पृक्तौ' सम्पर्कित हैं। भान में आधार, प्रकाश 'आधारमानन्दमखण्डबोधं' रूप से अक्षर अव्यय को अपेक्षारहित निर्व्यूढ़ भाव से जाना जा सकता है। 'साक्षी' भाव में 'केवल' भाव निश्चित रहता है किन्तु वह पूर्णतः परिनिष्ठित नहीं है। क्योंकि यह अनपेक्ष,सापेक्ष, प्रपंचोपशम प्रपञ्चोपगम में सेतु एवं सन्धि है। आधार (अस्ति) पूर्ण अभेद में प्रकाश (भाति) एवं आनन्द (प्रियं) है। इसमें 'साक्षी' उन्मुख होकर पूर्ण अभेद में मानो दृष्टिभेद करके देखता है। मानो एकबार देखता है इसे

और एकबार उसे। दृष्टिभेद (aspectual consciousness in the Absolute के बिना अवाङ्मनसगोचर वस्तु वाक् तथा मन के क्षेत्र में कैसे भी नहीं आती। इसके बिना तो ब्रह्म कभी भी नहीं कहता 'एकोऽहं' इत्यादि,--'मैं ब्रह्म और यह है मेरी शक्ति'। केवल ब्रह्म ही क्यों, कोई भी अपनी अखण्ड पूर्णता को इसके बिना दिखला ही नहीं सकता। इस दृष्टिभेद के अतिरिक्त—जैसे सूर्य और उसका प्रकाश। अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति। मन और उसकी ज्ञान इच्छा आदि वृत्ति।

ओंकार में

ओंकार के 'अ' को यदि कहें भाति; 'म'—को प्रियं, तव मध्य की यह अनिर्वाच्य सेतु या सन्धि है 'उ'। यह तीन (अ उ म) कला (Phases) हैं। एक अविभक्तपूर्ण ओंकार ही इन तीनो को 'मानो' पृथक् करके प्रदर्शित करता है। इन तीन के अतिरिक्त भी पराव्यक्त एवं व्यक्ताव्यक्त भाव से अन्य सूक्ष्म कलायें भी दृष्टिविश्लेषण में साक्षीभास्य हो सकती हैं। अथच, परमाधार एवं प्रकाश हुआ नादविन्दु कला से अतीत अक्षर-अव्यय वस्तु। यह सविशेष अभिव्यक्ति हेतु विन्दु-नाद-कला की त्रयी का रूप धारण करता है। इसमें विन्दु है अभिव्यञ्जक मूल (स्वयं पराव्यक्त), नाद (व्यक्ताव्यक्त एवं व्यक्त दो रूपों में), अभिव्यञ्जक मुख्य अथवा कलाभिव्यञ्जक जैसे ऊपर प्राण के साथ मुख्य प्राण एवं कला है फलाभि-व्यञ्जक (अ उ म वर्णरूपेण)। जो क्षर-अक्षर तत्व है, वह इन तीन अभिव्यञ्जक द्वारा ही 'व्यक्तिमापन्न' होता है। वाक् में (गीर्षु) यही अभिव्यंजक स्वरव्यंजन सम्बन्धिरूपेण उदाहृत है। अर्थात् वाक् में अक्षर-क्षर युग्म स्वर-व्यंजन वर्ण आकृति में अभिव्यंजक हो रहा है। अक्षर-क्षर की सत्ता शक्ति स्वयं में प्राप्त करके प्रत्येक वर्ण मातृका हो जाते हैं। अक्षर का 'सर्वस्य निधानं बीजमव्ययम्' भाव है। अक्षर में सब को सविशेष, सलक्षण करके प्रस्फुटित करने का भाव है। ये दोनों भाव स्वरादि मातृकाओं में हैं। पूर्ण तथा शून्य को स्वयं में एक साथ धारण करके जैसे विन्दु सृष्टि-स्थिति-लय में एक परम विस्मय है; अ-आ क ख आदि समस्त वर्ण भी उसी प्रकार के हैं। तब भी विन्दु तथा स्वरवर्ण एक ही स्तर के विस्मय नहीं हैं। यदि विन्दु को 'मूल' कहो तब स्वरवर्ण को कहो मौलिक। और तब व्यंजन को इस अपेक्षा में कहो यौगिक। मूल के साथ योग अवारित; अनपिहित रहने पर अर्थात् अं-आं इत्यादि आकृति में मातृकामान को उसके विशेष-विशेष व्याव-हारिक मान को, कार्पण्यमुक्त होना चाहिये। अनुस्वार में विन्दु मुख्यता है और विसर्ग में नाद मुख्यता। इसे पहले भी कहा जा चुका है। एक है धननी दूसरे में व्यापनी वृत्ति प्रधान है। इन दोनों की सेतु सन्धि का सुरक्षित होना आवश्यक है। ऐसा क्यों, इसे पहले कहा जा चुका है। जैसे 'हंसः' इस अजपा में धननी (विन्दु)

एवं व्यापनी (नाद) दोनों ही वृत्तिमान् है; किन्तु उनकी सेतु सन्धि की सम्यक् समता अथवा छान्दसी वृत्ति (In Harmony relations) में विधृत होने पर तब हंस हो जाता है हंसयोग। यह न होने पर 'मृत्यवे' कभी भी 'अमृतत्वाय' नहीं हो सकता।

मातृका

प्रत्येक स्वर व्यंजन वर्ण में पूर्वोक्त कारण से सर्वाभिव्यंजिका शक्ति रहती है। क्योंकि अक्षर रूप तथा क्षररूप मूल यौगिक वस्तु उसमें अपनी सर्वकलनी एवं सर्वफलनी शक्ति के साथ विद्यमान हैं। इस मूल बात का स्मरण रखने पर प्राचीन शब्दार्थ विज्ञान सम्मत जपसूत्र के 'वर्णरसायन' तथा 'प्राणरसायन' को कोई केवल अपने कल्पना कौतुक विलास की घटा में नहीं देखेगा। विशेष स्थल में विशेष अर्थ (शक्यता को अविच्छिन्न करते हुये) कैसे आता है, यह शब्द विज्ञान तथा साथ-साथ मन्त्र शास्त्र का भी अति गम्भीर प्रासंगिक प्रश्न है। जैसे ह्रीं, 'ऐं' इत्यादि बीज को शक्ति सामग्री की विशेष आकृति Basic pattern कैसे माना जाये ? मूल आधार शक्ति सामग्री से एक-एक पदार्थ (मन्त्रादि) एक-एक विशेष आकार में कैसे उद्भूत होता है, यह विचारणीय है।

जपसूत्र में उस रूप चिन्तन के लिये एक युक्तिपुक्त प्रस्तुति देने की प्रचेष्टा ही की जा रही है किन्तु समग्र क्षरअक्षर तत्व स्वर व्यंजनवर्ण में अहित एवं उदाहृत होने के कारण प्रस्तुति मात्र को विस्तृति-निवृत्ति समाप्ति की 'बैठक' में हाजिर नहीं किया जा सकता। जो 'शुरु' है उसे 'Complete' होने के लिये कितनी ही घाटी को पार करके प्रत्येक घाटी से 'साक्षर' मंजूरी लेकर चलना पड़ता है।

सर्वाभिव्यक्तिषु तन्मलस्य प्रशासनम् ॥

(पूर्व सूत्र में जिस अक्षर मूल का वर्णन है) वह मूल सब प्रकार की अभिव्यक्ति का (स्वर व्यंजनादि का भी) प्रशासयित्व है ॥

अक्षरं परमं ब्रह्मेत्यक्षरादपि चोत्तमः।
स्मृतिषु श्रुतिषु ह्येव सर्वस्य मूलमक्षरम्।
एतस्य प्रशासने गार्गीत्यत्र चास्य प्रशासनम् ॥१५४॥
अक्षरं परमं त्वादावमूलं मूलमक्षरम्।
अन्यच्चाध्यक्षरं विद्धीति त्रेधा निदधे पदम् ॥१५५॥
आदिब्रह्म ततो प्राणो योऽचिन्त्यशक्तिनिर्जरः।
स एव हि नादविन्दु याभ्यां सर्वं प्रशिष्यते ॥१५६॥
अन्वक्षरं हि सूत्रात्मा विराट् प्रत्यक्षरं पुनः।
ईशमध्यक्षरं विद्धि स्फोटं नित्यं स्वराविलः ॥१५७॥

पञ्चपर्वमूल

निखिल अभिव्यक्ति मूल में जो अक्षर है, वह यहाँ पंचपर्व में प्रदर्शित किया गया है। स्मृति-श्रुति; तन्त्र-पुराण; जो सनातनी आर्षप्रज्ञान की वाणी का वहन करते हैं, उनमें ही इसकी व्यंजना निहित है।

प्रथम—परब्रह्म जो अक्षरवस्तु है; वह उस भाव में 'अनिरुक्तमलक्षणम्' Alogical Absolute है; अतः 'मूल' कारण इत्यादि किसी बौद्धमान में (Logical Category) में वह सावकाश नहीं है। उसे 'परम' कहकर ही 'रिहाई' देना पड़ता है। अलक्षण वस्तु को; चाहे जिस रूप में हो, विश्वव्यवहार में आने पर 'मान' को मानना ही होगा। अप्रमेय को प्रमेय होना होगा।

द्वितीय - वह परम 'निजः' 'अमूलं मूलं'—स्वयं मूलरहित मूल के रूप में प्रकट हो रहा है। यह भी अक्षर है, परन्तु प्रतियोगी क्षर का सम्बन्धी होकर। बाहर आकाश, भीतर कूटस्थ साक्षी चैतन्य, इत्यादि के द्वारा क्षरसम्बन्धी इस अक्षर को समझने का यत्न करो। गीता के उस प्रसिद्ध पुरुषोत्तम श्लोक में अक्षर से भी 'उत्तम' रूप में भगवत्ता को माना गया है। पूर्वोक्त अलक्षण, प्रमेय, अव्यवहार्य (माण्डूक्यादि श्रुति में कथित) जो ब्रह्म है, उसे कहा गया परम। इस परम और उत्तम, दोनों को उस महामाया सूत्र के प्रकाश में अच्छी तरह देखो। यहाँ परम में उपरम या उपशम को दृष्टि के समक्ष रक्खो, उत्तम में सर्वविध तम या काष्ठा की जो पराकाष्ठा या परिसीमा है, उसे, अर्थात् पूर्ण को। उपशम को यदि शून्य कोटि (नेतिपर्व) में लो, तब शून्य एवं पूर्ण। परम और उत्तम में शून्य तथा पूर्ण की भेद दिदृक्षा में विवदमाना मोहकलिला बुद्धि जिससे षडयन्त्र न कर सके, उस बात से सावधान रहना। अर्थात् वह बुद्धिकुहक यह कहेगा—मेरा भगवान उत्तम है। तुम्हारे इस परम में मैं प्रमाद देखता हूँ 'प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत्' परम को तुम्हारे उत्तम का 'तनुभाः' कहना यदि अच्छा लगता है; तो लगे। तब भी रसवस्तु भाः या ज्योति को छोड़कर तो रहती नहीं! यदि रहती है तो वह रसवस्तु ही नहीं हो सकती।

अध्यक्षर

तृतीय—अध्यक्षर। इस शब्द को दो भावों से देखकर इसके तातार्त्तीय भाव को समझो। अधि=अधिकरण में; अधि=अधिकार में। आगे जो परम एवं उत्तम प्रसंग का वर्णन किया गया है, उन दोनों के अन्वय अधिकरण में जो अक्षर भाव है, जो तद्व्याप्य निखिल क्षराक्षर भाव का अधिकारी (ईशानो भूतभव्यानां) है, उसे अध्यक्षर कहते हैं। इस प्रकार से अक्षरवस्तु ने (Reality as absolute permanence) त्रिविध पादविन्यास किया। एक ओर शून्यकाष्ठा, दूसरी ओर पूर्णकाष्ठा,

दोनों परिनिष्ठित काष्ठा के अधिकरण में रहकर मानो कहते हैं "भूतभव्य सब कुछ को इस काष्ठा के अधिकार में चलिष्णु करना, किन्तु उनके सत्ता शक्ति छन्द के 'प्रशासन' रूप में स्वयं अक्षर ही रहूँगा'। 'एतस्य प्रशासने' इत्यादि कहकर जिस अक्षर का निर्देश—श्रुति करती है, वह अक्षर त्रिपात् अथवा पंचपात् है। उनमें वर्त्तमान प्रसंग का जो परम है, उसके प्रशासन को निर्व्यूढ़ सर्वाधिकरणता रूप से जानो। तत्पश्चात् अधिष्ठानसूत्र देखो।

परब्रह्म की सत्ता (सत्-चित्-आनन्द) विश्व में सब कुछ का अधिष्ठान अवश्य है (जैसे मृत्तिका घट आदि का अधिष्ठान है), किन्तु वह अक्षरपरम पुनः प्रशासन मूर्त्ति में क्यों परिलक्षित होते हैं, यह प्रश्न शेष रह जाता है। यह प्रशासन सौम्य भी है, भीषण भी है (भयात् सूर्यास्तपति) वह शम भी है और दम भी है। रस, राग एवं रोष इस युग्म के प्रग्रह द्वारा अणुविराट में प्रत्येक 'अश्व' (क्षर वस्तु) अपने-अपने अधिकार में, सामर्थ्य में, सरणी में—प्रशासन में रहता है। प्रशासन शक्ति एवं छन्दः—इन दो सम्बन्ध में, अथवा भूतभौतिक का जो गतिचक्र है, उसके-अर तथा नेमि के सम्पर्क में। नाभि में तो स्वयं प्रशासन करने वाले प्रशासयिता विराजित रहते हैं।

सांख्य में तो प्रकृति को भी अक्षर कहा गया है, परन्तु क्या प्रकृति प्रशासयित्री है? विचार में उतरने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु एकमात्र प्रकृति द्वारा निखिल प्रशासन कर्म का निर्वहन नहीं होता। क्या ऐसा नैष्ठिक सांख्यवादी भी नहीं कहेंगे? जैसे अपने बछड़े को देखकर गाय का दूध उतर आता है, इत्यादि उपमा उपन्यास करना छोड़कर विश्वप्रशासन (शक्ति में एवं छन्द में) का जो गम्भीरान्तः है, इसमें किसने डुबकी मारा और किसने वहाँ से अतलदिशारी, ध्वान्तापसारी, द्युतियुक्त माणिक को 'यह लो' कहकर हाथों पर रख दिया? विज्ञान गत शताब्दी में सांख्य की इस 'प्राकृत' सरणि को पकड़कर सीना तान कर चलता रहा है, मूल में सम्भाव्य जो अमूल्य बीज निहित है (Cosmic Destiny), वहां से प्रत्येक वास्तवविक विकास को हिसाब खाता तथा, नक्शा में अंकित करके और चुनकर दिखाया जाता है, यही सीन है उस युग के विज्ञानमंच की जबरदस्त जादूगरी की झोली। किन्तु आज? अब सम्भूति के स्थान पर है सम्भावनी। 'इस प्रकार से होते देखता तो हूँ, एवं इस प्रकार छंदः अपने प्रशासनरूप में 'प्रतिभात' (apparent) अवश्य है, किन्तु उनकी आकृति, शक्ति एवं छन्द को समग्र एवं सम्भवतः यथार्थरूपेण नहीं जाना जा सका, वरन् जितनी भी मूल की ओर दृष्टि जा रही है, उतना ही यह विचार उठ रहा है मानो जड़ता एवं बाध्यता नहीं, परन्तु सचेतन, स्वतः स्फूर्त्त स्वच्छन्दता ही समस्त अभिव्यक्ति के मूल में रसलिप्सु, आनन्दभुक्रूपेण विद्य-

मान हैं। क्या इस प्रकार की बातें आजकल के प्राज्ञ विज्ञानवृद्धो के मुख से अनेक समीहा के बावजूद सुनी नहीं जा रही है।

अध्यक्षता

प्रशासन के निमित्त आकृति-शक्ति एवं छन्द में केवल एक उदासीन निर्विशेष अक्षर को अधिष्ठान रूपेण रखने से यह 'फलकथा' नहीं चल सकेगी। उसके लिये ब्रह्म या भगवत्ता की अध्यक्षता भी अत्यावश्यक है 'मय्याध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'। ब्रह्म की अध्यक्षता भी अवश्यमेव निर्वाचन योग्य नहीं है। सृष्टि की एक लहरभंगी, धूलिरेणु या भावकटाक्ष में भी निर्वाचन योग्य नहीं है। क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। तथापि सचेतन कृत या अध्यक्षता के स्वयं बोध की जो 'सील मोहर' है वह तो छाप है ही। 'पृथ्वी के मध्याकर्षण के कारण वृक्ष से फल नीचे गिरा' यह कहने से अपने भीतर का सीलमोहर हुआ साक्षात् अनुभव का कागज पत्र तो रद्द हो गया है। भीतर का यह दलीलपत्र (कागजपत्र) जाल, भ्रम मात्र है, प्रमा नहीं है, यह अनुमान किस प्रमाण पर आधारित है, वह प्रमाण कहाँ है? समस्त सब कुछ हिसाब की गणना में, निरूपण में. निर्वचन में आता है, मह कहने से यथार्थ एवं प्रामाण्य को घेरकर बनाकर अमूलक अपलाप (Concealment Denial) में क्या नहीं गये? (अर्थात् सब कुछ गणना निरूपण एवं निर्वचन में नहीं आ सकता)।

तथापि शास्त्र युक्ति द्वारा अन्तः-बहि, अणुविराट सब कुछ के यन्त्र रूप को सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रसारिणीदृष्टिभंगी से खोलकर नहीं पकड़ते? आत्मप्रत्यय में भी 'नाहंकर्त्ता'। तभी तो ऊपर की स्वत्वसाव्यस्तर की 'दलील' को झूठा कहकर फाड़कर फेकना पड़ेगा! यन्त्रों में स्वस्वामित्व का आरोप ही किया जा सकता है। उनमें स्वतः स्वच्छन्दता निष्ठित नहीं होती। किन्तु यह स्मरण रक्खो कि बाहर-भीतर सब कुछ वास्तव में यन्त्र नहीं है, यन्त्रम् है—जो अपने मन्त्रम् तथा तन्त्रम् के साथ अविनाभाव से साहित्य संहति में रहता है। मन्त्रम् उसका मनन करता है अतः वह जड़स्वभाव नहीं है। तन्त्रम् उसका तायन करता है. अतः उसमें बन्धपाश नहीं है। 'परम' तो अधिष्ठान रूपेण हैं ही। उत्तम भी स्वयं अध्यक्षरादि रूप से अधिकारी है, अध्यक्ष सर्वत्र स्थित हैं। इसीलिये रेणु अटन से रेणु रमण पर्यन्त सबको 'कृष्ण का गीत' सुनना पड़ता है। रटन, रणन पर्यन्त जाकर 'बस' करने से तो नहीं चलेगा। बाहर विज्ञान के बड़े-बड़े इक्वेशन भी यन्त्र के पास 'म' को बैठाया जाये, अथवा नहीं; यह सोच रहे हैं। गंभीर स्तर के मनोविज्ञान में यंत्र और भी जटिल परिलक्षित हो रहा है, किन्तु इस 'म' के अभाव में तो उसकी पक्की गुंथाई मे भी तल में हल्की मिट्टी ही रह जायेगी!

यन्त्र तथा यन्त्रम्

आभास रूप में यन्त्र तथा यन्त्रम् का भेद कहा गया। वास्तव में 'यन्त्रम्' का 'म' क्या है ? ओंकार का 'म' उत्तम जो अध्यक्ष हैं, उसका वाचक है। समस्त सृष्ट में प्राण एवं चेतना की निगूढ़ नाभिनिष्ठ अध्यक्षता है इसलिये जो आभासिक या प्रत्यावभासिक (Croes-sectionally 'Taken') यन्त्र है; वह वास्तविक तथा पूर्णतः यन्त्रम् है। सुरसा के समान यन्त्र चाहे जितना ही सर्वग्रासी मुख फाड़े, श्रीमद् हनुमान् वामन के इस 'म' की सहायता से उसके भीतर जाकर बाहर लौट आते हैं। ओंकार बीजादि की सहायता से इसलिये तो साधन किया जाता है। इसलिये अर्धमात्रा ने अपना सेतु बना रक्खा है। फिर भी 'यन्त्र में ही उतार चढ़ाव रहित होकर पड़ा रहूँगा, यन्त्रम् का कोई भी संकेत अपने में नहीं पाऊँगा, और मुख से केवल Joke बकवास करता रहूँगा' इस भाव को तो त्यागना होगा। जो एकेश्वर तथा सर्वेश्वर हैं, वे मेरे पास एक होकर रहें तभी तो मैं १० हूँ। अन्यथा मैं हूँ शून्य ! यन्त्रेश्वरी चिदानन्दरूपिणी कुण्डलिनी जब तक निद्रिता हैं, तब तक यन्त्र ही भव में और भाव के कारागार में सब कुछ है। उसे जानने पर वह है यन्त्रम्।

त्रिपुटी

प्रशासयिता, प्रशासित तथा प्रशासन की त्रिपुटी को याद रखना होगा। प्रशासित उसे 'यह एतावत् मात्र' रूप में जब तक दिखलाते हैं; तब तक वे 'भूः' व्याहृति में रहते हैं। प्रशासयिता 'स्वः' व्याहृतिरूपेण उसे एक परिपूर्ण शक्ति-छन्द आकृति का आदर्श 'तत्' कहकर दिखलाते हैं। 'भुवः' है प्रशासन; जो माध्यम में रह कर 'यह' को 'तत्' में प्राप्त कराते हैं। यह प्रशासन कर्म जप में अभ्यारोह है। हवन में सवन या आहुति है। सृष्टि में सर्वत्र यह सेतु या विवृति है।

प्रशासन का सेतु रूप

सृष्टि में सर्वत्र प्रशासनमूर्ति कुछ तो प्रकट है, किन्तु प्रशासन का परिचयपत्र लेकर आवहमान कालविचार का अन्त नहीं है। छूरे की धार पर चलने के समान निशिता; दुरत्यया तथा गहना है यह विचार सरणि। इस सरणि के अनुसरण से मोहकलिल में पतित होने की आशंका होती है। सबकी हृल्लेखा या आत्मा पर्यन्त गति हुये बिना बुद्धि मोह कलिलपारीणा होने की संभावना नहीं है। और यह दो अस्तिकतम होना भी तो सुदूरतम है ! अपना घर और अपने घर की घरनी। खिला फूल अपनी मर्मकार सुगन्ध से आकुल भ्रमर को अपने पास बुला लेता है, किन्तु वह स्वयं नहीं जानता कि उसके कुसुमकोरक के किस निराले निभृत कोष में गोपित है उसका मरममधु। अपनी हृल्लेखा के पास यह जो अस्फुरन; अबूझ व्यव-

धान है, यही तो सृष्टि में सबसे अधिक मर्मन्तद व्यवधान है। तभी प्रशासन को सेतुरूपेण प्रसन्न करो।

प्रशासन का अर्थ ?

प्रशासन = प्रकर्षेण' शासन। इस 'प्र' के हृल्लेखानिष्ठ रहने पर एवं तद्रूप बोध तथा व्यवहार में आने पर स्वधारा तथा 'स्व' महिम्नि सुस्थिर रहती है और यह अक्षर प्रशासन की सेतु संस्था हो जाती है। वास्तव में है भी वही। किन्तु हम बोध तथा व्यवहार में (In our conventional appreciation) प्रशासन को वैरूप्य एवं वैगुण्य में भी प्राप्त करते हैं। सृष्टि धारा के प्रथम पर्व में (First emergence में) नहीं, किन्तु द्वितीय पर्व में ऋजु के साथ वक्र भी प्राप्त होता है। तृतीय पर्व में वक्र हो जाता है जिक्ष। सुन्दर हो जाता है क्रूर। फलस्वरूप प्रशासन का 'प्र' स्वयं को द्विधाविभक्त करता है और पारस्परिक रूप से द्वन्द्व में प्रवृत्त हो जाता है। एक है उत्स (उर्ध्वग) अन्य है अप् (जिक्षग एवं निम्नग)। अर्थात् उत्कर्ष एवं अपकर्ष। सुर एवं असुर। यहाँ इस 'अप्' को कैसे हटाया जाये, यही समस्या है। 'उत्' को (जैसे ओंकार में प्रशासनरूप 'उ' वर्ण) पकड़ो, इससे समस्त उद्वेग, उपद्रव समाप्त होने लगते हैं। नान्यः पन्था ! 'उत्' होगा उत्तम, जिस सुरच्छन्दः प्रशासन में उसका 'उत्तोलित अभयवरद हस्त (uplifting divine-moment) है।

अप् एवं आपः

जप के अपनोदन, अपसारण कर्म में आपः प्रसन्न हो जाये ! आपो दैवत् के प्रसाद से प्रशासन उत्तमकल्प में आता है। अप (अकारान्त) एवं अप् (स्त्री, बहुवचन) को एक नहीं समझना। स्वर का आदि (अ) यदि पंचम स्पर्श वर्ण के आदि में (प में) रुक जाये, तभी तो देवता हो जाते हैं अपदेवता, सुर हो जाते हैं असुर। जैसे ओंकार अथवा 'ऐ' आदि बीज जप में 'म' मे जो 'परशलेश' प्राप्त हुआ उसमें जप को खतम मत होने दो। यही अक्षर प्रशासन अर्धमात्रा के सेतु को लेकर प्रतीक्षा में है तो ! तुम उस सेतु का सन्धान करो। अन्यथा विषम विरति के गर्त्त में पड़कर तुम्हारा जप 'जखम' (चोट) होकर साथ-साथ मनप्राण को 'खामखा' हैरान करेगा। 'अप्' बहुवचन होकर 'आपः' है। वहाँ ज्योति-रस को प्राप्त करो 'महेरणाय चक्षसे'। गायत्री में इसी कल्याणी प्रशासयित्री के प्रशासन में सेतु प्राप्त होकर ध्यानगोचर करता है 'सवितुर्वरेण्यं भर्गः' को। अतः समस्त 'अप्' या अपकर्ष के मार्जन कल्प में विनियोग हो आपोदेवता का। ये मृत्यु-ऐनस आदि समस्त क्रूर जिक्ष को पहले विगलित करते हैं, तदनन्तर शोधन संस्कृत करके बंकिम सुन्दर तथा ऋजु-प्रशान्त इन दो पर्वों में लाते हैं।

इस बार प्रशासन की उत्तम भूमिका में वापस आओ। यहाँ तीन कल्याणी शंकर धारा है। 'अधि' 'अनु' एवं 'प्रति' (प्रतिरूप्यर्थ में) इन तीन भूमिकाओं में परमाक्षर तत्व अवतरण करते हैं। अर्थात् वे प्रशासन के अनुबन्ध एवं अनुरोध से हो जाते हैं अध्यक्षर, अन्वक्षर तथा प्रत्यक्षर। व्यष्टि चेतना में प्राज्ञ, तैजस्, विश्व। समष्टि में ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्। इनसे एक महाश्चर्य अवतरण को समझो। सब कुछ में ही। जैसे एक वृत्त बनाओ ? यदि ठीक वृत्त चाहते हो तब उसका केन्द्र वृत्तसूत्र (The equation मन्त्र) को स्थिर करो। यह है अध्यक्षर। तदनन्तर उन दोनों से शासित तल तथा व्यासमान का निरूपण करो यह है अन्वक्षर। अन्त में स्केल आदि की सहायता से उसका सम्यक् रूपायण होना है प्रत्यक्षर। वृत्त मात्र का यथार्थ प्रतिरूप।

अक्षर अवतरणिका

सभी स्थल में परम अक्षर वस्तु के इस क्षर परिणाम प्रवाह में अवतरणिका शैली को लक्ष्य करो। विश्व व्यवहार में सर्वत्र यह लक्ष्य करो कि कोई क्षर परिणाम अपनी आकृति, शक्ति तथा छन्दः के सम्बन्ध में, अक्षर प्रशासनव्यतीत नहीं होता। ऐटम तथा प्राणिकोष में न्यूक्लियस, सौर जगत् में सूर्य इत्यादि इसके उदाहरण हैं। हममें 'धी' है अक्षर की प्रतिभू। स्थित धी होने का साधन है—अक्षर स्थिति का साधन। जप कर्म में अक्षर परिचय आरंभ होता है। समापन पर्यन्त उसे ले जाना होता है। व्याहरण तथा अनुध्यान—इन दो प्रग्रह की आकृति प्रकृति बदल सकती है। जैसे वैखरी में जैसा है, वैसा मध्यमा में नहीं है।

परम तथा उत्तम

परम के क्षरभाव में उतर आने का प्रारंभिक कर्म अत्यन्त अद्भुत है। एकरस निर्विशेष ब्रह्मवस्तु मानो स्वयं ही स्वयं का मन्थन तथा दोहन करती है। जो शान्त प्रपंचोपशम है वह मानो किसी अमानवीय जादू से स्वयं को बनाता है प्राण (एतस्माज्जायते प्राणः)। वह प्राण है 'अचिन्त्य शक्ति निर्जरः'। निर्जरः=जरा रहित (Ever renewing Recreating)। और प्राण होकर क्या वे अलग चलेंगे ? ना ! वे प्राण को अपने तादात्म्य में लेकर चलते हैं 'प्राणस्य प्राणः'। परम हो गये उत्तम। काल या कार्यकारण में विश्लेषण करके परम-उत्तम को समझ लो। न्यूनता तथा आधिक्य नहीं है। पुनश्च-उस भगवत्ता के लक्षण का स्मरण करो। परम उत्तम में जो अनिर्वाच्य तादात्म्यविनिमय (unthinkable transfer of identity) है, वह क्षर में अक्षर के अवतरग की आदिम भूमिका है। तन्त्र की भाषा में है आदिकला (First evolvent)। यह अदिमा कलनी शक्ति पूर्ण घनीभाव में है बिन्दु। पूर्ण वितान में है नाद। बिन्दु है परम निष्कर्ष और नाद है

परम प्रकर्ष। कला को कहो परम उत्कर्ष। आदिमा कलनी की इन दो परिसीमा की ऋध्यमानता जिसके द्वारा होती है, एवं पारमोत्तम में परीणता की संतुरूपा जो होती है, उसे अर्द्धमात्रा कहा गया है। अर्द्धमात्रा=ऋद्धि--कला एवं परमिता का दोनों का।

मातृका एवं अर्द्धमात्रा

स्वर-व्यंजन वर्ण है मातृका। मातृका की माता=अर्द्धमात्रा। मातृका शब्द में 'का' इसी का निर्देश देता है। विन्दु-नाद-कला एवं कलातीत में सेतु, यही सार्द्ध त्रिवलयाकाश कुण्डलिनी अर्द्धमात्रा वाच्य-वाचक सकल समस्त में प्रशासयित्री रूपेण अध्यक्षता में हैं। ये है अध्यक्षर। इनकी अध्यक्षता में स्वर वर्ण भी अक्षर है। व्यंजन भी अक्षर हैं। प्रथम है अन्वक्षर; द्वितीय है प्रत्यक्षर। अतः स्वर व्यंजन वर्णाक्षर भी प्रशासन व्रत में निरत हैं। वाच्य विश्व में सब कुछ की आकृति शक्ति तथा छन्दः—ये तीनों वाङ्मय प्रशासन में हैं। स्थूल वैखरी में पूर्वोक्त अपकर्ष एवं उसके कारण उत्पन्न क्रूरता—जिक्षतापत्ति के कारण स्वर-व्यंजन का प्रशासन उपमर्दित हो जाता है। नाद विन्दु कला को अर्द्धमात्रा सेतु साधारण स्वर व्यंजन में मानो उठाये रखते हैं। तभी वाक् एवं नाम में अक्षर रहने पर भी अक्षर प्रशासन 'तटमिता' भी नहीं होता, 'परमपिता' तो दूर की बात है। नादबिन्दु का आश्रय लेकर जप साधन में यह पारमिता ही यथार्थ साधन है।

सामान्य प्रशासन एवं मौलिक

प्रशासन सूत्रकारिका में 'सूत्रात्मा' एवं 'स्फोट' इन दोनों का उल्लेख है। अक्षरब्रह्म अनन्त शक्ति निर्झर प्राणब्रह्म होकर अणुत्व का भी अंगीकार करते हैं (अर्थात् स्वयं को 'महतो महीयान अणोरणीयान्' करते हैं) सृष्टि एवं उसके प्रशासन के कर्म में। परमाद्भुत जादूगर एकसाथ दो काष्ठाओं को प्रदर्शित करते हैं। फल है विन्दु। 'एक' विन्दु स्वयं को 'बहुः' करता है। 'बहु' में आने पर हृल्लेखा-नाभि इत्यादि विशेष-विशेष बीज या कारण की आकृति ग्रहण करता है। इन (१) समस्त विशेष-विशेष नाभि में या केन्द्र में परमब्रह्म के अधिष्ठान रूप में, (२) प्राणब्रह्म के अचिन्त्य-अव्यय-शक्ति-निर्झररूप में, (३) उत्तम के सर्वाध्यक्षरूप में 'सामान्य' प्रशासन रहता है। इन तीन के अतिरिक्त और भी एक मौलिक प्रशासन की आवश्यकता होती है। सृष्टि के उन्मेष में विशेष-विशेष नाभि, केन्द्र तो 'प्रत्येक' Individualised होते हैं। अथच् प्रत्येक ही ब्रह्मगोत्र, विदुगोत्र हैं। बहुत्व को manifold को एकत्व में, विशेष को सामान्य में लौटा न सकने पर तो सृष्टि में, अन्योन्य सम्पर्क, छन्दः, शृंखलाइत्यादि किसी प्रकार का व्यवस्थान या संस्थान संभावित नहीं होता। सभी तो मानो 'अलग' या बिखरे रहते, परस्परतः आकृति-शक्ति-छन्दः

सम्बन्ध ग्रथित न होता। जैसे तारा रहते हैं (पृथक्-पृथक्)। केवल प्राण का एक विन्दु अथवा चेतना का एक भाव ही नहीं प्रत्युत एक धूलि रेणु भी असीम विपुल में अकेला निःसम्पर्क नहीं है। विधृत अवधूत नहीं है। बाहर, समस्त, सब कुछ के साथ, वह सर्वतोभावेन 'गुंथा' हुआ है और इस विश्वग्रथन की मूल ग्रंथि को वह अपनी नाभिग्रंथि में ही रखता है।

यह है उर्णनाभ का दृष्टान्त। वह है 'विश्वदेवाः' एवं विश्वकर्म ! उसमें जो नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। यह अद्भुत रेणुग्रंथन किस प्रकार से संभावित होगा ? प्राणब्रह्म सूत्रात्मा रूप से सब कुछ को ग्रथित (सत्ता-शक्ति-आकृति, छन्द में) करते हैं—संकलपन द्वारा। वे अधिष्ठान आधाररूप से हैं, हममें, तुममें। प्राण विन्दु, अन्तरात्मा, अन्तर्यामी रूप से अनुप्रविष्ट भी हैं। किन्तु 'सूत्रे मणिगणा इव' हम सभी भेद विरोधादि के रहते हुये भी महासंगति-समन्वय में ग्रथित कैसे हैं ? देश काल तथा असीम विश्व में यह सुदूरवर्त्ती महाभास्वर तारा और यहां का यह नगण्य तृण, सभी एक ही परम विस्मय नृत्य तथा संगीत के समदरदी सुर तथा छन्द में गुंथे जो हैं।

सूत्रात्मा क्यों ?

सूत्रात्मा कहा गया इसलिये कि जो समस्त प्रियम की, प्रेष्ठता की आकर भूमि यह आत्मा है, वहां तक सन्धान न करने से अर्थात् आत्मरस में सब कुछ को पूर्ण मरमीरूप में अपने से जोड़ न सकने पर किसी के साथ किसी के सम्पर्क को उसके प्राण की नाड़ी खोज नहीं सकती। स्थूल में, सूक्ष्म में, कारण में एक के साथ अन्य का जो मिलन सेतु है, उसे एक बार उस रससन्दोह तथा रसनिष्कर्ष भूमि से न जोड़ सकने तक वह सूत्र नियत, निश्चित, निगूढ़, निर्व्यूढ़ नहीं होता। ब्रह्म स्वयं ही इस सूत्र की तकली और रुई दोनों ही है। वह प्राण रूप से तकली को घुमाता रहता है और वह 'उत्तम' रूप में हो जाता है सूत कातने वाला। और सूत्रात्मकरूप से वह स्वयं ही है सूत। वेद के ऋषिगण भी तो यह उपमा पसंद करते थे। यह सूत ऐसा वैसा नहीं है सोना का सूत—हिरण्य का हिरण्मय ! सूत कातने का तो अन्त नहीं है। सृष्टि विशाल है, तब भी तो एतावती—इतनी सी ! इसे गूंथने में कितना सूत लगेगा, तभी एक परमाश्चर्य 'नैतावती' की रील में यह अतीत अनागत सभी सूत जड़ा है और उस अद्भुत् रील को पुकार कर कहा जाये—'तुम सब सूत अपने जिम्मे रक्खो, और उसकी आपूर्त्ति का निरीक्षण रक्खो'। यह निरीक्षण (Supervision) भाव कौन देता है ? वह मूल अध्यक्षर, उत्तम पुरुष। सूत्रान्वय के भाण्डार का भार इन्हे दिया गया है और सूत्र का भी और हिरण्य का भी। तभी इसे कहते हैं हिरण्यगर्भ (अध्यक्षर)। प्राण, सूत्रात्मा एवं हिरण्यगर्भ को, इस

उपमा उपमान में समझ लो। विश्व सूक्ष्म की परिसीमा तक जो अन्वय (हिरण्य-सूत्र) है वह कहां गर्भित (Implicated) है ? यही प्रश्न है।

नाद तथा सूत्रात्मा

प्रणवादि जप में विन्दु प्राणब्रह्म परम घनीभाव में है। नाद वहां है परम-वितान में। कला इसी कारण है परमकलन या फलितफलन में। पूर्वोक्त वाचनी में विन्दु को कहो प्राण, नाद को सूत्रात्मा, कला को हिरण्यगर्भ। यह कला है माध्यमी कला। आदिमा कलनी कला एवं अन्तिमा फलनी कला के मध्य में यह स्थिता है Evalvent एवं Evolute के मध्य Evolving स्व और भूः के मध्य भुवः।

अक्षर प्रशासन में पादपरिचय

स्फोट की वार्ता बाद में आ रही है। इस बार पंचपात् अक्षर प्रशासन को अपने बोधविन्दु; केन्द्रीण साक्षित्व में स्थित होकर देखो। अक्षरपरम से ही प्रशासन का महापर्वारंभ होता है। अस्तिता, भातिता, प्रियता के एकमात्र अधिष्ठानरूप में है आदिम प्रशासन। उस अधिष्ठान में प्राणप्रशासन है, जिसके निमित्त सभी कुछ अपनी सत्ता-छन्द-आकृति में अस्फुरान शक्ति का मान तथा ऋच्छति लेख प्राप्त करता है। प्राण को will-to be and will-to Become इन दो रूपों में देखो। परब्रह्म की अचिन्त्यशक्ति निर्जरा जो प्राणभूमिका है, उसमें परमघननी, परमव्यापिनी तथा परमकलनी फलनी (विन्दु-नाद-कला) रूपी भावत्रयी उदित होकर एकमात्रा-पूर्ण-मात्रा तथा सर्वमात्रा रूपी परम मानत्रय में स्वयं को दिखलाती है। तब ब्रह्म (परम) (समस्त विषयसम्बन्ध में शून्य रहते हुये भी) होते हैं उत्तम। इस बार ब्रह्म हुये अध्यक्ष, अधीश्वर और अधिष्ठान प्रशासन हुआ प्राण के माध्यम से एवं विन्दु-नाद-कला साहित्य से अध्यक्ष या अधीश्वर प्रशासन। उत्तम प्रशासन = प्राण के आधार में विन्दु-नाद-कला रूपी मूल महाभावत्रय को अपने में सम्मिलित करना। फलतः वह चतुष्पात् है—प्राणप्रशासन, विन्दुप्रशासन, नादप्रशासन एवं कलाप्रशासन। प्राणप्रशासन रूप से वह है 'सर्वभूताधिवास, सर्वनिधान। विन्दुप्रशासन रूप से 'सर्वभूतेषुगूढः, सर्वभूतान्तरात्मा सर्वान्तर्यामी। नादप्रशासन में सर्वव्यापी, ईशानो-भूतभव्यानां। कलाप्रशासन में कर्माध्यक्षः इत्यादि। विन्दुरूप से सबका 'बीजमव्ययं, नादरूप से बीज के काण्ड आदि रूप से परिपूर्ण वितान। कला रूप से उस वितान के आधार में विचित्र अवयवादि का कलन-फलन होता है। और प्राणरूप से बीजादि का भी 'जीवन' तथा निधानम्।

इस प्रकार का जो उत्तम प्रशासन है, उसका स्वाभाविक वाक् है 'अउम' या ऊँ। लक्ष्य करो कि उत्तम का 'ओ', ही ओंकार का ऊँ हो गया है। और 'ऊ'

हो गया है 'अ'। अर्थात् उत्तम में उसकी सृष्टि में 'अवतरण' का जो भाव निहित है, उसकी स्वाभाविकी वाक् जो ओंकार है, उसमें वह भाव 'उत्तरण' है। "मैं तो तुममें उतर आया हूँ, इस बार तुम अपने से हममें उत्तर आओ। धाम में वापस आओ।" उत्तम में Divine Decent है। 'अऊम' में है Divine Ascent. दोनों शब्द का उच्चारण करके देखो। ओंकार के प्रशासन में केवल सर्वविध वाक् की ही नहीं, प्रत्युत् सर्वविधि वाच्य की भी विलोम दृष्टि अपगत होकर अध्यक्षर एवं परमाक्षर अभीमुखीना अनुलोम वृत्ति प्रवर्तित्त होती है। इसलिये केवल इसी देह में ही नहीं परन्तु सृष्टि की समस्त संस्थाओं में 'आज्ञा' या प्रशासन केन्द्र में ओंकार अपनी महिम्नि में अधिष्ठित रहता है। श्री गुरुशक्ति 'ऐं' बीजरूप से प्रथमतः सब के मूलाधार में महाकुण्डलीकृत् प्राण को 'ह्रीं' बीज द्वारा उद्बुद्ध करती है, तदनन्तर 'ऐं श्रीं' बीज द्वारा उध्वर्ग एवं छन्दोग करती है। आज्ञाचक्र में जो ओंकार है, उसके प्रशासन में ही अग्रगा, उग्रगा एवं छन्दोगा रूपी त्रिधारा का सम्मिलन साफल्य में आता है। अन्त में 'आज्ञा' की अनुमति प्राप्त करके 'सहस्त्रार' में धामग को भी प्राप्त करता है। यह होता है क्रीं या क्लीं बीज से। सकल समर्थ नामों को इसी आज्ञा की आज्ञा प्राप्त करना होगा।

आज्ञा एवं चक्र प्रशासन

पहले जिस चतुष्पात् उत्तम प्रशासन का प्रसंग कहा गया, उसमें प्राण प्रशासन को आधार में रखकर अन्य तीन को ईश्वर प्रशासन, सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ प्रशासन एवं विराट प्रशासन के रूप में चिन्तन द्वारा देखो। अध्यक्षर, अन्वक्षर, प्रत्यक्षर की बातें आगे होंगी। स्वर व्यंजन समस्त ही 'आज्ञा' के प्रशासन में रहकर नीचे के चक्रों में अपने-अपने अक्षर प्रशासनाधिकार में रहते हैं। प्रत्येक चक्र विशेषतः एक एक तत्वों की भूमि है। एवं प्रत्येक तत्व का प्रशासन बीज 'लं' आदि है। अर्थात् चक्र यन्त्र नहीं है, यन्त्रम् है। अतएव स्वशक्ति-आकृति-छन्द के उपयोगी भाव में अपना मन्त्रम् तथा तन्त्रम् भी उसे प्राप्त हो चुका है। मूलाधार में कुलकुण्डलिनी रूप से परब्रह्म का प्राण प्रशासन केन्द्र है। सहस्त्रार में वे 'उत्तम' रूप से निखिल तारतम्य की परिसीमारूप आदि रूप से निखिल स्थिति सृष्टिलय धारा की अध्यक्षता करते हैं। अर्थात् यहाँ से ही सृष्टि आदि के मूलीकृत मिथुनभाव को एक ओर जैसे अनन्त विचित्र भेद प्रपंच में सौष्ठव पूर्वक अवतरण कराते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर उसे अचिन्त्यभेदाभेद के सामरस्य में एवं परम अभेद एकरस में निष्णात कराते हैं। वे मिथुन को करते हैं युगल और युगल को करते हैं केवल अथवा केवलातीत अलख निरंजन। वे प्रत्येक चक्र के कोरक में हिरण्यगर्भ, दल में विराट तथा कोरक केन्द्र में उत्तम हैं। सुषुम्ना सूत्रात्मा ही सभी चक्रों को प्राणरस से जोड़कर 'हंसः' तथा आत्मरस से भरकर 'सोऽहम्' प्राप्त कराते हैं।

अन्य प्रकार से इस प्रशासन महापादप के अधिष्ठान हैं परब्रह्म स्वयं। जीवनीशक्ति, मर्मरस प्राण। बीजमव्ययं-विन्दु। इसका परिपूर्ण वितानी नाद। इसमें काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्पफलादि अनन्त कलनी कला है। इसकी मंजरी स्फुट स्वर है, फल-फूल है व्यक्त व्यंजन। वैखरी को स्फुटरूप से अक्षर प्रशासन रूप, मध्यमा को स्फोट रूप से, पश्यन्ति को परिस्फुट भांतिरूपेण और परा को प्रस्फुटित प्रियम् रूपेण (स्वलसित प्रोज्वलरस में) प्राप्त करो।

परिपूर्ण प्रशासन मूर्ति

यह समग्र परिपूर्ण अक्षर प्रशासन मूर्ति ध्यान में रखकर तब भूतभौतिक सर्व यन्त्र को यन्त्रम् रूपेण बोध में, व्यवहार में, उपलब्धि में पाना होगा। विज्ञान में यन्त्र ही सब कुछ था, अभी भी वह यन्त्रम् की ओर मात्र एक पग ही अग्रसर हो सका है। अभी भी 'यह' और 'वह' के मध्य में जो सेतु है—उसका सन्धान विज्ञान को नहीं मिल सका है। ऐतावत को नैतावत में प्राप्त अवश्य किया है (जैसे एटम विकिरण में) किन्तु उसे प्राण का सन्धान नहीं है। और प्राण की आज्ञावहा जो सुषुम्ना है, उसकी भी कोई सजाग सिहरन उसे प्राप्त नहीं है। अतएव नैतावती दितिगर्भ में है। वह अदिति के गर्भ से उत्पन्न नहीं हो रही है। तब महती विनष्टि का आतंक है! प्रज्ञान के यंत्र उस प्रकार नहीं है, यन्त्रम् हैं। तुम-हम आदि यन्त्र कहीं नहीं है। तुम्हारे-हमारे मध्य जो आज्ञा है, वह आज्ञा अन्धी नियति की आज्ञा नहीं है। वह प्रशासन है परम प्रशासन एवं उत्तम प्रशासन। इसमें छन्दः है, लीला भी है। श्वेताश्वतर के मन्त्र को याद करो—"एको देवो सर्वभूतेषुगूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेतो केवलो निर्गुणश्च।"

सूत्र

अनपेक्षाक्षरत्वमधिष्ठानत्वम्।

अक्षरवस्तु (सर्वतोभाव से) अपेक्षारहित स्थिति में अधिष्ठान है॥

सृष्टि में कामादि चतुष्ठय

सृष्टि एवं उसके प्रशासादि कल्प में अक्षर परम काम-तपः-संकल्पन एवं ईक्षण इन चार भाव में स्वयं को दिखलाता है। बाक् में ओंकार रूप होकर विन्दु में हो जाता है काम; नाद में ईक्षण, अर्धमात्रा में तपः। इस चतुष्ठय में 'ईक्षा' को (नाद को) विशेष भाव से देखो; क्योंकि नाद तथा ईक्षण रूप ही सब कुछ में 'व्यक्तिमापन्न' होते हैं और अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। ईक्षण ही देखता है तथा दिखलाता है। इसके बिना सब कुछ है नेपथ्य में। ओंकारादि जप में पराव्यक्त बिन्दु (परमकाम) से नाद ही उदित होता है और कलावितान छन्दोग पाद में तथा

मात्रा में पुनः विन्दु में विलीन हो जाता है। उदय एवं विलय सेतु रूपा अर्द्धमात्रा (तपः) है।

ईक्षण में 'जप'

ईक्षा या ईक्षण होने से उसमें अप एवं उप इत्यादि भाव समूह भी बीज से अंकुर आदि के समान फूट उठता है। ईक्षण हुआ किन्तु किसने किया एवं किसे किया ? चने के बीज के दो दानों के समान "कौन" एवं 'क्या' परस्परतः जड़ित रहने पर भी उसमें व्यवधान बीज (अन्तरिक्ष) निहित रहता है। (दोनों के बीच के व्यवधान से ही अंकुर निकलता है)। परस्परतः आलिंगन से मुक्त होकर जब 'कौन' "क्या" को अपने से पृथक "और कोई" देखता है, तब ईक्षा हो जाती है अपेक्षा (Relation, relatedness)। विन्दु में नाद कला दोनों ही सम्मिलित है (In unthinkable coalescnce)। अर्धमात्रा ऋध्यमाना होकर (अर्थात् तपः होकर) नादकला से कहती है—तुम दोनों अपेत हो जाओ, स्वयं को अलग करके प्रस्फुटित हो जाओ। अर्द्धमात्रा ही विन्दु केन्द्र के दोनों ओर दो सेतु बनाती है। एक है अप (उदय में) दूसरा है उप (विलय में)। बीज से अंकुरादि रूप से अपेत। पुनः फल, पुनः बीज। अतः उपेत। अन्तर्बहि सब कुछ में यह मौलिक अपेत-उपेत भाव जान लो। ब्रह्म का जो ऋच्छतिरूप है, वह इसी मूल छन्द को लेकर प्रवृत्त होता है। विन्दु ब्रह्म में शून्य पूर्ण के एक साथ रहने पर भी जगत् प्रतीति में विन्दु के शून्य का पृष्ठभाग (पराव्यक्त भाव ही) परिलक्षित होता है। पूर्ण का दिक् तो अपिहित रहता है। मानो नैष्कल्य का दिक् ही इस ओर रहता है। पुनः बीज का उदाहरण लेकर समझो। वट का बीज भग्न करने पर उसमें 'वट' जैसा कुछ भी नहीं मिला !

चार अन्तराल

जब भी कहीं से किसी केन्द्र विन्दु से (from origin) व्यापार प्रवृत्ति सुषम रूप से चलती है (जैसे जप व्याहरण में) वहाँ व्यापार के चार अधिष्ठान मिलते हैं—(१) विन्दु से अपेत (२) 'समेत' या सम-सुषम रूपेण 'इत' (३) उपेत-विन्दु प्रत्यावर्त्तन में (४) विन्दु स्थित या समवेत। यहाँ जो कुछ विन्दु से अपेत, समेत या विन्दु में पुनः उपेत है, वे सब विन्दु गर्भ में समवेत रहने के कारण शून्य नहीं होते। वस्तु तथा वृत्ति दोनों ही यहाँ कहती है—हम यहाँ पूर्ण हो गये, अपेतादि तीनों भाव हममें नहीं हैं। यह जो समवेतभाव है, उसे कहा जाय साकल्य शून्य अर्थात् साकल्य एवं साफल्य दोनों ही के पूर्ण होने में अपेतादि भावत्रय का जो अनवकाश एवं अवसान है, वह। किन्तु ब्रह्मकाम के परमघनीभाव, ब्रह्म के ईक्षण, संकलन एवं तपः इन भावत्रय का अपेक्षा बीज विन्दु में निहित रहता है। ब्रह्म के

प्राण पर्व मे न आने पर तो उसमें घननी, व्यापनी, तायनी प्रभृति कोई ऋच्छति रूप नहीं आता। अतएव बिन्दु-नाद-कला प्रभृति शुद्ध अनिरुक्त अलक्षण अप्रमेय अव्यवहार्य ब्रह्म स्वरूपता में नहीं है, किन्तु प्राणब्रह्म में ब्रह्म की प्राण स्वरूपता में हैं। तभी परमतत्व है विन्दु-नाद-कला से अतीत। सम्पर्क या सम्बन्ध 'अपेक्षा'—के बिना नहीं होता। जो शुद्ध अवांगमनसगोचर है; उससे अपेत जो ईक्षा है वह हो जाती है अपेक्षा। उसकी परम मग्नना में यह नहीं रहती। पुनश्च, उसी भास एवं भान का परीक्षण करो।

अपेक्षा का अपसर्पण (Elimination)

अब अपेतभाव या अपेक्षा को एक-एक संस्था में; शून्य में लाओ; अवश्य यह करो उस परमाव्यक्त (Absolute) की 'तलाश' में। विन्दु अथवा पराव्यक्त से व्यक्ताव्यक्त सेतु की सहायता से नाद उदित होता है ओंकार आदि के जप में। इस उदय में अपेत भाव घटित हुआ, अतः अपेक्षा आई। विलय में अपेतभाव एवं अपेक्षा को शून्य में ले जाना होता है। अथवा शून्य में इन्हें प्राप्त करना पड़ता है। लेना पाना पूरा हो जाने पर जो बिन्दु से अपेत-सापेक्ष हुआ था, किन्तु इसमें शून्यपूर्ण समवेत स्थिति में परम अनापाय एवं पूर्ण अनपेक्षा सम्भावित नहीं हुई। सेतुरूपा अर्धमात्रा अपेत-उपेत (+; —) दिक् से अपना 'मुख' घुमाकर पराव्यक्त बिन्दुस्थिति से परमाव्यक्त ब्राह्मीस्थिति में ले जाने वाली चरमा या परमा (तुरीया) सेतु बनेंगी; तभी न पूर्ण अनपाय अनपेक्ष धाम प्राप्त होगा!

अपेक्षा की पर्व परम्परा

अतएव अपेत एवं अपेक्षा की पर्वपम्परा है। श्रुति के 'ब्रह्मलिङ्ग' एवं ब्रह्म-स्वरूप आकाश के जिस प्रकार 'ततो ज्यायान' क्रम से 'परोवरीयान' भाव में अधिगम का पथ प्रदर्शित हुआ है, अनपाय-अनपेक्षा के सम्बन्ध में भी वैसा ही जानो। क्षिति से प्रारम्भ करके वायु तक सभी 'सापेक्ष' सम्बन्ध में जैसे आकाश अनपाय-अनपेक्ष है अतः अधिष्ठान है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म कारण, समष्टि-व्यष्टि निखिल का अधिष्ठान क्या है और कहाँ है—जिसके मिले बिना इस क्षराक्षर प्रवाह में पूर्ण स्वस्थता का अधिष्ठान प्राप्त नहीं होता। जड़ के क्षेत्र में प्राण तथा मानस क्षेत्र में—सभी क्षेत्रों में ध्रुवैक अधिष्ठान की खोज प्रारम्भ हुई हैं—कुछ दूर अग्रसर भी हो सके हैं किन्तु सरणी समूह अभी-भी बहुशाखा: है, एकमुखी नहीं है। तब भी समस्त सरणीयात्रा बुद्धियोग में 'आरुरुक्षू' है, यही है भरोसेवाली बात। क्योंकि भाव-नाओं पर तभी युंजान-युक्त स्थिति होगी। किन्तु योग का लक्षण एवं लक्ष्य किंचित् व्यस्त व्यग्र (Prone in divergence) हो गया है। उसे समस्त समग्र करना होगा इसलिए जो 'सरण्य' या सरणीय (end to be aimed at and pursud) एवं

जो सब सरणी (ways and meaes) हैं, उनमें अपेत भाव को क्रमशः ह्रस्व और गौण करके 'सरणा' को शरण्य तथा वरेण्य रूप में प्राप्त करना होगा। एवं सरणी को भी होना होगा 'ऋतु ऋतस्य पन्था.'। जपादि जो भी साधना हो उसका लक्ष्य तथा उपाय हो सरणिशोधन (शरण्यम्) एवं वरेण्यशोधन (वरेण्यम्) ओंकार में आदिस्वर 'अ' क्या करता है ? निखिल सृष्टि में एवं साधन में ऋजु जो ऋतस्य पन्थाः (सरणि) है, उसका अनुक्रम एवं अनुवृत्ति घटित करता है। 'उ' द्वारा एवं 'म' द्वारा ऋजु -ऋतभाव से जो अनुसरण हो रहा है वह श्रेय के साक्षात् प्रशासन में आकर होता है 'शरण्यम्' एवं निःश्रेयस का स्वाधिकरण वरण करने को आकर हो जाता है वरेण्यम्'। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'। सबमें (बाह्य स्पर्शादि में) अनात्मभाव का परिहार करके आत्मैक बुद्धि न आने तक शरण्यम्-वरेण्यम् का द्वारा नहीं खुलता। अतः अकार में अध्वगी (अध्ववात्), उकार में मनस्वी एवं मकार एवं अर्धमात्रा में आत्मन्वी धामगी होना होगा।

ध्रुवैक अतिक्रमण

ये समस्त पर्व हो गये ध्रुवैक अधिष्ठान के पास अतिक्रमण। किन्तु पहले कहा गया है कि अनपेत जो अक्षरधाम है (अतः लक्षण के अनुसार परम अधिष्ठान) उसे इसी आकाश के समान 'ततो ज्यायान' भाव में पाना होगा। 'नेति नेति' द्वारा जो कुछ अपेत सापेक्षता में आता है उसका सकल अपाय-अपेक्षा परम में उपशम न हुए बिना यह अनुभव नहीं होता कि आत्मा ही सर्व अधिष्ठान है।

कहाँ आरम्भ और कहाँ समाप्ति

सृष्टि के किसी भी तल से यात्रा प्रारम्भ हो सकती है। विज्ञानादि में हो रही है। Space-Time Continum अधिष्ठान-अन्वेषण के किस पर्व पर्यन्त प्राप्त हुआ ? प्राण और मानस या विज्ञान की गति कहाँ तक है ? 'परायण' तो अभी भी मनन ही नहीं कल्पया के भी पार है। साधनक्षेत्र में यह अन्तरंग प्रश्न है—चले तो हैं, किन्तु कहाँ है अन्तिम खड़े होने का स्थान जहाँ जाकर पुनः वापस नहीं आना है (अच्युत पद)। जप में कलित फलित कलावितान (अ उ म आदि) उर्मि के समान किस आधार से उठता गिरता है यह पहले जानो। वह आधार है व्यक्त नाद। यह व्यक्तनाद अपेत एवं उपेत होता है पराव्यक्त बिन्दु से एवं बिन्दु में ही सेतु की सहायता से। इनके लिये सेतु विवृति है आश्रय है। किन्तु उसके लिये बीज एवं आलय है बिन्दु।

प्राणब्रह्म नादबिन्दु कला हेतु आधान एवं निधान है। आधानरूप से विस्तार निधान रूप से घनीभाव । जो अध्यक्षर हैं वे 'निवासः शरण सुहृद' तथा अन्त में परमाक्षर ब्रह्म या आत्मा ही अधिष्ठान है। यही है अपेत-अपेक्षा का ऐकान्तिक

अवसान। बिन्दु में ब्रह्म की शाकल्य शून्यता अधिष्ठान में है नैष्कल्य शून्यता। अधिष्ठान में है निर्दोषसमतास्थिति। ऐसी निर्दोष निर्व्यूढ़ समता न आने से कुछ भी पूर्णत: अनपेत अनपेक्ष नहीं होता। यह जो अधिष्ठान में स्थित होने की अधिरोहिणी कही गयी, इसमें ऐसा नहीं प्रतीत होता कि अधिष्ठान में पहुँचने हेतु अधिरोहिणी (सीढ़ी) अनावश्यक है, अत: उसे अकिंचित्कर मान कर फेंक देना है। अर्थात् 'निवास: शरणं सुहृद्' जो भगवत्ता है, उसमें और का क्या कार्य ? इस प्रश्न का मर्म जानने के लिये उस महामाया सूत्र को पुन: स्मरण करो। निष्कल परमशिव षट्त्रिंश तत्व रूप से परमअधिष्ठान रूप से हैं ही, किन्तु शक्ति, शिवशक्ति सामरस्य, सदाशिवाख्यादि तत्व, अधिष्ठान की परमशून्यता को परमपूर्णता में प्रदर्शित करते हैं। परमविन्दुरूप में शून्यता एवं पूर्णता को प्राप्त करने का स्थल परमाधिष्ठान में ही निष्ठित है :—

अपायादीक्षयापेक्षा निर्दोषसमतास्थिते:।
तदैक्षतेति याम्नाता ख्यातीनां योनिरेव सा ॥ १५९ ॥
या प्रमाप्रमयोस्तुल्या व्योमे क्षणाद् यथानिल:।
शुक्तीक्षणात्तथा रौप्यं भेदस्त्वापेक्षकै: कृत:।
प्रपञ्चोपशम: शान्त: शवसाक्षिसादाशिव: ॥ १६० ॥

नैष्कल्य शून्यता एवं ख्याति

निर्दोषसमतास्थितिरूप जो नैष्कल्याधिष्ठान है उससे अपेत हुआ जो ईक्षण या ईक्षा है उससे ही है अपेक्षा। श्रुति सृष्टिकल्प 'तदैक्षत' इत्यादि कहती है, इसी अपेक्षा के लिये। सत्ख्याति, असत्ख्याति, अनिर्वचनीय ख्याति प्रभृति जो ख्यातिवाद है (रज्जु में सर्पभ्रान्ति प्रभृति दृष्टान्त में), सब ख्याति की योनि है यही अपेक्षा। व्योम या आकाश के ईक्षण में मरुत् (अनिल) है। श्रुतिकथित यह ईक्षण प्रमा (व्यावहारिक यथार्थज्ञान) रूपेण गण्य है, किन्तु शुक्ति के ईक्षण में रौप्य (चाँदी) यह है अप्रमा (प्रतिभासिक), किन्तु प्रमा-अप्रमा में जो परिनिष्ठित तत्वाधिष्ठान है उससे अपेत होकर ईक्षण (Seeing the given-in-itself and as snch) घटित हो रहा है। प्रमा और अप्रमा में जो भेद है वह भेद अपेक्षामात्र से नहीं होता। अर्थात् ऐसा नहीं है कि प्रमा की अपेक्षा नहीं है। अप्रमा को है। भेद अपेक्षा निमित्तक है अर्थात् अपेक्षा के साथ अन्य अन्य जो हेतु हैं उसके लिये। हमारी असम्पूर्ण ख्याति में तत्वसामग्री एवं उसके अधिष्ठान का ज्ञान तो प्रमा नहीं है। विज्ञान प्रज्ञान में उसका अहरह: शोधन सम्पूरण चल रहा है। पूर्ण ज्ञान का जो ईक्षण है वह भी अपेत है। क्योंकि वहाँ अप्रमेय, अव्यवहार्य, अनिरुक्त, अलक्षण तत्वसामग्री एवं उसका अधिष्ठान उस रूप में नहीं है। Alogical Absolute perfect Logical हो गया है।

फलतः ईक्षण एवं यह अपेत भाव Emergence of Releatedness out of the absolute. अप्रमा में इस सामान्य आधार में अन्य अन्य हेतु भी आपतित होते हैं। और इस सामान्याधार में भी अधिष्ठानरूपेण क्या नित्य रहता है ? अस्तिता भातिता एवं आनन्द। यह अधिष्ठान है 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं'। इस ध्रुव एवं अनपेक्षाक्षर अधिष्ठान की प्राप्ति के बिना तो कुछ भी पूर्ण अपेक्षारहित भाव से स्थिर और शान्त नहीं होता। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' जो सूरिगण ईक्षण करते हैं, वह ईक्षण भी परमपद (The Absolute as such) की अपेक्षा में नीचे आ जाता है। वागादिरूपेण अपेक्षा का अवतरण ही है गंगा आदि का अवतरण। जपादि साधन में लक्ष्य होगा कि अधिरोहिणी धारा का समाश्रय अधिष्ठान भूमि तक है—परमपद में प्रत्यावर्त्तन है। भगवत्ता-प्रसाद-प्रपत्ति के बिना यह नहीं होता। ओंकार, महानाम, महावाक्यादि प्रपत्ति ही भगवत्प्रप्ति है फिर भी जिस रास्ते से हो—अनपेक्षाक्षरभूमि या अधिष्ठान पर्यन्त जाना ही होगा। नहीं तो सापेक्ष में पड़े रहो।

साक्षित्व

कारिका के अन्त में है 'शवसाक्षिसदाशिवः'। पुनः उस कालीरूप का ध्यान करो। माँ के पैरों के नीचे शवशिव एवं साक्षीशिव इन दो भाव को देखा जाता है। पहले में ईक्षणव्यापार नहीं है। परमशिव रूप से शुद्ध अधिष्ठान है। दूसरे में ईक्षण है साक्षित्व है। अतः परमाधिष्ठान से तनिक सा अपेतभाव है। शिव माथे के नीचे दाहिना हाथ रखकर माँ को देख रहे हैं। इसे सदाशिव कहोगे ? नित्यकाली और सदाशिव अभी भी काल कलन से उर्ध्व ! बौद्ध परिणाम (Logical process) और काल परिणाम (Temporal process) इन दो का भेद याद है तो ? एक वृत्त के धर्म को पुनः-पुनः बाहर करके देखना होगा, किन्तु वे सब एक साथ ही हैं।

शवशिव और सतीशव

पहले कालिकाषोडशी के अन्तिम श्लोक में अधिष्ठान-अधिष्ठित तत्व को देखा गया है। 'कैवल्यं विदधाति निर्गुणतया द्वैतः मरीमृज्यते' निखिलद्वैत का मार्जन करके कालिका (गुणमयी गुणाश्रया तथा गुणातीता एक साथ) कैवल्य विधायिनी हैं किन्तु साथ ही सती दाक्षायणी का भी ध्यान करो। दक्ष प्रजापति शिवरहित यज्ञ (सृष्टिकर्म) करने लगे। फलतः सती का प्राण त्याग। शिव के कंधे पर सती का शव। पहले शवशिव। अब सतीशव। आगे शिवशुद्ध अधिष्ठानमात्र अर्थात् साक्षीत्व विशेषित अधिष्ठान थे। यहाँ वे हैं ताण्डव नृत्यपर। सृष्टि प्रलयोन्मुख। विष्णु अपने सुदर्शन से सती का अंग खण्डित करते हैं। उससे सृष्टि रक्षा-पालन हुआ। सती अंग समूह से हुई ५१ शक्तिपीठ। ५१ मातृकायें सर्वज्ञात हैं। किन्तु यह एक रहस्य संख्या है। ५ × १० + १ = ५१, २ × २५ + १ = ५१, ३ × १७ = ५१ इत्यादिरूप से संख्या प्राप्त होती है। इन संख्या में सृष्टि-स्थिति आदि प्रकरण के सम्बन्ध में

विशेष रूप से संकेत निहित हैं। पाँच में ५ महाभूत, १० में दशधा अभिव्यक्त प्राण एवं मूल अक्षर वस्तु १+५ भूत सूक्ष्म तन्मात्र; १० प्राण (इन्द्रिय) मन एवं बुद्धि=१७ आदि।

वाक् दृष्टान्त समनी-उन्मनी

यहाँ वाक् (मन्त्र) के सम्बन्ध में रहस्य संख्या को ग्रहण करो। 'प्रपञ्चोपशमं शान्त' जो अक्षराधिष्ठान है उसमें कोई वाग्बीज नहीं है। उसे यदि कहो परमशिव, तब वे किसी बीज से वाच्य नहीं हैं। इस बार साक्षित्वादि विशेषण द्वारा विशेषित होकर परमवस्तु वाग्विशेषण-विशेषित भी हो गये। जैसे उनका बीज है 'हौं'। मातृका के शेष वर्ण 'ह' में शक्ति का अखण्डत्व एवं समग्रत्व सन्निवेशित है। इस अखण्ड-अनन्त शक्तिमान रूप में हुआ ह+ओम=हौं। निखिल शक्ति विन्दु तथा शक्तिधारा का (all centres and lines of power manifestation) इसी महासिन्धु में परिसमाप्ति पर्यवसान होता है। परमशिव में यदि भाव स्वारस्य है; तब यहाँ क्या? शिवशक्ति सामरस्य? होगा! सामरस्य यहाँ नैष्कल्य एवं उन्मनी प्रवणता। जैसे ओंकारदि जप में विलय के सेतु में। उदय में साकल्य एवं समनी प्रवणता। सामरस्य के सम्यक् स्वछन्द-समता में रहेगी कौन बीज में? वह बीज हमारा वही पूर्वालोचित 'हौंसः' बीज है। उमा; हैमवती, कालिका, त्रिपुरा; भुवनेश्वरी प्रभृति बीज एवं राम, कृष्ण आदि महानाम इस परम सामन्य आकृति में आते हैं। इस विचार में शाक्त-वैष्णव भेद नहीं है। यहाँ यह जो सामरस्य साम्य है, उसे किसी प्रकार से भंग न होने दो। (जैसे दक्षयज्ञ भंग)। 'हौं' बीज सब को नैष्कल्य-उन्मनी में खोज लाता है। सः (शक्ति का स्वतः सर्वतः विक्षेप) उससे कहता है 'खीचोगे-खीचो; तब भी साकल्य समनी को भी उदित विकसित होने दो। सृष्टि-स्थिति-लय चले; स्व छन्द में चले।' किन्तु 'सः' यदि स्थाणु हो जाये; 'स' ही रह जाये जाये तब 'हौं' को सृष्टि स्थिति आदि के आधारभूत स्व च्छन्द सामरस्य में न रक्खे तब क्या होगा? शिव के कंधे पर जो सतीशव है। सती नाम में सत् (अस्ति) एवं ई (उर्जित रूपेण भाति) इन दोनों की व्यंजना इस प्रसंग में स्मरण करो। यह सती शव होने से (Static, Inoperative, alien) समना रक्षित नहीं होती। 'हौं' की एकान्त केन्द्रीण वृत्ति 'सः' इसकी प्रसारिणी वृत्ति के साहित्य से वंचित हो जाती है; प्रियम् अस्ति-भाति के पक्षपुट को प्राप्त करने में असमर्थ रह जाता है।

'छ' एव 'स' का सामरस्य

'छ' एवं 'स' का सामरस्य वैरस्य में आनेपर तो निसर्ग रक्षा एवं पालन नहीं होगा। 'हौं' में शिवशक्ति है in coalescence. अनुस्वार, तदधिष्ठित

विन्दु द्वारा सबको आत्म निपुटित करने का 'ओंक' । निसर्गरक्षा के लिये मात्र 'स' नहीं विसर्ग भी चाहिये अर्थात् सः । इसका उपाय क्या ? सुदर्शन द्वारा। सती शव रूप से शुद्ध समाधि में संवृता एवं अव्यक्ता हैं। उन्हें स्वरव्यंजनमातृका रूप से विवृता एवं व्यक्ता न कर सकने से ओंकार प्रमुख कोई बीज ही सृष्टि आदि में सम्प्रवृत्त नहीं होता। जैसे स्थूल में Rest energy को Moving energy (Radiation) रूप में न प्राप्त करने पर भौतिक सृष्टि पूर्ण अचल रहती है। 'हौं' निखिल प्रपंच को आत्मसात् करने पर उद्यत है। निसर्ग की विरूप विलोमगति को पुनः अनुलोम में लाने के लिये अंतिमवर्ण 'ह' को प्रथमतः आदिवर्ण में वापस जाना होगा। फलतः 'हौं' हो गया ओम।' (एक वर्ण रसायन को ग्रहण करके) । इस ओकार से अ उ म नाद कला विन्दु, इनकी आज्ञा से लं वं इत्यादि भूतबीज एवं अन्य समस्त बीज आविर्भूत हैं। भूरादि कला उसके स्कन्ध में आहित अवश्य हैं। किन्तु कला यदि स्तब्ध होकर कहे—मैं मातृका वर्ण की कलवी नहीं हूँगी' तब ?' तब छन्दो माता गायत्री ही आविर्भूता नहीं होंगी। नाद 'हौं' आकृति में सब सम्वरण कर लेगा।

यहाँ तक कि सोऽहम्, हंसः भी संभावित नहीं होगा। इस प्रकार शिव के कंधे पर शवसती देखो।



जपसूत्रम्

(पञ्चम खण्ड)

परिशिष्ट

अर्द्धमात्राष्टकम्

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

परब्रह्मण्यमात्रेऽपि परमाव्यक्ततत्वके ।
स्वाद्यकलनमेकोऽहमित्यैकमात्रता परा ॥ १ ॥
विन्दुरूपा पराव्यक्ता लगद्बीजमबीजकम् ।
एकत्र शून्यपूर्णत्वं यथाबीजे महीरुहः ॥ २ ॥
शून्यादृशं धनञ्चाप्युदयविलययोः क्रमः ।
अभिव्यक्त्यै तथा पूर्णांशकलादिसम्भवः ॥ ३ ॥

एकस्माद्दृश्यमानत्वं त्रिभिर्जाङ्गम्यते जगत् ।
यथाङ्कुरादिरूपेण बीजचक्रं पुनः पुनः ॥ ४ ॥
नादव्यक्तिः पराव्यक्तात् कलाव्यक्तिश्च नादतः ।
आवर्त्तते प्रवृत्तौ यन् निवृत्तौ तत् समाप्यते ॥ ५ ॥
पराव्यक्तस्य सेतु द्वे नादादेरूदये लये ।
शून्यद्वारेण पूर्णांशश्चैक ऋध्यति लीयते ॥ ६ ॥
शून्यस्य चोभयो सन्धी सेतुभ्यां दधती सनात् ।
धूर्व्यक्ताव्यक्तचक्रस्यार्द्धमात्रा परमा परा ॥ ७ ॥
ऋद्धार्द्धा च सुमृद्धा सा नित्यापिकल्प्यते स्वस्था ।
सर्वोदयलयस्थाने साहन्यान् (रुन्धीत) मधुकैटभौ ।
परा पाराय शान्तोऽत्र तज्जलानीत्युपास्यताम् ॥ ८ ॥

पराव्यक्त तत्व जो परम ब्रह्म हैं वे अवांगमनसगोचर हैं, अतः उनमें 'एक' 'दो' इत्यादि संख्या, अहं, इदं इत्यादि ग्रहीतृ ग्रहणादि सम्पर्क, कार्यकरण आदि सम्बन्ध ये सब स्वरूप में नहीं रहते । अतः उन्हें कहा जाता है परमाव्यक्त । तब क्या यह सब व्यक्त विश्व क्या अहैतुक आकस्मिक है ? इन सब का मूल कहाँ है ? तभी परम अव्यक्त की (एलाजिकल-एब्सोल्यूट की) एक आद्या स्वकलन शक्ति (आद्या कला) को मानना पड़ता है । इनके कारण पूर्णतः अमात्र परमब्रह्म 'एकोऽहम्' 'एकैवाहम्' रूपेण 'एकमात्र' होकर (अर्थात् एक अहं एवं सर्वबीज होकर) हो जाते हैं परमाव्यक्त से पराव्यक्त ।

यह पराव्यक्त है विन्दुरूप । यह स्वयं लाजिकल नहीं है, तब भी इसके माध्यम से एलाजिकल एब्सोल्यूट हो जाते हैं परफेक्ट लाजिकल । इसका स्वयं का बीज नहीं है; अथच यह है निखिल अभिव्यक्ति का बीज । इसके एकमात्र होने पर भी, इसमें (विन्दु में) शून्य तथा पूर्ण मात्राद्वय एक साथ विद्यमान हैं । जैसे (स्थूल जगत् में) बट के बीज की कणिका में बट महीरुह ! उसे (बीज को) तोड़कर क्या मिला ? बट का कुछ भी नहीं । इस प्रकार से वह शून्य है । किन्तु उससे ही बट का विशाल वृक्ष होता है अतः वह पूर्ण है ।

वहाँ सृष्टि करने के लिये उसमें ब्रह्म ने अनुप्रवेश किया । 'वहाँ' क्या पदार्थ है ? यही विन्दु ब्रह्म होगा । विन्दु ब्रह्म अथवा ब्रह्मविन्दु । ब्रह्म की भगवत्ता जो महामाया है, वे हो गईं विन्दुवासिनी । ब्रह्म के इस प्रकार स्वकलन को यदि परावाक् के लिए कहा जाय कल् या कर, आत्मकलनी शक्ति को 'ई' स्वर से कहा जाये, तब विन्दुब्रह्म नादब्रह्म को अपनी अभिव्यक्ति या वितानरूप करके 'क्लीं' या क्रीं बीज रूप से आकृति परिग्रह करते हैं । क्यों ? एक होकर बहुरूपेण स्वयं को सृष्ट करें इस कामना से । अतः आद्यकला या आद्याकाली बीज ही कामबीज भी है । सृष्टि की

जो हृल्लेखा या मूलयंत्र है, उस दृष्टिकोण से विन्दु तद्रूप (वैसा ही है) रहने पर भी ऋजुवक्रादि रेखा, त्रिकोण वृत्त आदि आकार तथा अक्ष तल आदि संस्था का रूप धारण करता है। आत्मकलन के फलस्वरूप जो आकारित होता है (जैसे त्रिकोण), उसे यदि कला कहें, तब उदय में विन्दु-नाद-कला, विलय में कला-नाद-विन्दु के रूप में स्वयं तारचक्र और उसके उद्भव के कारण निखिल भुवनचक्र (स्थूल-सूक्ष्म) आवर्त्तित होने लगता है। त्रिकोण की स्थिति में विन्दु के अपने वितान में (नाद से) होती है तीन रेखा। उसमें विन्दु तीनकोणिक रूप से स्फुटतः विद्यमान रहता है। फलित त्रिकोण = कला। अब त्रिकोणाकार में उदित या फलित कला को पुनः विन्दु में लाने के लिये क्या करना पड़ता है? उदय के विलोम में त्रिकोण की रेखात्रय (नाद वितान) का संकोचन करते हुये उसे शून्य में पर्यवसित करना पड़ता है। बीज से अंकुरादि, पुनः बीज, इस प्रकार से सर्वत्र भीतर-बाहर दृष्टि परिक्रमा द्वारा समझ लो।

यह जो जंगम्यमान अभिव्यक्त जगत् है, (अणुविराट-स्थूल सूक्ष्म में) इस जगत् में तीन मूल गतिवृत्ति (प्रोसेस पैटर्न) परिलक्षित होती है। सब कुछ में उदय विलय क्रम परिलक्षित होता है और उस क्रम के मूल में दृष्टिगोचर होता है धन एवं ऋण रूपी दिग्द्वन्द्व (अपोजीशन आफ सेन्स एण्ड पोलैरिटी)। यह द्वन्द्व किसको समाश्रय करके है? विन्दु के शून्यत्व को। और सब में अंश, कला, पाद, मात्रा परिलक्षित होती है, यह सब विन्दु के पूर्णत्व का समाश्रय करके स्थित है। अन्त में सब कुछ में देखा जाता है उर्मि आदि आकृति में ऋध्यमानता (प्रोग्रेसन, सीरियालिटी); उसमें है अवम् और चरम काष्ठाभिमुखीन प्रवणता। इसका समाश्रय करके विन्दु का जो एकत्व है। वही। अतः विन्दु का पूर्णत्व, शून्यत्व तथा एकत्व जंगम्यमान विश्व का तीन मूल ऋत या गति रूप प्रशासन एवं निर्वहण करते हैं।

यहाँ 'अ' द्वारा यदि शून्य मात्रा में 'न्यूट्रल पेयन्ट' में धन तथा ऋण में उदय-विलय क्रम (जैसे प्रणव में आदि अ एवं अन्त्य अ) को समझा जाये, एक आधार में ऋध्यमान होने को यदि 'इ' या 'ई' कहा जाये तब दोनों को मिलाकर शक्ति लेख की एक स्वाभाविक स्वरलिपि 'ए' प्राप्त होती है। यह है कला की फलायमान (प्राभिडेंसी) आकृति। इसका प्रकार भेद है 'ओ'। 'ए' में तलवृत्तिता की प्रवणता है। 'ओ' में चूड़ावृत्ति की प्रवणता है। अर्थात् 'ए' तल को पाया जाता है 'ओ' चूड़ा या 'क्रेष्ट' में।

इस बार 'ए' को किसी लम्बगा शक्ति द्वारा इस प्रकार से दीर्घ (अभीद्ध) करो जिससे वह नादविन्दु की पूर्ण काष्ठा में लाया जा सके। प्राप्त हुआ 'ऐं' महाबीज। ओं तथा औं इन दोनों स्वराकृति की इसी प्रकार परीक्षा करो। फलतः विन्दु

ब्रह्म से ही परावाक् के माध्यम से स्वर-व्यंजन आदि मातृका तथा बीजमंत्र आदि का आविर्भाव होता है। पुनश्च, हृल्लेख के माध्यम से निखिल ऋजुवक्रादि लेख्य एवं यन्त्र का उद्भव होने लगता है। मन्त्र यन्त्र के इस प्रकार के आविर्भाव (तायन) का जो ऋतच्छन्दः है, वह है तन्त्र। आविर्भाव कहने पर (विलोम में) तिरोभाव (स्व-स्व बीज में) को भी जानना होगा। यह सब सार्वभूमिक सत्य है केवल मन्त्र-यंत्र आदि की ही गोपनीय कथा नहीं है। तभी कहा गया है—बीज से अंकुरादि क्रम से पुनः बीज का उद्भव होता है। इस प्रकार सृष्टि में बीज चक्र का आवर्त्तन होता रहता है। इससे मुक्ति का उपाय है—बीजचक्र की नाभि हृल्लेखा तथा विन्दु में यत्नपूर्वक समाश्रित हो जाओ।

किन्तु अव्यक्त से व्यक्त (आविः) एवं व्यक्त से अव्यक्त (तिरः या रात्रि) में विशेषतः सेतु रहता है। यह दोनों की अपेक्षा से व्यक्ताव्यक्त है। विन्दु में ब्रह्म की जो एकमात्रा—पूर्णमात्रा या शून्यमात्रा है, सृष्टि में आकर पुनः वापस जाने के लिये वही यह सेतु है। एकमात्रादि रूप विन्दुब्रह्म की उभयतः (आविः एवं तिरः) सेतु रूपा हो जाती हैं अर्द्धमात्रा। विन्दु में जो एक-पूर्ण-शून्य रूपी पराव्यक्त मात्रा है उसे सृष्टि के उदय-विलय, धन-ऋण, अंश-कला में एवं क्रमिकता ऋध्यमानता में प्राप्त करने के लिये वह 'एक' अपने उदय-विलय में सेतुरूप तथा अर्ध हो जाते हैं। इनका समाश्रय किये बिना पराव्यक्त में अथवा परमाव्यक्त में जाना ही नहीं हो सकता।

जैसे प्रणव की 'अ उ म' मात्रा के अन्त में इस अर्द्धमात्रा सेतु की प्राप्ति के बिना नाद-कला-बिन्दु की एकत्रावस्थानरूप परा तृतीय भूमि में जाना तथा उसके अन्त में परमाव्यक्त तुरीयातीत होना सम्भव नहीं होता। षट्कोण यन्त्र को मूल विन्दु से आविर्भूत तथा पुनः उसी में पुनः तिरोभूत करने के लिये इसी अर्ध को पाना होगा। जो विन्दु असीम अणुत्व की पराकाष्ठा (लिमिट आफ इनफिनिट कनसन्ट्रेशन) है, उसे किसी ससीम (फाईनाईट) मान में प्राप्त करने के लिये मध्य में आवश्यक है 'इनफिनिटेसिम्यल'। उच्च गणित के आरंभ में यह अद्भुत मात्रा तत्व है, जो अव्यक्त को 'व्यक्तिमापन्नं' करता है और पुनः एतद्विपरीत भी कर देता है। सूक्ष्म उच्च गणित व्यवहार में v, y, x इत्यादि दुर्गम समस्या युक्त वज्रायुधसमूह भी इसी अर्द्धमात्रा गोष्ठी सम्भवा गर्भ सम्भूत हैं। सान्त ससीम शब्दरूपादि को अनन्त असीम अव्यक्त की कुक्षि से प्रसव कराने में कौन धात्री है एवं उन्हें पुनः अपने स्थान में प्रत्यावर्त्तन कराने वाली कौन समापयित्री है, इसे अच्छी तरह विचार कर अर्द्धमात्रा का ध्यान करो।

पराव्यक्त जो विन्दु है (एक-पूर्ण-शून्य), उससे नादाभिव्यक्ति, नाद से कलाभिव्यक्ति, इस प्रकार से, वागर्थप्रत्यय जगत में जो प्रवृत्ति आवर्त्तित एवं लक्षित होती है, वह निवृत्ति में विलोम में 'समाप्त' (सम्यक् रूपेण विन्दु ब्रह्म में संगृहीत)

होती है। यहां आद्याकला एवं परनाद बिवक्षित नहीं है। ओंकार-गायत्री आदि जप में विशेषतः एवं जागतिक सर्वविध स्थूल सूक्ष्म व्यापार में सामान्यतः यही मूला प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को जान लो।

पराव्यक्त से निखिल अभिव्यक्ति की जो यह प्रवृत्ति-निवृत्ति (आविः एवं तिरः) है उसमें दो सेतु रहते हैं—इस रहस्य को विचार एवं अनुभव में पाने का यत्न करो। क्योंकि यही 'जतन' ही वह साधन है जिससे मिलता है परम रतन। यदि सामान्य अभिव्यक्ति को नाम दो 'नाद' और उस सामान्य के विशेष को यदि 'कला' कहो तब पराव्यक्त रूप विन्दु ब्रह्म से नाद-कला के उदय विलय में यही सेतु द्वय हैं। समस्त उदाहरणों में (जैसे बीज से अंकुर पादप आदि पुनः बीज, जाग्रत से सुषुप्ति उससे पुनः जाग्रत) इन्हीं दोनों सेतुओं का अनुसन्धान करो। सेतु का आश्रय लिये बिना पार उतरना कैसे होगा ? ध्यान से देखो कि विन्दु ब्रह्म का जो शून्यत्व है, उस शून्यत्वरूपी द्वार से ही वह परउदासीन तत्व आता है धन ऋणादि दिङ्भान में। (अपोजीशन एण्ड पोलैरिटी आफ सेन्स)। इस पर संस्था में जो पूर्णत्व है, वह सापेक्षता (फील्ड आफ रिलेटिविटी) में आकर हो जाता है अंश-कला पादादि में विभाज्य। तब एकत्व का क्या होगा ? ऋध्यति लीयते' (प्रोग्रेशन एण्ड पीरिडियासिटी अथबा साईक्लीसिटी)।

अब शून्यपूर्ण का जो स्थल है, उन दोनों की सन्धि सेतुरूपा होकर जो उनका नित्य विधारण करती है और जिसके द्वारा निखिल अभिव्यक्ति के उदय विलय का नियमन होता है, वह है अर्द्धमात्रा। ऊपर से पर में तथा पर से परम में ले जाने वाला सेतु है अर्द्धमात्रा। अतएव अर्द्धमात्रा ही एक साथ है परा एवं परमा। जो कुछ भी हो, प्रसन्ना अर्द्धमात्रा के सेतुद्वय का आश्रय लेकर रजस्तम का विधूत होना आवश्यक है। एवं तत्+ज+ल+अ+निरूपी जो विन्दु ब्रह्म स्थल है, यदि वह शान्त (धूतकल्मष) होकर उदासीन हो सके, तब केवल परा तक ही क्यों, प्रत्युत परम पर्यन्त तुम उपनीत हो सकते हो !

सर्वान्त में अर्द्धमात्रा शब्द में ऋध् धातु की प्राणरसायन रीति से परीक्षा कर लो। जो मूर्धन्य धाम (परम एवं पर) है, उसमें जो स्वकलनी प्रथमा गति है उसे कहो 'ऋ' स्वर। ऋ से ऋच्छति। और 'त' वर्ग का महाप्राण जो चतुर्थ वर्ण 'ध' है, उससे क्या विदित होता है ? किसी निर्दिष्ट तल में (with respect to a given plain) एक कोई ऐसी संस्था (Position-situation) है, जो पूर्वोक्त मूर्धन्यधाम प्रचोदिता गति को उक्त तल सम्बन्ध में (जैसे गायत्री मन्त्र मे धियो योनः) सर्वतिशय तथा साधिष्ठ भाव 'स' आधान' करती तथा 'धारण' करती है। आधान, धारण, धूनन—इन तीनों में 'ध' की ही मुख्य वृत्ति है। आधान एवं

धारण में धन (Positive) तथा धूनन में ऋण (Negative) है। धूनन = एलिमिनेशन। धूमावती का 'धूं' बीज तथा उनके ध्यान प्रसंग में उनके हाथों में सूप रहने का चिन्तन करो। प्रथम दो में ध्यै (धीमहि); धी एवं धुर (धूः) आकृति एवं भाव का चिन्तन करो। धूनन के लिये वही वैदिक अभ्यारोह मन्त्र 'असतो मा' इत्यादि। ऋ एवं ध की मूल वृत्तियों का ध्यान करके अर्द्धमात्रा में प्रपन्न हो जाओ। प्रसंगतः धन तथा ऋण शब्द की भावना करो। उच्चारण में भी इनका वृत्ति वैपरीत्य समझो। द्वितीय में विकीरण वृत्ति (Radiation) का आधिक्य विस्पष्ट है। प्रथम में है संचयन वृत्ति (Massing-storing)।

ऋण को अपवादसूचक नहीं समझना। सविता के 'घृणि' नाम एवं आकृति में ऋ एवं ण रहता है। कृष्ण नाम का स्मरण करो। 'वरेण्यम्' भी इस सम्बन्ध में सविशेष नैकटिक है। पक्षान्तर से 'धीमहि' एवं 'धियो यो नः' धनमुख्य हैं। 'ऋ' तथा 'ण' इन दो वर्णों में इस प्रकार की स्वरादि अर्णसंहति (फोनेटिक कनग्रूयेन्स) रहनी चाहिये जिससे विकिरण में विक्षेप (Scattering Momenta) व्यक्त हो जाये। संकिरण (इन्टरफियरिंग फैक्टर्स) भी निवारित हो जाये। उत्किरण, अवकिरण भी परिहार्य है।

नादो नदेत् परार्धेना परेण कलयेत् कला।
समावर्त्तेत साम्येन व्यावृत्तिर्विषमेण च।
स्वमतीत्य तुरीयत्वं परैति परिमेण च॥

अर्द्धमात्रा में जो अर्द्ध है, उसकी इस प्रकार से पंचधा भावना करो—परार्द्ध द्वारा नाद नादत्व प्राप्त करता है। अपरार्द्ध द्वारा व्यक्त कला समूह फलित होता है। समर्द्धि (साम्येन) द्वारा विन्दु में कलानाद की समावृत्ति साधित होती है। विषमार्द्ध होने से व्यावृत्ति होती है। इन चारों अर्द्ध के अतीत भी एक अर्द्ध है—परमार्द्ध। इसके द्वारा परा भी अपने तुरीय, शान्त आदि पराव्यक्त भावों से अतीत हो कर जो परमाव्यक्त 'पार' है उसे प्राप्त हो जाती है (परैति)। सृष्टि में एवं साधन में स्व च्छन्द विपुल-नाद-वाहिता ही नहीं रहती, यदि अर्द्धमात्रा अपने पराभिमुखीन अर्द्ध द्वारा उसे संभावित न करे। व्यक्त कला (अ उ म आदि) के कलन के लिये उसके साथ अपरार्द्ध भी आवश्यक है। इन दोनों में अर्द्ध के समता में न आने से विन्दुलीनता में जो समावृत्ति हैं, वह घटित नहीं होती। और परम में गति के लिये भी अर्द्धमात्रा को परमार्द्ध अथवा परम में अभिसम्पन्न अर्द्धरूपेण पाना ही होगा।

अर्द्धमात्रा नित्या एवं विकल्पादि रहिता होने पर भी 'स्वया' अर्थात् आत्मशक्ति से स्वयं को ऋद्धा, अर्द्धा तथा समृद्धा रूपी आकृतित्रय में दिखलाती हैं। जैसे प्रणव में अ = अर्द्ध। उ = ऋद्ध। म = समृद्ध होकर पुनः म के परे अर्द्धमात्रा = सेतु

होकर कला को नाद में एवं नाद को विन्दु में ले जा कर परा हो जाती है। षट्कोण यन्त्र में वहले त्रिकोण होकर अर्द्धा। किन्तु पूर्व श्लोक में कथित 'धूर्व्यक्ताव्यक्तचक्रस्य' का स्मरण करो। अर्द्धमात्रा व्यक्ताव्यक्तचक्र की (साईक्लिसिटी आफ पोटैंसी एण्ड लेटेन्सी फंक्शन्स) धू: स्थानीया हैं। देखा गया है कि वाक् चतुष्टयी में अर्द्धमात्रा समस्त वाक् की धूः स्थानीया हो जाती हैं मध्यमा रूप से। ये ही होती हैं कुलकुण्डलिनी सार्द्धत्रिवलया। विन्दु नाद कला की त्रयी में 'समतालिकता' में (होमोपोलारिटी में) स्थिता जो संस्था है, वह है योगनिद्रा। इनका स्तव प्रजापति ब्रह्मा सृष्टि के उपक्रम में करके निरुपद्रव हो जाते हैं। योगनिद्रा का प्रबोध अथवा निखिल धू रूपा अर्द्धमात्रा का समावर्त्तन घटित होता है ऋजु-सुषम एवं विषम भावत्रय रूपेण। ऋक्, समृद्ध एवं अर्द्ध (Fractional आदि) के साथ उक्त तीन का सम्बन्ध है। इनका विस्तृत वर्णन यन्त्र प्रसंग में फिर किया जायेगा। इन तीनों के प्रत्येक भाव में सर्वोदय विलय स्थान में (संधि में) सेतुरूपा अर्द्धमात्रा जाग्रता तथा प्रसन्ना होकर मधुकैटभ दैत्य युगल का हनन करती हैं, अन्यथा किसी भी प्रकार से सृष्टि कर्म का समारंभ निरूपद्रव सुसम्पन्न नहीं हो सकता था। उदय में तमः = मधु। विलय में रजः = कैटभ।

ब्रह्मविन्दारदः पूर्णं नादे पूर्णमिदञ्च तत्।
नाद उदच्यते विन्दोः सकलः केवलोऽपि वा॥
पूर्णता नादमादाय विन्दुरेखावशिष्यते।
उदच्यते तथादायेति सेतु द्वेऽर्द्धमात्रया।
शून्यात् पूर्णं तथा पूर्णाच्छून्यमित्यपि भावय॥
विन्दु मातुर्भुजौ तौ द्वावर्द्धमात्राप्रसारितौ।
प्रेरयितुं स्वतोनादभवाप्तुश्च स्ववक्षसि॥

प्रसिद्ध परम राहस्यिक 'ॐ पूर्णमदः' इत्यादि मन्त्र को ओंकार, गायत्री प्रभृति जप में भावना से प्राप्त करके चरितार्थ हो जाओ।

बिन्दुब्रह्म स्वयं पूर्ण है किन्तु है पराव्यक्त अतएव पूर्णमदः'। और समुदित नाद ब्रह्म है 'पूर्णमिदं'। यह अविर्भूत है, अतः 'इदं' है। पूर्ण विन्दुब्रह्म से नादब्रह्म पूर्ण ही आविर्भूत होते हैं। कला वितान के साथ अथवा केवल ही इसे जप एवं गानादि में विशेषतः समझो। आधार की पूर्णता बनाये रखने के लिये इस प्रकार की आविर्भाव की पूर्णता हुई 'उदच्यते'। पुनः ॐ; गायत्री इत्यादि जप विलय स्थल में नाद के (कला वितान के साथ) पूर्णाविर्भाव को पूर्णरूप से (पूर्णतः) स्वयं में लाकर (आहृत करके) विन्दुब्रह्म नाद-विन्दु-कला रूपी त्रयी मे अभेद-पूर्णता रूपेण पर्यवसित हो जाते हैं (अर्थात् विन्दु ब्रह्म स्वयं में कला के साथ नाद को पूर्णरूप से आत्मसात् करके स्वयं पराव्यक्त पूर्ण रहते हैं। अब 'उदच्यते' (पूर्णा-

विर्भाव) एवं 'आदाय' (पूर्ण तिरोभाव) इन दोनों को अर्द्धमात्रा सेतुद्वय रूपेण रक्खा गया है।

विन्दु ब्रह्म में शून्यपूर्ण का एकावस्थान है। उक्त 'उदच्यते' एवं 'आदाय' रहस्य व्यापार को पूर्ण शून्य के दृष्टिकोण से भी जपध्यान में समझो। पूर्ण-शून्य विन्दु से पूर्णनाद को 'मानो' लेकर विन्दु को 'शून्य' ही कर लिया। पुनः नाद को मिलाकर विन्दु को 'पूर्ण' कर लिया। साथ-साथ इस परम कल्याणी भावना को करो—विन्दु पीठासीन महामाया चतुर्भुज महेश्वरी हैं। वे माता के समान अपनी गोद में तथा आलिंगन में नाद को लेकर मानों कहती हैं—तुम पूर्ण ज्योतिरस के उल्लास-विलास में स्वयं को प्रकाशित करो (जैसे गायत्री में 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो-देवस्य धीमहि)। दोनों 'बाहु' से नाद को प्रकाशन तथा आस्वादन के लिये भेजती हैं। उन्हें पुनः दो और बाहु से अपने वक्ष में खींच लेती हैं। उल्लसित-विलसित के अन्त में स्वलसित। समस्त प्रकाश के चरमावसान में पर एवं परम रूपी अव्यक्त प्रकाश है। विन्दु ब्रह्ममयी मां की दोनों ओर दो भाव से प्रसारित बाहुद्वय की 'अर्द्धमात्रा' भावना करके परम भावरस में निष्णात-धन्य हो जाओ। मा ही हमारी दो बाहु को पकड़कर हमे अपने क्रोड़ से उतार कर हमारे जप का नाद में, कला तथा ज्योतिरस में विस्तार करती हैं। वे ही पुनः अपने क्रोड़ में लेने के लिये अपने अन्य दो बाहु बढ़ा रही हैं। यह है भाव। आत्मसाधन योग में समारंभ (जैसे 'धीमहि' पर्यन्त)। आत्मसमर्पण योग में (जैसे 'धियो योनः प्रचोदयात्' प्रभृति) समापन। प्रथम स्थल में तमः रहने से प्रगति नहीं होगी। द्वितीय में रजः विशेषतः अहंकर्त्ता अभिमान नहीं होना चाहिये। विलय में प्रथमतः स्थूलावाक् तदनन्तर संकल्पी मन का 'पतन' आवश्यक है। तब प्राण ही है अकेला यात्री। अर्द्धमात्रा को सेतु इत्यादि मानकर वह तटस्थ हो रहा है। इस बार मां की दोनों ओर फैली दो-दो बाहुओं को देखकर निश्चिन्त एवं पुलकित हो जाओ। इन बाहु को इस प्रकार से परावाक् रूपिणी महामाया समझो—

मध्यमा वैखरी बाहु पश्यन्तीं नयतः स्वतः।
स्वालयं नयतो बाहु पश्यन्त्या मध्यमा परा॥

मध्यमा को धुः अथवा अक्ष बनाकर परावाक् का पश्यन्ति में आविर्भाव एवं वहाँ से पुनः स्वयं (स्वालयं) में विलय की द्वितीया बृत्ति एवं गति की भावना करो। अनुलोम विलोम में मध्यमा मध्यम गति हो जाती है। प्रथम है पूर्णा पश्यन्ति-मुखीना। द्वितीय है पूर्णा परामुखीना। प्रथम में मध्यमा के साथ नाद का प्रकटी-करण (जो लक्षणा में वैखरी हैं) होता है। दूसरे में मध्यमा नाद में अप्रकटा (जो लक्षणा में परा है) है। यहाँ वैखरी तथा परा शब्द लक्षणा में व्यक्त तथा अव्यक्त भाव से समझो—

जपः चतुःसूत्री

१: जपो यज्ञः ॥

जप ही यज्ञ है ॥

यज्ञानां जपयज्ञोस्मि यज्ञे विश्वजनीनता ।
येति बीजं महावायोर्ज्ञकाराजपतो जनिः ॥
जनिजातिजराव्याजं जक्षितुं जवनो जपः ।
पुनाति पाति पूष्णात्यधियज्ञब्रह्म वै जपः ॥
प्राणोऽर्पणं हवि प्राणः प्राणाग्नौ प्राणनैर्हुतम् ।
प्राणस्य प्राण आग्राह्यः प्राणकर्मसमाधिना ॥

जप लक्षण पूर्व बिवेचित है। वर्तमान में ४ सूत्रों में जपस्वरूप कहा जा रहा है।

श्री भगवान कहते हैं 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि'। इससे विदित होता है कि समस्त यज्ञ में जपयज्ञ श्रेष्ठ है। यज्ञ क्या है ? विश्वजनीन=विश्वजन सृष्टिरक्षादि कल्प में जो साधु है। यज्ञ में यही विश्वजनीनता धर्म है। इसे पलट कर कहा जा सकता है कि जिसमें विश्वजनीनता (विश्व के योगक्षेम, प्रेयः श्रेयः की पोषकता का धर्म) है, वही है यज्ञ।

यज्ञ शब्द के आदि का 'य'=महावायुरूप प्राण का बीज। इस बीज को (प्राण ब्रह्म) जानकर (ज्ञ) जो तज्जप द्वारा 'जनि' अथवा अर्थभावन में समर्थ है, वही है यज्ञ।

प्राण सृष्टि में जात होकर आदि (जनि); मध्य (जाति) एवं अन्त (जरा) रूपी उर्मि आकृति (generic Life Curvature Pattern) का परिग्रह करता है। वह आकृति शुद्ध अथवा सुषम न रहकर व्याजादि में (वैरूप्य प्रभृति में) जाती है। अतः जात प्राण में ये चार 'ज' ग्रन्थि हैं; जनि (मूल), जाति (मध्य); जरा (अन्त); एवं व्याज। इन चार प्राणग्रंथि का निःशेष मोचन करके (जक्षितुं=तक्षणार्थ) जप है 'जवन' अथवा महासम्वेगवान्। अतः जपयज्ञ से जनिग्रंथि, जाति ग्रंथि, जरा ग्रंथि एवं व्याजग्रंथि का शीघ्र मोचन होता है। जप के आदि अक्षर 'ज' की इस प्रकार से 'ज' चतुष्टय पाटन सामर्थ्य भावना करो। और 'प' ? पुनाति; पुष्णाति; तथा पाति, तीन परम कर्म का द्योतक। मूल को शुद्ध करता है, मध्य का पोषण करता है और अन्त का पालन-रक्षण करता है। प्राण है उसका मूल-मध्य-अन्त। सर्वतः कल्याण।

इसीलिये यह ब्रह्म का अधियज्ञ स्वरूप है। गीतोक्त अधियज्ञ की पुनः भावना करो। जप ही यज्ञ का अधिकार करता है। अधियज्ञ को विशेष करके प्राणोपयोग में विवेचित किया गया है।

प्राण ही मुख्य अग्नि है। मुख्य प्राण का जो सौरादि रूप चतुर्विध प्राणन् कहा गया है, उस प्राणन् के द्वारा अग्नि में हवन करो। हविः क्या है? वह भी प्राण है=निखिल प्राणसत्ता का निगूढ़ ओजो ब्रह्म। हव्य अथवा अर्पण क्या है? वह भी प्राण=प्राण का प्राणायामादि, वाक्चित्त आदि विविध भाव। अच्छा! यह जो प्राणयज्ञ कर्म का समापन है, इससे क्या मिला? (अग्राह्यः)। मिला 'प्राणस्य प्राण'—जो प्राण के भी प्राण हैं।

जप में विन्दु ब्रह्म=अग्नि। नाद की उदय, वितति, विलय वृत्ति द्वारा हवन। अथवा अर्धमात्रा द्वारा हवन। नाद स्वयं ही हविः है। हव्य=अकारादि कला तथा प्राण-मन की वृत्तियां। जपयज्ञसमाधि=विन्दु विलय एवं परापारीण-विलय। प्राणों का प्राण जो परम अभिन्न ज्योतिरस है वही है परम फल। 'अग्राह्य'=इस प्राणों के प्राण को प्राप्त करने में आग्रह से ही जपयज्ञ करो।

अब यज्ञसूत्र

२. जन्माद्यस्य यतः स यज्ञः ॥

जिससे विश्व का जन्म, स्थिति, लय हो—वह है यज्ञ ॥

जन्मजातिजराधर्म्मजगदूर्मिविचारणा।
यद वै निगमयेत्तत्त्वं तज्जलानीति च श्रुतेः।
स्थितं तस्यैव यज्ञत्वं प्राण-प्राणनमौलिकम् ॥
यज्ञेनातन्यते यज्ञोऽधियज्ञो यज्ञभृत् पुमान्।
यज्ञो जपो जपो यज्ञो जाप्य-जापकता जगत् ॥
जज्ञ इति जकारस्य मूलमुद्दिश्य यरूपता।
यत इति यकारो यः मूलस्यैव मौलिकः ॥

यह जो जगद्रूप महोर्मि है, इसकी विचारणा में धर्मत्रय उपलब्ध होते हैं, यथा जन्म-जाति-जरा! यह जात होता है, जन्म लेकर क्रमधर्म में एक-एक जाति (गुण-आकृति) प्राप्त करता है। पुनश्च, क्रमधर्म में ही जरा एवं लय को प्राप्त हो जाता है। इस जगत् का वागर्थ प्रत्यय तीन प्रकार का है। यही तत्व का निगमन करता है।

(१) तुम इससे जात हो।
(२) इसमें ही स्थित हो।
(३) इसमें ही लीन हो जाओगे।

इस प्रकार से जो अपने तत्व में निश्चय रूप से इसे युंजान-युक्त करता है; वही है यज्ञ। श्रुति ने 'तज्जलानीति' द्वारा इसी यज्ञ का ही 'शान्त उपासीत' इष्टरूपेण निर्देश दिया है। जप में उदित-वितत नाद को विन्दु विलीन करके शान्त उपासन यज्ञ को करना होता है। इसमें है जप का तत्वयोगत्व।

यदि शक्ति को साधारण संज्ञा दो "प्राण" तब प्राण की (Power) सामान्य गतिवृत्ति (Function) है प्राणन्। यह जो प्राण-प्राणन्रूप विश्वजीवन (Cosmic Life) है, इसका मौलिक (Radical) क्या है ? The Dynanic Root of Cosmic Life ? वही, विश्व जननादि मौलिक में (यतः) जो समर्थ; स्व छन्द भाव से युंजान-युक्त करता है उसे यज्ञ कहते हैं। what links up with the Root of Cosmic Life विश्वमूल में निगमन करता है और मूल भी उसके द्वारा विश्व में आगमन करता है, इस अर्थ में मौलिक ! अतः यज्ञ के अभाव में विश्व अपने मौलिक आगम-निगम को खो बैठता है। यह खो न जाये, इसीलिये आदि पुमान् ने यज्ञभृत् अधियज्ञ रूप को ग्रहण किया है। विश्व में, व्यष्टि में तथा समष्टि में, अन्तः बहिः सर्वत्र !

यज्ञ के इस प्राण-प्राणन् यौगिक स्वरूप सम्बन्ध को दिखलाते हुये कहा गया "यज्ञो जपो जपो यज्ञः"। इस द्विधा समीकरण का भाव क्या है ? इस दो प्रकार से जप तथा यज्ञ का समीकरण न कर सकने पर इनकी व्यावृत्ति (Exclusion) भी अंशतः हो सकेगी। किन्तु व्यावृत्ति नहीं रहेगी। जप तथा यज्ञ को समानवृत्तिक रूप में ही देखो। अतः वाह्य याग आदि में तथाः अन्तः याग में भी जपभावना आवश्यक है। पक्षान्तरेण सर्वविध जप भी यज्ञ भावना ही है। वस्तुतः जप में प्राणापान को अनपिहित मौलिक (an unveiled Basic) रूप में ही प्राप्त करना होगा। वाक् में अग्नि को ऐसे ही प्राप्त करना होगा। वाह्य याग आदि में यह प्राणमौलिक (मानो) कथंचित् उत्तरीयावृत् है, और अग्नि भी मानो धूमादिधूसरित है। तथापि प्रथम सूत्र की कारिका के अंतिम श्लोक का पुनः चिन्तन करके यज्ञ के तत्व की धारणा करो 'प्राणोंऽर्पणं" आदि।

यदि जप ही मूल (बीज) समाश्रय में मौलिक प्राणप्राणन् रूपी यज्ञ है, उस स्थिति में जप यज्ञ तथा जगत् का सम्बन्ध क्या है ? यह तो सुना गया है कि जगत् पुरुष यज्ञ है, किन्तु क्या जगत् जपयज्ञ है ? जप में जो प्राणप्राणन् रूपता है, उस प्राणन् की आकृति क्या है ? छन्दः। विन्दु से छन्दसा उदय; छन्दसा विततिं, छन्दसा विलय। यहाँ यह जो मौलिक छन्द है, यह यज्ञ तथा जगत् दोनों का प्रशासन करता है। ज+गद्=जो ज्ञात होता है, वह कहता है (गद्) "मैं व्यक्त हुआ, अब मेरा छन्दः कहाँ है, मेरी आकृति क्या है ?" इसके उत्तर में आदि पुमान् कहते

हैं "अच्छा ! तुम जाप्य-जापक हो जाओ" । अर्थात् जगत् प्राप्त करता है अजपा जप दीक्षा (The Rhythmic Beat of Nature) । जगत् इसी अजपा का जापक हो जाता है । सज्ञान में जप, ऐसे नहीं । 'जापि' जगत् को (व्यक्ताव्यक्तरूपेण) कौन यह अजपा जपवाता है ? हमारा हृत् स्पन्दन । फिर भी जगत् में जो 'कारित' है, उसके 'कारयिता' होने का 'झोंक' दिया गया है । अतः जप कर्म है साधन ।

जगत् जात हो रहा है 'जज्ञे' । यह आदि 'ज' यदि मूल का (यतः) उद्देश्य करे, तब है 'य' । यतः रूप यत् (मूल) सम्बन्ध में है 'मौलिक' । मौलिक = मूल में जो है, मूल से जो है । अतः मौलिक सम्बन्ध में जाकर 'जज्ञे' हो गया 'यज्ञे' । विचार कर देखो इस वर्णान्तर रहस्य को ।

३. ऋतयोनित्वात् ॥

४. सत्यसमन्वयाच्च ॥

अतः जपरूप यज्ञ ऋतम् की योनि है ॥

अतः जपरूप यज्ञ में ही सत्य का समन्वय होता है और सत्य में समावृत्ति साधित होती है ॥

ऋतं सूत्रं जगज्जापेऽक्षसूत्रं यत् प्रजापतेः ।
अणीयस्त्वं क्वचिद्दृष्टं महीयस्त्वं क्वचि पुनः ॥
ऋतेन छन्दसा जप्तः सृष्टियज्ञ महाजपः ।
ऋतेनर्त्तस्य योनित्वमृतं स्वायम्भवं स्मृतम् ॥
द्वन्द्वसम्भावनागर्भा गम्भीरगहना क्षपा ।
आविरावृणुते तस्मादृतञ्चाप्यनृतायते ॥
पारस्परिकतादात्म्यावगुण्ठनात् सं प्रसज्यते ।
ऋतं सत्यमुतासत्यमित्यम्भूता विकल्पना ॥

जगत का जो अजपा जप है, उस जाप में (पूर्व में अनेक बार आलोचित) ऋतम् है सूत्र । यह ऋतम् सूत्र ही प्रजापति का अक्षसूत्र है । यही है द्विजों का यज्ञ सूत्र । यही है जपाक्षमाला सूत्र का प्रतीक । यह कहीं है अणीयः, (माइक्रोस्कोपिक) कहीं है महीयः (Macroscopic) । अर्थात् आणवसूत्र एवं वैराजसूत्र । आणवसूत्र में जो ऋतम् है, विराट में उस ऋतम् को कथंचित् अन्यथा भी देखा जाता है । सूक्ष्म केवल स्थूल का 'बालखिल्य' संस्करण है, ऐसा नहीं कहना चाहिये । ऋतम् की स्थिति से सूक्ष्म में कुछ बदलता सा प्रतीत होता है । जैसे जिस स्थिति से वैखरी जप चलता है, मध्यमा आदि का जप ठीक वैसा नहीं चलता । अर्धमात्रा सेतु सन्धि में ऋतम् की रीति बदल सी जाती है । Nuclear physics कदापि general physics का सूक्ष्म संस्करण नहीं है । रीति तथा आकृति के अदल बदल होने पर भी

ऋतम् का अधिकार है विश्वजागतिक। अतः कहा गया है कि विश्व यज्ञरूप जो आणव—वैराज महारूप है, वह ऋतच्छन्दसा जप ही है।

ऋत् अथवा ऋतच्छन्दः किसी व्यापार में क्रियादि सम्बन्ध में योनि है, यह कहने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि ऋत् के इस प्रकार से योनि (cause) होने की योनि क्या है ? वही है और क्या ? इस प्रकार से अनवस्थ योनिपरम्परा हो जाती है। अतः कहा गया है 'ऋतम् स्वायंम्भवं' वह स्वयं ही अपनी योनि है (cause per se)। ऋतभिन्न अथवा अनृत के द्वारा ऋत का उद्भव नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म ही है "ऋतञ्च सत्यञ्च"। यदि कहो कि 'तपसा' आदिम योनि है, तब यह ठीक है। तथापि ब्रह्म का तपः तो ऋतञ्च-सत्यञ्च गर्भित तपः है। जहाँ ऋतञ्च-सत्यञ्च संपरिष्वक्त तादात्म्य में अवस्थित है, वही है तपः। पहले की विवेचना से इसे मिला लो। Primordial Logical Relatedness still Covered, as it were by a sheath of the Fundamental Alogical.

तपः में एक गभीरगहना दुरवगाहता का भाव है। ऋतञ्च-सत्यञ्च उसकी कुक्षि से जात (Manifested) होता है। इस गभीर गहना आदि जननी को क्षपा कहा गया है। उसे भी इस प्रसंग मे मिला लो। क्षप है द्वन्द्व सम्भावना गर्भा। अर्थात् अहं-इदम् इत्यादि द्वन्द्व व्यक्त हैं, ऐसा नहीं है। व्यक्त होने की संभावबा मात्र ही है क्षपा में। जैसे सुषुप्ति से जागरण के उपक्रम में (जागते समय)। यह है क्षपा का वेधसी रूप। सुषुप्ति में तामसी। यह आश्चर्यमयी तामसी। इससे सुखस्वरूप की अपावृत्ति घटित होती है। यहाँ यह देखो कि यही क्षपा आविः का आवरण करती है। अतः ऋतञ्व-सत्यञ्च के आदिम आवरण को हटाओ। सृष्टि में इसी के द्वारा आवरक परम्परा (System of veliers) संभावित हुई है। पता नहीं कौन सृष्टिधारा के समस्त स्तरों में कहता है "तुम्हारा पूर्ण आविर्भाव नहीं होगा। अंश-कला-पाद-मात्रा में होगा। ऋत-अनृत, सत्य-असत्य, रूपी द्वन्द्वस्थिति भी करूँगा। क्योंकि द्वन्द्व-स्थिति न होने पर सृष्टि में धन-ऋण, अनुलोम-विलोम, पर्व-पर्याय कैसे हो सकेंगे ?"

ऋतम्-सत्यम् का अभिन्न तादात्म्य अद्वय ब्रह्मेक्षणरूपता में निष्ठित है। तपः है इन दोनों का सम्परिष्वक्त तादात्म्य। ब्रह्मकाम में दोनों का अनन्त तादात्म्य है। अभिन्न=अभिन्नसत्ताकत्व। अनन्त=अभिन्न शक्तिकत्व। ब्रह्म संकलन में पारस्परिक तादात्म्य (Identity in co-ordination) और ब्रह्मजायमानता में पारम्परिक तादात्म्य (Mutually fulfilling identity)। इन अंतिम दो स्थान पर (पारस्परिक एवं पारम्परिक) क्षपा अवगुण्ठनी रूपेण वृत्तिमती होती है। फलतः दोनों धाराओं में पतित एवं व्यापारवान किसी केन्द्र (Reactive centre) द्वारा ऋत-अनृत, सत्य-असत्य रूपी विकल्पनायें प्रसज्यमान हो जाती हैं। अतः असत्य-

अनृत से सत्य और ऋत में अभ्यारोहण भी प्रयोज्य हो जाता है। जप भी यज्ञ ही है।

सदिति ब्रह्मनिर्देशोऽबोधवगाह्यमेव तत्।
सत् सत्यत्वमायाति बोधवगाह्यतां प्रति।।

सत् रूपी ब्रह्मनिर्देश बोधगम्य नहीं है। फिर भी है वह निजबोध रूप! वगाह्य—किसी मान में मेयादि सम्बन्ध में योग्यता। सम्बन्ध के पारस्परिक आदि भाव व्यक्त व होने पर भी उसका योग्यता स्थल (the bare possibility of being related) भी 'वगाह्य' में ही है। "अभी भी माप नहीं हुआ है, फिर भी होने ही वाला है" इसमे है वगाह्यता। सम्भावना-वृत्ति भी योग्यतान्तर्गत है। इस स्थिति में मानमेयादि होने की योग्यता से जो बोधवगाह्यता है; सत् स्वरूप ब्रह्म उसका विषय नहीं होता, किन्तु 'सत्य' विषय बन जाता है। बोधवगाह्यता का प्रतियोगित्व होने पर सत्यत्व। अन्यथा सत्। बोध=महद् बुद्धि (कास्मिक रीजन) अथवा (Prefect Logical) का अपना व्यवसाय एवं निश्चय!

'सत्यं ज्ञानमनन्तं' रूपी ब्रह्म लक्षण में से सत्य पद को सत् या सत्तान्वय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। 'य' अथवा लीला कैवल्य शक्ति के अन्वय में सब कुछ नहीं लिया गया है। वर्त्तमान सूत्र में ऋतञ्च-सत्यञ्च मिथुन का जो सत्यम् है, जो लीला कैवल्य शक्त्यान्वय का प्रतियोगी है; उसका ही वर्णन है। क्योंकि यहां अनुबन्ध है जपयज्ञ!

सत्यं युनक्ति वै योऽर्णो तत् सदसदविलक्षणम्।
सच्चिदेकरसानन्त्यं लीलाकैवल्यमृच्छति।।

एक ओर है सत् चित् रस आनन्त्य रूप परब्रह्म। इसी ओर है सृष्टि प्रभृति रूप से ब्रह्म का लीला कैवल्य। स्वत: स्वतन्त्र! क्या इन दोनों के मध्य एक अनिर्वचनीया युक्ति नहीं है? युक्ति का जो योजन है, वह सदसद विलक्षण; शुद्ध निर्विशेष सत् भी नहीं है, और वह पूर्णत: असत् भी नहीं है। सब कुछ होने का (Becoming) का प्रारम्भ भी यही है। यह जो मूल युक्ति योजना है; जिसकी अपनी युक्ति योजना नहीं की जा सकती उमका 'य' (अर्ण:) सत् से युक्त होकर सत् को करता है सत्य। वह सत्य ऋत् के अविनाभाव में है 'लीला कैवल्य मृच्छति'। सत्य के इस 'य' हेतु विशेषत: कहा जाता है :—

लीलाच्छन्द: स्वकीयं सत्तेन सत्यस्य सत्यता।
सम्यगन्वेति यो यज्ञऽ पुराणस्विष्टिकृत् करे:।।

विश्वसृष्टि का याग करने वाले पुराण कवि ने जिस आदिम यज्ञ का समारंभ किया; उस यज्ञ में उनके स्वकीय: लीलाच्छन्द: की अनुवृत्ति हुई है। उनका यह

स्वकीय लीलाच्छन्दः ही है सत्य की सत्यता । जो कोई भी वृत्ति (होना या रहना) उन पुराणस्विष्टिकृत् अबाध क्रान्तदर्शी कवि के अपने छन्द के साथ सम्यक् अन्वय रखती है वही सत्य तथा यथार्थ है । Fully Conformable to the Basic Reason and Rhyme of the Master Epic. उसकी ही वाणी बजती है इस वीणा पर। यह केवल भावुक रसिक की उक्ति नहीं हैं। भावुक का दिया हुआ नाम 'सत्य' ही विज्ञान प्रज्ञान में भी सत्य ही है।

विज्ञान की खोज भी विश्व की हृल्लेखा है (Basic picture), जिसकी वेदी पर यह आद्यनन्त विश्वशक्ति याग ऋतेन छन्दसा चलता रहता है। यही तो विज्ञान की खोज का विषय है कि इस मौलिक हृल्लेखा के समन्वय में शक्ति, छन्दः आकृति किस प्रकार से आ जाते हैं ? प्रज्ञान भी तो यही खोज रहा है। फिर भी विज्ञान की यवनिका को हटाते-हटाते उसे चलना पड़ता है। उसका मन्त्र हैं "धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि'। यवनिका हटाये बिना यह 'निरस्तकुहकं परं सत्यम्' ध्यानगोचर ही नहीं रहता। इसके अगोचर रह जाने पर वह सत्य 'शुद्धं अमलं विशोकं अमृतं' भी नहीं हो सकता।

सत्य की सत्यता के प्रसंग में जो 'स्वकीय' शब्द है, उसे अच्छी तरह से समझ लो।

परमा प्रकृतिः स्वा च ह्यपरापरयोः परा ।
ॐ मित्येकं विनिर्दिष्टं क्लीमादिभिः सलीलता ॥

सृष्टि प्रत्यय के सम्बन्ध में ही प्रकृति का प्रसंग है। अतः सृष्ट्यादि प्रत्यय को छोड़ देने पर प्रकृति तो अनवकाशा हो जाती है। यदि शुद्ध-निर्विशेष सत् या चित् को प्रकृति कहें, तब वह है स्वरूप। अन्यथा प्रकृति है प्रत्यय प्रतियोगिनी। भगवत्ता किंवा महामाया में प्रकृति की योजना हो सकती है। शुद्धा-परिपूर्णा भगवत्ता ही है परमाप्रकृति। यही है सत्य परिसीमा। भगवत्ता की परमाप्रकृति के लीला कैवल्योन्मुखी हो जानें पर वह 'स्वा' अथवा 'निजा' आख्या युक्त हो जाती है। 'स्वा' प्रकृति से ही सत्यम् एवं ऋतम् की धारा अविनाभावेन प्रवृत्त होती है। लीला कैवल्योन्मुखता = प्राण। प्राण = वायु = 'य'। यही 'य' सत्यम् में अनुप्रवेश करता है।

तदनन्तर 'सत्यम्' पराप्रकृति की तृतीय अवतरणिका (Third descent) का परिग्रह करता है। भगवत्ता की स्वा प्रकृति लीला वैचित्र्य विलास में आती है। वह वैचित्र्य अवच्छेद-परिच्छेद, संकोच-विस्तार भी घटित करता है। अतः उस वैचित्र्य प्रवाह में अपरा एवं परा भी प्रसज्यमान है। इन दोनो मे मध्यस्था जैसा एक रूप है अपरापरा। अपरा तथा अपरापरा, इन दोनों का मूल तथा आदर्श है परा।

अर्थात् परा का आवरण तथा क्षोभ है अपरा एवं अपरापरा। समस्त व्यवहार क्षेत्र में सत्यम् का इसी पराप्रकृति रूप में अन्वेषण एवं आविष्कार करना होगा। The Basic Type; standard, Norm, Principle. यद्यपि परमा तथा 'स्वा' प्रकृति और उसमें निष्ठ सत्यम व्यवहार में 'प्रोत' है तथापि उससे उर्ध्व भी है !

यदि व्यवहार को प्रज्ञान-विज्ञान तथा लोक रूपी पर्वत्रय में लिया जाये तब सत्य भी भूमित्रय में तीन प्रकार का हो जाता है।

(१) पर या वर सत्य,

(२) परापर सत्य;

(३) अवर सत्य

२ तथा ३ में सत्यम्-ऋतम् का अविनाभाव नहीं रहता। तब भी विज्ञान इन दोनों के अव्यवस्थान का निराकरण करने में लगा हैं। इसमें बाधाये हैं, यह कार्य इतना सहज नहीं है। सभी क्षेत्रों में ऋतम्-सत्यम् की अव्यवस्थान निराकरणी जो ज्ञानवृत्ति है, उसे कहते हैं प्रमा। It is a true Cognition of fact, Both as thing or object and as process.

इस प्रकार से जप चतुष्टयी का समापन होता है।

जप में परा सम्बन्धी जो सत्य है, उसके समन्वय में ही समावृत होना चाहिये। परा का स्थल है विन्दु। अतः जप; नाद, तथा कला में विन्दु समावृत्ति तथा समन्वय। परा से परमा में जानें का मुख भी है 'विन्दु। भगवत्ता की 'स्वा' प्रकृति इसी बिन्दु को केन्द्र बनाकर है आदि सेतुरूपा अर्द्धमात्रा।

यहां सत्यम् की जो विवृत्ति प्रदर्शित है, वह है विशेषतः जपयज्ञ हेतु। प्रथम खण्ड में अभ्यारोह रूप जपाख्यान में सत्यत्व सूत्रित एवं विवेचित है। सप्तम व्याहृति जो सत्यम् है, उसके वर्णन में भी इसका समावेश है। यहां सत्यम् का जो परिचय दिया गया, उसके साथ पूर्ववर्णित प्रसंग भी स्मरण करो।

नादविन्दु के सन्धान से विरहित जो साधारण जप है, वह जप है अवरसत्य। कला के अन्वय एवं आधार रूप में नाद सन्धान में वह है परापर जप। अर्धमात्रा के साथ विन्दु के सन्धान में परसत्य जप। ऐसा जप अमोध सत्य होता है। परावारीणता में परमसत्य जप। परमसत्य की शुद्ध सच्चिदेक अधिष्ठान रूपता एवं लीला-कैवल्यरूपता को महामायादि सूत्र में विवेचित किया जा चुका है।

सिन्धौविन्दुदशकम्

समुद्रतट पर ओंकारआदि जपध्यानार्थ उपयोगी

महाम्भोधिः सान्द्रं स्वमुरजरवं मूर्च्छयति य-
मुदात्तं शश्वच्चोदयविलयमेरुद्वयमितम् ।
तरङ्गोच्छ्वासैर्जितमविरतं व्योमपुलकं
जगद्स्वामी वेणुस्वरसमपि तं नः प्रथयतु ॥ १ ॥

ओगो महाम्बुधि !
स्वमुरजमेन्द्रे सान्द्र छन्दघनध्वनि
उदात्त विरामहीन करिछ वादन;
तबू से शाश्वत छन्दोवाणी बारंबार
उदये विलये के न मेरुते मिलाओ,
महाछन्दकलावत् ! साधिया मूर्च्छना !
मूर्च्छनाय महाव्योम पुलकमूर्छित;
से असीम महिमार मूर्च्छना आधारे
ओगो, बल, शुनाबे कि नादविनोदिया
जगन्नाथस्वामीकरे रेणु मोहनिया ! ॥ १ ॥

अरूपं यं क्षौणी शबलनिजरूपं गमयितुं
वगाह्याद्धि धत्ते कनकरुचिरस्वाञ्चलतटम् ।
अवर्णं द्यौर्धत्ते घनगगनदीपद्युतिचयं
यमस्पर्शं वातो नयति चिरदोलं स पुरतः ॥ २ ॥

जे रूपे क्षौणी निज विचित्रवर्णालि
अपरूप रूपराशि संपिवार तवे;
नामि सिन्धुस्नाने, कनकसैकतबेला
छले, पातियाछे उद्वेल अरूप प्रान्ते
तापसीर शेषरूप रागलेश निज
गैरिक अञ्चल ! (हेमसिकता अञ्चल)
अवर्ण जाहाय द्यौ आंके मेघमाला छवि;
रविशशितारा ज्वाले विचित्र दीपालि
अस्पर्श जाहारे, भंगहीन अगाध समाधि
गाढ़ताय
दिये जाय वात वीचिभङ्गे चिरदोल;
से विपुल, से आदि अद्भुत-पुरोभागे ॥ २ ॥

स रूपारूपाविद्वयकलनकृत् सर्वत इह
स्वयं धत्ते सिन्धुर्जनिविलयसन्धि सुशयितः।
स ओङ्कारस्फोटः स्फुटयति गिरां वीचिनिचयं
स वै दारुब्रह्माप्सु निजतनुतत्त्वं गमयति ॥ ३ ॥

रूप अरूपेर, चित्र वर्ण अवर्णेर,
स्पर्श अस्पर्शेर, गाढ़ मौन मुखरेर
जेथाय उद्भव जेथा मिलन, विलय,
सेई सन्धि रहस्येर अगाध सन्धानी
सिन्धु! तुमि सुशयान कालेर कलने।
युग, वर्ष, दिवसयामिनी, सन्धिक्षणे
अतल रहसि मौन ताई कि ओंकार?
से शाश्वत ओंकारे, चिरोद्वल वीचि
भङ्गे, विश्वे दाओ चित्र, भाषा छन्द, सुर!
एई तव मूर्त्त प्रहेलिका चिरन्तनी
आपन तनूते तुमि रूपेर अरूपे।
ढालि जगन्नाथस्वामि हले दारुब्रह्मरूप! ॥ ३ ॥

जगन्नाथोऽरूपोऽपि च निखिलरूपाड्यपरमः
स किं गम्भीरान्तः प्रभवति न वा स्वाकृतिकृतौ।
अवर्णं वर्णं वा सचलमचलं वाऽखिलखिले
अपायायानाभ्यां कृततटलवं ब्रह्मसलिलम् ॥ ४ ॥

परम अरूप तुमि जगन्नाथस्वामी,
तबुओ विश्वेर आवीरूपटि परम,
वेदसूक्ते उदीरित गंभीरान्तः रूप
राखिपुरोभागे, कहिले कि मग्नोच्छ्वासे—
विश्वकर्मा आमि, निज आकृतिकलने
अकृति कुशली! वर्णमाझे अवर्णेर,
सचलेर अचल दिशारि, जाहा खिल,
ताय नित्य अनपाय धामेर सन्धानी;
हे ब्रह्मसलिल! तुमि तटलव छले
अनिरुक्त स्वरूपे तटस्थ अनिले,
सतट सरणि निते अतट परमे: ॥ ४ ॥

महाकालो व्योम ह्यु परि तनुते नीलिमचयं
महाकाली नीचैस्तरलघनराशिं प्रथयति ।
अनन्तं शय्यां सोऽकुरुते सलिले श्यामसवितो
ह्यधूना राधारोधस्यभिसरणगा माधवलुभा ॥ ५ ॥
विप्रतीपा महाकाली उर्द्ध महाव्योम
नीलिम महान्, प्रशान्त भास्वर; ध्रुव
महाकाल ? आर निम्ने महामेघद्रव,
ज्वलधिकूला तड़िज्ज्लदचिकुरा;
महानृत्यकाली ? अनन्तेर शय्या करि,
तुमि कि आवार पातिले शयन, बल,
मूल महास्पन्दघन कारणसलिले ?
कभु कि आवार सेई श्यामला सरित्
आपनारे कालिन्दी कल्पिया, निरालाय
ताहारि पुलिने, प्रेष्ठविरहविधुरा
तुमिई चलिले राधा उतल वल्लभे
अभिसार मिलन व्याकुला ? ॥ ५ ॥

निरुद्वेलः स्वाम्भो रचितनिजबलो वीचिनिचयं
स फेनाम्बुस्फोटं चपलमतिलोलं विकिरति ।
निधत्ते माणिक्यं गहननिजकुक्षौ द्युतिधनं
विकीर्णं बेलायां शबलमुपलं बालललनम् ॥ ६ ॥
नित्य निरुद्वेल स्वीय असीम सत्ताय
केमने रचिबे बल बेला आपनार ?
आर सेई चिरपियासी बेलाय, बल,
हे चिरउदासी ! शान्तिहीन तृप्तिहीन
आकुल उच्छ्वासे, वीचिभंगे भांङ्गि पड़,
अतिलोल, एकान्त चपल, फेन आर
जलबिम्बराशिरूपे छड़ाये आपना !
गहन गभीर कुक्षितले धर तुमि
द्युतिघन अमूल्यरतन; तबु केन
(विश्वंभर) आत्मपूर्ण रत्नेर भाण्डारी ! बेलाभूमे
विकीर्ण उपलखण्डे चयनलोलुप,
मूल्यहीन चित्ररंगिमाय, साजियाछे
भिखारी बालक ! ॥ ६ ॥

खदीपैर्व्योमेमं प्रथमभवदेवो विवरिषुः
सदा धत्ते वार्तैर्हिमकणकरैश्चामरवरम् ।
तरङ्गैः रुद्वेलैः प्रणवपुटसामस्वरमपां
भुवा गन्धोत्सर्गं ह्युदधिजठरेज्यं हुतभुजा ॥ ७ ॥

भुवनेर आदिदेव तुमि महीयान् !
तोमारे वरिवे बले खदीप आरति
नित्यरत अतन्द्रित महाव्योम; हिम
कण सुशीतल चिर चामर वीजने
अनलस तार दिगन्त परम कर;
आप आचमने अभिषेके तरपणे,
हे चिरनिष्णात, चिरतृप्त अभिषिक्त !
सेई मूलवाणी शाश्वत ओंकारनाद—
सामस्वने लहरे लहरे लीलायन !
कत ना निर्झर सरित् तोमा अभिमुखे
बहि हे सविन्नाथ ! हे आपदेवता !
धरित्रीर सुरभित गन्धमालि, करे
तोमा निवेदन ! तव कुक्षिवेदीपरे
अनिर्वाण हुताशन ज्वालि, होमरत
राख कोन शाश्वत ऋत्विके ! ॥ ७ ॥

निषण्णो बेलाया बहुचपलचिन्तां विजहते
धनं गेहं मित्रं जहत जलबिम्बादिविलये ।
यवोङ्कारं नादं शृणुत धुतलाया महिमनि
निजात्मानं तस्मिन् नयत लयसन्धिं खजलयोः ॥ ८ ॥
भित्तिहीन बालुकाय हे श्रान्त पथिक !
त्यज श्रान्ति निषण्ण बेलाय, चित्त हते
नामाईया भावनार भार-बहुलता
भंगुरता मिले गड़ा मैनाकेर गुरु—
भार ! सिन्धुबेलाय निषण्ण निश्चिन्त,
से मैनाकेर भार सिन्धु गरिमाय
कर निमञ्जन ! वित्त, मित्र, देह, गेह
ममत्व बन्धन बन्धुबान्धव बन्धन—
ताहारे प्रशान्त चित्त ! दाओ जलाञ्जलि
जे महाप्रशान्तिमाझे ऐ विचित्र बुद्बुद

वीचिभंगे भांगि पेल निरंजन ! धूत
मिछे आलापन, महामहिमेर वीणे
शोनो समाहित सद्य नादब्रह्म ओम ।
आकाश सलिले ऐ सन्धि सीमानाय,
असीम युगले मौन गाढ़ आलिगने;
लह आपन आत्माय-भाव 'तत्वमसि',
बेला लग्न दृष्टि होक दिगन्त मगन ॥ ८ ॥

महाब्धेर्वक्षस्युर्जितसितरुचित्र्यम्बकहृदि
स्वपादाब्जज्योतिः पटलपरिसीमा किमसिता ।
कदा किं कालिन्दीपुलिन सलिलद्योतनकरी
तरङ्गैरनङ्गेशो घननिबिड़भासं वितनुते ॥ ९ ॥

यदि हे रूपरसिक ! रूपे साथ तव
सिन्धुशीकर अंजने उन्मेषितआँखि;
हेरिबे कि कभु सित समुज्वल रुचि
सिन्धुशिवहृदि, निज पादाम्भोजज्यौति—
पटल परिसीमा, मातृशक्ति असितारे ?
सित वक्षे असिताय सित शान्त चित्त ?
आबार हेरिबे कभु आन आखि भरि
कालिन्दी सलिल नत पुलिन उजला
तरङ्गेर लोल आगिने केलि पर
अनंगनाथे अंगद्युति रसतम;
नवनीरदनिबिड़ ? कालो जले विश्व—
मोहन उजला, ऐ कालोय मजिले कि ? ॥ ९ ॥

उमामेशेभ्यां वै भृणुषुरनिशं सिन्धुरटनं
कलानादौ च विन्दु त्रितयमतिगं तुर्यमपि च ।
जगन्नाथ स्वामीति जय जय सीतेति रमणं
सदा राधेश्यामेति हरहरि ॐ नाम परमम् ॥ १० ॥

यदि हे सुरउदासी ! सुरे साधा कान,
सिन्धूर उदात्त नाद मन्द्रित पराणी
ओई शोनो निरन्तर सिन्धुकण्ठ हते
'उमा उमेश ॐ' राग भैरव आलाप !
येवा आलापने नादविन्दुकलापारे
तुर्यंग वितान ! ध्रुव वाणीर आधारे

'जगन्नाथ स्वामी' 'जय जय सीताराम'
'जय राधेश्याम' 'हर हर हरि ॐ नाम,'
नाद हते तुर्यंगपरमे मुरछिया—
सिन्धु उद्गाने; शोनो उन्मना उदासी ॥ १० ॥

नमस्ते नीलाश्मद्युतिसञ्चयाय
नमस्ते वीचीनां ध्वनिगम्भीराय ।
नमस्ते क्ष्मातेजोऽनिलसंग्रहाय
खमूर्त्तायाऽपां मूर्त्तिमते नमस्ते ॥
हृयमूर्त्तायाऽपां मूर्त्तिमते नमस्ते ॥ ११ ॥

नमो नीलाकान्तद्युति संचयनयन;
नमो उर्मिनादब्रह्म गंभीरामगन;
नमो पृथ्वीतेजवायु सारसन्दोहन;
नमो व्योमरूप अपरूपी सुशयान;
नमो अमूर्त्तरूप नमो अखिलमूर्त्तिमान ॥ ११ ॥

करुणाम्बुधि सन्निधिम्

(गुरुतत्व में श्रीभगवान की संग्रहाख्याधि पंचधारा एकसाथ सम्मिलित)

चञ्चलं में मनो मूढ़ क्वचित्तन्नानवतिष्ठते ।
अयस्कान्तेन हे कान्त ! त्वयाय देव गृह्यते ॥

संगृह्यमाणमेवं मां प्रयिगृह्णासि पुत्रवत् ।
त्वमेव पितरौ बन्धुः सदा सर्वं इति भवेन् मम ॥

विग्रहवानसि वा ध्याने प्रत्यक्षं वा नराकृतिः ।
लोकोत्तरां तनुं दिव्यां विभ्रदीति मतिर्मम (भवतु) ॥
अखण्डमण्डलाकारमित्यादिभि र्नमाम्यहम् ।
मन्यमानो महात्मेति दृष्टिमतिरतिप्रदः ॥
गुरुः साक्षात् परब्रह्म मद्गुरु श्रीजगद्गुरुः ।
इत्यादिषु स्वयं पूर्णावतारः परिगृह्यते ॥
श्रीगुरुः यः स्वरूपेण करुणावरुणालयः ।
चातकार्तिप्रशान्त्यै हि तस्यैव वारिवोदयः ॥

यथा श्रीगुरुकारुण्यसरिन्नाथस्य सन्निधिम् ।
गच्छेन् मनःसरिन्नित्यं बुद्धियोगं तथा कुरु ॥

कोनताय स्थिर नाहि हय
मन मोर चञ्चल एकान्त
लौहे यथा अयकान्त मणि;
आकर्षित हे आमार कान्त ॥
टानिलगे निज अंक पाशे
करे निले आपन सन्तान
पिता माता बन्धु सखा तुमि
सर्व बलि दाओ मोरे ज्ञान ॥
ध्याने किंवा नयन गोचरे;
ऐले तुमि नराकृति धरि ।
ओ विग्रह दिव्य लोकोत्तर—
एई बोध जेन ना पाशरि ॥
'अखण्डमण्डल' आर 'अज्ञान तिमिर'
मन्त्रे तुमि भावदृष्टिदाता ।
'योगी, ज्ञानीगुरु' भागवत
एई बोधे हओ स्थापयिता ॥
गुरु ब्रह्म साक्षात् परम
मम गुरु जगतेर गुरु
मोर नाथ जगतेर गुरु
अवबोध पूर्ण ब्रह्म गुरु ॥
नित्य अवतीर्ण स्वरूपे तोमार;
विश्वजीवे करुणा सागर ।
चातकेर तृषा शान्ति तरे;
समुदित स्नेह जलधर ॥
करुणासागर सन्निधाने
चले जेन मानस तटिनी
पथे कत शैल कत मरू
बाधा अतिक्रमी ॥
द्वन्द्वद्विधाहीन चिरपूर्ण मिलनेर तरे; शुद्धि बुद्धियोग,
दाओ हे वाँछित ! हे शरण ! हे एकान्त स्वामी !

यन्त्रम्

YANTRAM—WHAT IT MEANS ?

YATRAM, in ordinary use, means a mechanism or organ for doing work in an effective, systematised manner with a view to achieving a definite end. Such work, evidently, implies; three things : the End, setting the principle or rule of action; the Means setting the combination and co-ordination of the forces doing the work; and the Method, setting the necessary conditions and practical lines of such action. In scientific analysis, the first gives formula and equation; the second, diagram and design; the third function according to plan, and with respect to given or assigned conditions. Basically speaking, these three are Mantram, Yantram and Tantram respectively. One may call them Rule, Ruler and Ruling; or Principles of Law, Code and Procedure; and so on. With respect to anything that is or becomes, they answer the three root questions : Why is it so ? What makes it so ? and, How is it so ? Obiviously, the three are inter-reiated.

In the word YANTRAM, one shonld seize upon the root Yam [pronounced as यम् (Iyam) and not as Jam], note what that root means and implies, and correlate it with the root principle बीजम् (Vijam) of वायु (Vayu), which is also यम् (Yam). वायु (Vayu) is Cosmic प्राण (Prana) or Elan Vital. It is the cosmic Fund of both potential and kinetic power as a whole, that is, without abstraction and limitation as material, vital or mental. When this Power as whole operates as a system of Control ('Yam'), as a 'Ruler', with respect to a given end or objective, it is यन्त्रम् (Yantram). It is essentially, therefore, a Power disposition and design, not a mere model representation, picture or graph.

It is superficial thinking to look upon the Mystic Yantram as symbolic or pictorial. It is dynamic—शक्ति-लेखा (Shaktilekha).

But in the understanding and appreciation thereof it is more suitable to begin w th the sketch-drawing, graph, and so on. But the initial approach should be such as to open up newer and fuller vistas of complete dynemic import and significance.

The Means यन्त्रम् (Yantram) will signify nothing unless we can show it in the context of the entire movement from beginning to end; unless the picture of the event can be exhibited in its entire dynamic set-up. A boat on the river pulled by two ropes in directions making an angle give no intelligible meaning of its constituent unless we are able to resolve the resultant effect into its constituent parallelogram. This instance is typical. Examine an organism, a crystal, a molecule, an atom. Inspect any planned structure in human or natural schemc. The structural design is laid upon a functional plan; and that, again, upon a dynamic scheme or power-pattern. It is the last that controls—यम् (Yam)—and rules. What is this behind any situation that presents itself, any event that takes place ? That is the be-all and end-all question. And Power, as we have noted, is only abstractedly and segmentally 'physical'.

Nevertheless, it is the analysis of physical science and mathematics that sets the first modle and draws the first sketch suggesting the fuller and more basic pictures. We are in quest of fundamental 'ground plan'—the heart and core-picture of Power. In other words, of हृल्लेखा (Hrillekha).

In this vital quest, it is possible that can catch or miss the 'direct home iine'. Even systematised, scientific pursuit has oftner than not strayed of the right traek and missed the c rrect orientation. It has been said that intelligence is a toolmaking organ. So there has been no lack of tools, instruments, appliances. They serve a variety of ends and purposes. But cf what positive lasting fulfilling and harmonising value have been most of these ? Are they in affiliation to the far-off divine event to which all creation moves ?' Do they even suggest that there may be, all appearance

to the contrary notwithstanding; 'a divine purpose and end' at all inspiring the basic scheme of creation ?

The question cannot, particularly at this critical world juncture, be evaded or postponed. Withont boldly facing this, we cannot quit the fatal quicksands of maladaptation and vicious circle, both subjective and objeetive, in which we have been caught.

Hence Power शक्ति (Shakti) as whole has to be understood and appreciated with its appropriate मन्त्रम् (Mantram), यन्त्रम् (Yantram) and तन्त्रम् (Tantram) in the senses above noted.

We imagine, for instance, that we are now near, if not actually at, the core-picture of at least material being and behaviour. Our equations have, at any rate, a reassuring look of thorough and compact reasonableness. Deceptive is not that look.

But the equations have, in practical application, ominously equivocated and not helpfully equated the basic queries and discrepancies in the appreciation of creation and existence. So, possibly, only a side-door to an antechamber of what Reality resides tn has been opened.

यन्त्रम् (Yantram), in its fullest context and co-ordination, must evolve from the First Principles of Creation.

The potency of यन्त्रम् (Yantram) or Power Diagram, in all relevant dimensions, varies in geometrical ratio (so to say) according to the refinement and purity of the power-field composition. Hence what controls the intra-atomic field of energy is enormously more powerful than mechanical, chemical or molecular systems of control.

If by प्राण (Prana) is meant not simply vitality or biological entity, but an all-pervasive cosmic principle of renewing and creative activity, then प्राणिक (Pranik) control ought to be more powerful than atomic. Modern science and modern methods must now essay to make that प्राणिक (Pranik) control available in an

increasingly helpful measure. For, in such availability lies all hope of harmonised, creative progress. The consummation of such progress can be reached only by opening हृल्लेख (Hrillekha) of things by yoga where the Spirit reigns as Perfect Power and perfect Harmony.

Therefore यन्त्रम् (Yantram) must be traced from the Magnum Matrix [Perfect Power positing itself as the Perfect बिन्दु (Bindu)], down to our appreciated planes of Magnitude, Number and Space-time. यन्त्रम् (Yantram) should affiliate all our known and appreciated matrices to the Magum Matrix. And this affiliation necessarily bears the character of a logicomathematical descent.

The drawing on the cover looks, apart from the internal scheme of the interlaced triangle, like a flower in partial bloom, with six symmetrical (say, parabolic) petals joined at the stem axis by two others, one at each side of the axis, which are still 'hidden' and enfolded. The two 'hidden' stem-buds are marked with plus and minus sings.

Basically this means the six-phase functioning that becomes patent (or manifest) in the analysis of any creational entity or event (as pointed out in these Notes); and the two hidden axis buds are or represent, the Mystic अर्धमात्रा (Ardha-matra), on either side of the बिन्दु (Bindu) and its axis of self-projection : they link up, both in the sense of evolution and of involution, what is patent and un-manifest. The entire scheme is supervised by om at the core or हृल्लेखा ओम् (Om) itseif in its 'rise' shows this eight-phase pattern in dynamic creation.

These, for instance, represent the eight-phase pattern : परा-व्यक्त—बिन्दु (Paravyakta—bindu); व्यक्ताव्यक्त—सेतु (Vyaktavyakta-setu), व्यक्त (उदित—नाद—Udita—nada), अ, उ, म, (A, U, M,) व्यक्त (विलय—नाद—Vilaya—nada); व्यक्ताव्यक्त—सेतु (Vyaktavykta—setu).

Ponder also over the relation of this diagram to the famous mystic mantram :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

"This is Full, That is Full : Full evolves from full :
Full taken from Full remains Full."

In this मंत्रम् (Mantram), the two mystic words; viz., उदच्यते (Udacyate) and आदाय (Adaya) (taken out and taken in) stand respectively for positive and negative Stem-buds or अर्ध-मात्रा (Ardha-matra).

SOME SALIENT POINTS

1. Power is Consciousness; in which Power as Matter, Power as Life and Power as Mind are grounded without intrinsic or external limitation. Consciousness is Being, and the Basic Bliss of Being (Sat-Cit-Ananda).

2. It wills to become.

3. For this, It posits itself as Bindu--the Perfect Power-Point. It is, as such, the Perfect Cosmic 'Seed' or 'Origin'.

4. It is the Mystery Point that negotiates between the Alogical Transcendent and the Logical Immanent (the Cosmic as Reason rendered),

5. It is at once One (Eka), Full (Purna) and Nil (Shuuya)

6. From It proceeds a 3-Phase evolution (creation) : Rju (straight), Sushama (symmetrical), and Vishama (apparently eccentric).

7. The three are connected by 'leading link' (Setu), but creation is not in time relation except at, and after, the third Setu 3 aspects are, therefore, called 'emergences'.

8. Number and Magnitude relations (starting with opposition of sense, direction, etc.) evolve from Bindu which is the Magnum Matrix.

9. In all emergences starting with Rjn, a fundamental or basic 'frame-work' is first posited, logically and mathematically.

Thus Bindu posits itself as the original Axis of Homoplanarity with its opposition of sense and direction; 'homo' differentiates itself as 'somo' and 'mono', evolvent Magnitude and Number.

10. The Basic Evolvent of Number relations (e. g. wave frequency, atomic number, chromosome number, etc.) is Mantram; that of Magnitude relations (e. g. wavelenght, all forms and patterns.) is Yantram ; and what correlates the one system of relations (e. g. formulae and equations) with the other is Tantram.

11. The first is fundamentally represented by the trinity —Bindu, Nada, Kala, the second, especially, by rectilinear sama (right) konic, and circular (comic); the third by origin (point), co-ordinates, and process or movement (curvature).

12. The Matrix of Mantram, especially, is Bindu, of Yantram, Kala; of Tantrm, Nada (note the roots Kal and Tan).

13. Mantram as perfect (omnipotent) is O n; Yantram as such (omnipresent) is the Δ and O; Tantram as such (omnivalent) is the positing in fact of the Mystic Ardha. (The mystery 'link' that connects the potential and actual).

14. The above ie Nature's own basic scheme of Being and Becoming.

15. Nature evolves through a system of 'Makes' and 'Brakes'—starting with Bindu as the supreme Make and Brake Principle.

16. At our level, in matter, life and mind, this natural ratio M : B sets the norm of Nature's economy. Examine, for instance, the ratio as rest energy and moving energy in the units of matter.

17. Science, at present; examines and explores this energy segmentally, cross-sectionally and by 'capture's and 'rupture' techniqne The outcome is not reassuring on the whole, so far.

18. That ratio taken as an evolving whole, and in the direct 'home line' with Bindu Brahman is Kundalini. The direct home line from Kundalini to the highest level of Perfect Realization and Fulfilment, is the mystic path of Sushumna--Power's natural line of Ascent and Descent in Creative Evolution. That path therefore is a cosmic principle which is illustrated in and not confined to the human or any other body.

Lam, Oam, and so on--the five Radices of ihe five Cosmic Principles (Tattvas) and five 'Centres' (Cakras) presided over by Om at the higher Sixth 'Directive' (Ajna)--are to be brought into concerted operation along the Sushumna. Oam, Lam, etc. are thus, the Matrices of both macrocosmic and microcosmic harmony function patterns in Power's evolution and involution processes. For example, the six Ragas of Indian Classical music evolve out of them. The Raga Dipaka, for instance, evolves from Om Ram, Megha from Om Oam.

19. To 'rouse' Kundalini, therefore, is to get into that 'home line' leading to the Mine and Center of Creative Power working in perfect freedom and harmony.

20. And here alone Perfected Power is consorted with Perfect Light and Bliss.

21. So, with this blessed end in view, let all science and all undertaking unite in the sprit of communion and fellowship —as the closing hymn in Rgveda has it--'Samgacchadhvam..... ......etc'.

SOME BASIC CONCEPTS

1. Brahman if Reality as the Alogical Absolute. Alogical means—what is immanent in, but transcends what is logically thinkable and predicable.

2. The same as Power Divine to be and become all, logically thinkable or not, is Bhagavatta (Mahamaya or Maheshwara).

3. Power is Shakti : Its essence Sat (Being), Cit (Consicousness), and Ananda (Basic Bliss of Existence and Becoming)

4. Its Will to be and become is Kala in the fundamental sense.

5. It posits itself, for this end, as the Perfect 'Origin' and also 'End'. This is Bindu.

6. Bindu is Perfect Potency : this as Perfect Patency is Nada.

7. Creative Process relates to and is determined by, these two Perfect Limits. The relating and determining Function is also Kala (in the 'deriving' sense).

8. What results or is produced is Kala aiso (in the 'derived' sense).

9. So Kala is the Evolvent, the Evolving and the Evolute.

10. As the first, Kala is the Whole : as the second, Phase or Aspect : as the third, Partial or Compoenent.

11. What links up and correlates what is 'given', or 'going to be' to its postulate, permise or per-condition is Setu.

12. Brahman manifesting as One, Undivided, Omnipotent 'Measure' (Matra) ss Ekamatra.

13. The Measure as Brahman evolves (with the 'held' of Setu or the Principle of Basic Correlativity) as, and in, different aspects, of which one is Homo (Sarupa), differentiating as Somo (Sama) and (One) : Ownness, Evenness (Uniformity) and Oneness (Unity).

14. Another is : Pada (Range or Sphere), Kala (Gradation), and Kashtha (Limit or Culmination).

15. Still another is Rju (Straight), Sushama (Symmetrical) and Vishama (Eccentric).

16. The Evolvent Principle, both as Matra and as Setu in all these is Ardha-Matra.

17. Ardha-Matra is, also, the Setu of withdrawal (upashama) from the creative ensemble (prapanca),

18. Besides as Aspect, A.M. also operates as 'Function ; hence, Mantram, Yantram and Tantram (see Preface for explanation).

19. *What co-ordinates (i.e- brings to* a common 'point of reference') components and lines (axes) of Power-manifestation is Vyahriti (e.g. a system of co-ordinate axes with reference to a 'origin' in Yantram).

20, This is, basically, threefold : 'This' (Bhnr), 'That' (Svar), and their correlating and interacting not therefore 'void') 'Interval' (Bhuvar, neither 'This' nor 'That').

21. Creation is 'original', being the free manifestation of Ananda (Basic Bliss and Joy); yet it looks like, and is analysable as, a 'pre-established' picture (of harmony and otherwise). It is so in the final emergences to logico mathematical apprecation.

22. In these Desha, Kala, and Dik descend into the realms of cosmic relativity analysis as space-time-direction.

23. The relativity analysis pictures point to a 'basic scheme or, 'heart-throbbing' of things and relations; to Hrillekha and, foundationally, to Bindu.

24. To open up the 'direct home line' to this is Sadhana.

25. There is an unlimisted Reserve Bank Power given in everything evolved, which is Kundalini.

26. The 'direct home line' of Power's ascent and descent between unlimited potentiality and limitless availability is the 'mystic path' Sushumna.

27. The ascending and descending control and co-ordinating Centres- corresponding to different orders of Power planes and dimensions, are the Cakras.

Note that all these are Cosmic Principles illustrated in various fields of experience.

●

स्वप्रकाशित तन्त्रशास्त्र के अन्य ग्रन्थो की सूची

१.	ईशानशिवगुरूदेवपद्धतिः – सं. टी. गणपतिशास्त्रिणः आंग्ल भूमिका सहितः – एन. पी. उण्णी ४ भाग में	१०००.००
२.	तारा–भक्ति–सुधार्णवः – मूल तथा आंग्ल भूमिका सहित आर्थर एवलान, सं. श्री पंचानन शास्त्री	३०.००
३.	योगिनीतंत्रम् – सं. प्रो. विश्वनारायण शास्त्री	१७५.००
४.	कौलावली – मूल तथा आंग्ल भूमिका सहित – आर्थर एवलान	१००.००
५.	ब्रह्म संहिता एवं विष्णुसहस्त्रनाम – शांकर भाष्य मूल तथा आंग्ल भूमिका सहित – आर्थर एवलान	१००.००
६.	शतरत्नसंग्रह – मूल तथा आंग्ल भूमिका सहित – आर्थर एवलान	१००.००
७.	कामाख्यातंत्र – मूल संस्कृत, आंग्ल भूमिका सहित – सं. विश्वनारायणशास्त्री	७५.००
८.	कुलपूजनचन्द्रिका – मूल संस्कृत, आंग्ल भूमिका सहित – बाबूलाल शुक्ला	४०.००
६.	शांभवीतन्त्र – म. म. डॉ. पं. गोपीनाथ कविराज जी भाषा शब्दांकनकार – एस. एन. खण्डेलवाल	६०.००
१०.	निरूतरतन्त्रम् – अनुवादक – एस. एन. खण्डेलवाल	५०.००
११.	जपसूत्रम् – स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती विरचितम अनुवादक – एस. एन. खण्डेलवाल, १ से ६ भाग	प्रत्येक भाग १००.००

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

पोस्ट बॉक्स नं. ११०८,
कचौड़ी गली, वाराण्सी.
उ.प्र. २२१००१

१, यू.बी. जवाहर नगर,
बॅग्लो रोड, दिल्ली – ११०००७